आचार्य पार्श्वदेवकृत

सङ्गीतसमयसार

आचार्य्य बृहस्पति

द्वारा

सशोधित सम्पादित एव अनूदित

प्रकाशक

श्री कुन्दकुन्दभारती, दिल्ली

आद्य मिताक्षर

नाद-निर्वचन—

नाद संगीतशास्त्र का प्राणपुरुष है। यद्यपि नाद को नितान्त सगीत जागतिक ही नही माना जा सकता। क्योकि यह सम्पूर्ण भुवन ही नादाधिष्ठित है। पुद्गल का गुण[1] होने से यह सर्वत्र व्याप्त होता है। तथापि सगीत मे नाद की सविशेष उपयोगिता को स्वीकार किया गया है। यह 'नाद' शब्द सस्कृत-व्याकरण के 'नद्' धातु से निष्पन्न होता है। इसका मूल अर्थ 'अव्यक्त शब्द' है! अव्यक्त और व्यक्त ध्वनि के दो स्वरूप हैं। वैसे उभययोग से मिश्रित ध्वनि को 'व्यक्ताव्यक्त' कहकर ध्वनि का एक तृतीय भेद और स्वीकार किया जा सकता है। अव्यक्तनाद वह माना गया है जिसमे मानवकण्ठ से उच्चार्यमाण स्वरो और व्यजनों की अभिव्यक्ति नही है, जो ध्वनिमात्र है। इस वर्गणा मे वीणा, वेणु, मृदग, मुरज आदि की अवर्णपरिग्रह ध्वनि का ग्रहण किया जाता है। जब उस ध्वनि मे अ, क, च, ट, त, प—आदि वर्णो का स्पष्ट उच्चारण सन्निविष्ट हो जाता है, तब वह व्यक्तध्वनि कहलाती है। इस नाद के विषय मे विभिन्न विद्वानों, शास्त्रकारो एव विषयविशेष के निरुक्तिकारो ने अनेकधा प्रतिपादन किया है, जैसा कि निम्नलिखित प्रकीर्तना मे विदित होगा।

'प्राकृत, सस्कृत और हिन्दी' कोषकार ने ऊँची दहाड, चिल्लाहट, चीख, गर्जन, सिहनाद[2] मेघध्वनि एव जलप्रपात से उत्पन्न शब्द 'नाद' के

---

१ 'आर्हताना पुद्गलारब्ध ।'—कुमारिलभट्ट ।

—पौद्गलो दिगम्बरैः। पुद्गला परमाणव उच्यन्ते। तदात्मक इत्यर्थ ।

'पूरण गलणाइय गुण सहियइँ। पुग्गलाइँ बहु भेयइँ कहियइँ।

—विबुध श्रीधर, वड्ढमाणचरिउ १०/३६/२०

—पूरण गलन आदिगुणो के कारण पुद्गल को अनेक भेद वाला कहा गया है।

२. 'वाक्सिह नादै'—समन्तभद्र, स्वयभू, ३८

'सुगदसिहनाद'—सिद्धसेन ब०, ३/३६

'ननादसिहनाद'—अश्वघोष, ५/४८

'सिहनाद'—गीता, १/३८

'सिहनाद'—प्रतिष्ठाति०, ६/३

'सिंहरवम'—रत्नाकर, ११२

अर्थ में दिये हैं। वर्षाकाल में सान्द्रघनस्तनित सुनकर 'केका' रव करने वाले मयूर को 'मेघनादानुलासी' घनध्वनि पर नृत्यकारी पक्षी कहा गया है।

वैदिक वाङ्मय में शब्दब्रह्म को 'नद' कहा गया है। वह सृष्टि की सिसृक्षावस्था में अपने मानसकल्प को वाणीरूप प्रदान करता है। अत नद से उत्पन्न वाक् (ध्वनि, नाद) को नाद कहा जाता है। नाद की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए शारदातिलक में कहा गया है कि सत्, चित्, आनन्द विभूतित्रयी से सम्पन्न प्रजापति से सर्वप्रथम शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। वह शक्ति नाद को उत्पन्न करती है और नाद से बिन्दु की उत्पत्ति होती है।[1] जैन साहित्य में नादकला का आकार आधे चन्द्रमा के समान है, वह सफेद रंगवाली है, बिन्दु काले रंग वाला है।[2] महाभारत मे भी स्वयम्भू द्वारा अनादिनिधन, नित्य वाक् की उत्पत्ति का अभिधान किया गया है जिसका आदिरूप वेदात्मक (ज्ञानात्मक) है और जो ससार की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों में ओतप्रोत है।

मनुष्य शरीर में नाभिस्थान को नाभिसरोवर, ब्रह्मग्रन्थि, नाभिहृद आदि अनेक नामो से अभिहित किया गया है। इस नाभिसरोवर में दिव्य कमल उत्पन्न होता है, उस पर ब्रह्मा का आसन परिकल्पित किया गया है। ब्रह्मा का स्वरूप चतुर्मुख है, उनकी प्रजापति संज्ञा है। वही सृष्टि मे सर्व प्रथम छन्दोगायी है। वही श्रुति अथवा श्रुत का उद्गान करते हैं। यह श्रुत शब्दावच्छिन्न है अतएव उत्पन्नध्वसी है, पुद्गलधर्मा है, परन्तु इस भावश्रुत का अर्थ विषयावच्छिन्न है, अनादिनिधन-नित्य है। शतपथ-ब्राह्मण मे एक प्रतीक-कथा है 'त्रय प्राजापत्या पस्पर्धिरे'-देव, मनुष्य और असुर प्रजापति की तीनो सन्तान एक वार प्रजापति से उपदेश-ग्रहणार्थ उनके समीप उपस्थित हुई। उन्होंने प्रजापति से निवेदन किया-कृपया हमे उपदेश प्रदान कीजिए। सानुकम्प परमात्मा ने उपदेश देते हुए उनके प्रति केवल 'द' अक्षर का उच्चारण किया और तूष्णीक हो गये। 'द' अक्षर को सुनकर देवो ने विचार किया—अहो! भगवान् प्रजापति ने हमारे निमित्त सम्यक् उपदेश किया है। हम राजरग, भोगविलास, अप्सराओं के नृत्य आदि मे मग्न रहकर सयमरहित हो गये हैं अत 'द' से

---

१ 'सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात्।
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद् बिंदुसमुद्भव।' —शारदातिलक, १/७

२ 'नादश्चन्द्र समाकारो बिंदुर्नीलसमप्रभ।' —ऋषिमंडलस्तोत्र, १२

भगवान ने हमें 'दमन'-इन्द्रियनिग्रह का उपदेश दिया है। मनुष्यों ने विचार किया कि हम धन के अतिसचय मे लगे रहकर घोरपरिग्रही हो गये हैं एतावता हमें अर्थनियमन, परिग्रह परिमाण रखते हुए 'दान' करना उचित है। असुरो ने सोचा कि हम बहुत क्रूरकर्मा है और प्राय. संहार की रुचि रखते है। प्रजापति भगवान ने हमे 'द' अक्षरद्वारा 'दया' का उपदेश दिया है। इस प्रकार प्रजापति के 'द' अक्षरोपदेश को तीनो ने तीन विभिन्न अर्थों मे ग्रहण किया। नाभि से उत्पन्न, कमलासन पर विराजमान, चतुर्मुख और एक दिव्यध्वनि से सम्पूर्ण जीवो को उनके वाछित उपदेश के प्रवक्ता प्रजापति की यह वैदिक गाथा भगवान् ऋषभदेव की अवधारणा को पुष्ट करती प्रतीत होती है जिनके लिए–'दिव्यध्वनिर्भवति ते विशदार्थ सर्वभाषा' कहा गया है।

सगीतविद्याविशारदो का कथन है कि नाद की उत्पत्ति ब्रह्मग्रन्थि[1] से होती है। भगवान् शकर नादतनु है, नाद के प्रवक्ता है। 'संगीतोपनिषत्सारोद्धार' मे वर्णन है कि 'नाभि में एक कूर्मचक्र है, उसके कन्द पर पद्मिनी है, उसकी नाल मे एक पत्र है, उसमे एक कमल है। उसमे अग्नि-प्राण की स्थिति है, उससे वायु की उत्पत्ति होती है। उस अग्निवायु के सयोग से सिद्धध्वनि उत्पन्न होती है। उस सिद्धध्वनि के योग से नाद की उत्पत्ति होती है।[2] ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर तीनो देव नादात्मा है। इतना ही नही, परब्रह्म, पराशक्ति और ओकार भी नादसभव हैं। इसीलिए विशुद्ध नाद की उपासना पराशक्ति, परब्रह्म, त्रिदेव और ओकार की उपासना है।

---

१. 'ब्रह्मग्रन्थिजमारुतानुगतिना चित्तेन हृत्पकजे
सूरीणामनुरजक श्रुतिपद योऽय स्वय राजते।
यस्माद् ग्रामविभागवर्णरचनालकारजातिक्रमो
वन्दे नादतनु तमुद्धुरजगद्गीत मुदे शकरम्॥' — सगीतरत्नाकर: १/१

२ 'नाभौ यत् कूर्मचक्र स्यात्तस्य कन्दे तु पद्मिनी।
तस्या नाले तु यत् पत्र तस्मिश्च कमल स्थितम्॥
तत्र च ज्वलनो भूतो वायोस्तस्माच्च सभव:।
तत सिद्धध्वनेर्योगादेष नादस्तु जायते॥
नादात्मानस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा:।
पर ब्रह्म पराशक्तिरोकारो नादसंभवा॥'

—संगीतोपनिषत्सारोद्धार. १/२१-२७

नाद के इन व्याख्याकारो का प्रतिपाद्य आशय यह है कि नाद की उपासना ब्रह्म की उपासना है क्योंकि वह तन्मयता उत्पन्न करते हुए आत्मस्थ होने की वृत्ति को लक्ष्य करता है ।

ॐ अथवा ओकार को नादब्रह्म का सर्वोच्च उद्‌गान माना गया है । भारतीय वाङ्‌मय मे यह विलक्षण शब्द है । इसे परमात्मा का वाचक पद माना गया है 'तस्य वाचक प्रणव ' 'ओमित्येकाक्षर ब्रह्म' 'प्रणवश्छन्द-सामहम्' ओ३म् का अर्थ है–जिससे परमात्मा की स्तुति की जाये–'प्रणूयते-स्तूयते परमात्मा येन स प्रणव ' 'अवतीति ओम्'— रक्षा करता है, अत' ओम् सज्ञक (परमात्मा) है । नादानुसन्धान करते-करते अन्त में ओम् नाद की सिद्धि होती है । यह ओंकार बिन्दुसंयुक्त है । बिन्दु सृष्टि का परम रहस्य है । योगी इस बिन्दुसयुक्त ओंकार का नित्यमेव ध्यान करते है । काम और मोक्ष दोनों की प्राप्ति ओकार से सभव है—ऐसा प्राचीन-आचार्यों का अभिमत है ।[1]

ओकार के दिव्यनाद का बलाघात मूल में कुण्डलिनी शक्ति पर और चूल में शीर्षस्थ सहस्रार पर होता है । ऐसा प्रतीत होता है कि यह शब्द कुण्डलिनी का प्रबोध वैतालिक है, उसे प्रबुद्ध करने वाला अतिसक्षम शब्द है । इस मधुरमन्द्र छन्द शीर्ष को सुनकर बोधसाम्राज्य की अधीश्वरी कुडलिनी निद्रा का परित्याग कर देती है । एतावता ओंकार सुषुम्णापथ के अवरोध का दूरयिता है और शिव के साथ शक्ति का, आत्मा के साथ परमात्मा का सम्बन्धस्थापक है ।

---

१ 'ओकार बिदुसयुक्त नित्य ध्यायन्ति योगिन ।
कामदं मोक्षद चैव ओकाराय नमो नम ॥'

'यश्छन्दसामृषभो विश्वरूप । छन्दोभ्योऽध्यमृतात् संबभूव । स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु । अमृतस्य देवधारणो भूयासम् । शरीर मे विचर्षणम् ॥'

—तैत्तिरीयोपनिषद्, शाकरभाष्य० शिक्षाध्याय ४/१

मेधा और श्रीप्राप्ति के लिए परमात्मा की उपासना करनी चाहिए । वह परमात्मा छन्दोवाक् (वेदभाषा) मे ऋषभ और विश्वरूप कहा गया है । ओकार ही वह ऋषभ है, विश्वरूप है । वह वेदो के अमृत अश से उत्पन्न हुआ है । वह इन्द्र (सर्वशक्तिमान ओकार) मुझे मेधा से बलवान् करे । हे देव ! मैं अमृतत्त्व (ब्रह्मज्ञान) का धारक बनूं । मेरा शरीर इसके लिए योग्य बने ।

नाद स्फोटजन्मा है। यौगिक क्रियाओं द्वारा कुण्डलिनी का जब व्युत्थान होता है तब स्फोट होता है। इस स्फोट से नादोत्पत्ति होती है ऐसी भी एक मान्यता है। यह नाद सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। इस मे व्याप्तरूप में वह अनाहतनाद[1] कहा जा सकता है। जिस प्रकार श्वासोच्छवास से परिगृह्यमाण प्राणवायु सर्वत्र व्याप्त है और प्राणी के नासापुटों द्वारा आकर्षित होने पर व्यष्टिरूप में उसे प्राप्त होता है उसी प्रकार समष्टिनाद भी नादानुसंधित्सु को साधन की भूमि पर व्यष्टिरूप मे उपलब्ध होता है। व्यष्टिनाद से ऊपर उठकर साधक उस समष्टिनाद को सुनने का यत्न करते है। उन्हे अनाहतनाद के रूप मे विराट् आत्मसत्ता में गुजायमान इस अपार्थिव नाद को सुनने का सौभाग्य मिलता है। योगियों ने इस अनाहतनाद का अनुभववर्णन करते हुए लिखा है कि यह सर्वप्रथम समुद्रगर्जन, मेघस्तनित, भेरीरव और झर्झर ध्वनि के समान सुनाई देता है। मध्य में मर्दल, शख, घण्टा और काहल से उत्पन्न ध्वनि के समान शब्द की प्रतीति होती है और अन्त में किंकिणी, वंशी, भ्रमर और वीणा के निक्वाण जैसे ध्वनि सुन पड़ती है।[2] इस प्रकार, नानाविध शब्द देह के भीतर सुनायी देते है। इस अनाहतनाद को सुनने में तन्मय हुआ योगी साधक संसार के समस्त पौद्गलिक विषयों से अपने को सहज विमुक्त पाता है।[3] जिस प्रकार पुष्प के मकरन्दरस का पान करने वाला भ्रमर उस पुष्प के गन्ध की अपेक्षा नही करता, अथवा जैसे घास चरती हुई गौ उस यवसमुष्टि को प्रदान करने वाली गोपाली के हाथों में रची हुई मेहदी की ओर दृष्टिपात नही करती अथवा कि आहार ग्रहण करते हुए श्रमण मुनि जिस प्रकार आहारदाता के मणिकंठाभरणो से निरपेक्ष रहते हैं वैसे ही शुद्ध नाद में आसक्त चित्त विषयो की आकाक्षा नही

---

१. 'आदौ जलधिजीमूत भेरी झर्झर सम्भवा।
मध्ये मर्दल शखोत्था घटाकाहलजास्तथा ॥
अन्ते तु किंकिणीवंश वीणा भ्रमरनिःस्वना।
इति नानाविधा. शब्दाः श्रूयन्ते देहमध्यगा ॥'

२. 'अनुपम दरशन ज्ञान सुखामृत अनहत बाजे मृदग'

—भावाष्टक

३. 'मकरन्दं पिबन् भृंगो गन्धं नापेक्षते यथा।
नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्न हि काक्षति ॥'

करता। इस अनाहतनाद[1] को सुनते रहने से अपेक्षित ध्यान में एकाग्रता, निराकुलता और शान्ति का अनुभव होता है। इससे पाप का क्षय होता है क्योंकि पाप की संप्राप्ति (आसव) चचल मन के योग से होती है। वह मन नादासक्त होने पर स्वत स्थिर हो जाता है। हठयोगियों का तो अनुभव है कि उस अवस्था में चित्त निरंजन में लीन हो जाता है।[2] वास्तव में नाद के समान लयकारी, समाधिसहायक अन्य कोई उपाय नही है—'न नादसदृशो लय'।[3]

दार्शनिक कवि कबीर ने ससार-समुद्र में नाद और बिन्दु को नौका बताया है। रामनाम इस नौका का कर्णधार है, पतवारिया है। परमात्मा के गुणों का गान करना ही सार है। गुरु के बताये मार्ग से ही इस भव-समुद्र से पार उतरा जा सकता है।[4] इस प्रकार अनेक रूपकसन्निवेश से नाद को आत्मानुसन्धान में सहायक निरूपित किया है। आत्मानुसन्धान और आत्मतत्व की प्राप्ति ही तो परम उपलब्धि है।

पाणिनीय शिक्षा में नादोत्पत्ति का क्रमनिर्देश करते हुए बताया गया है कि आत्मा बुद्धि से संयोग करता है, मन विवक्षाधीन अर्थों के साथ युक्त होता है। वह व्यापारित मन शरीरस्थित अग्नि पर आघात करता है। अग्नि वायु को प्रेरणा देता है। वह मारुत हृदयप्रदेश में ऊर्ध्व सचरण करता हुआ मन्द्रस्वर (नाद) को जन्म देता है। मारुत से उदीर्ण (ऊर्ध्व-क्षिप्त) वह मन्द्रस्वर मूर्ध प्रदेश में अभिहित होता है और मुखयत्र का अन्तर्वर्ती होकरवर्णों को प्रसूत करता है।[5] नादोत्पत्ति का यह मार्ग नाद को स्फोटरूप

१. अनाहत नाद की आकृति।

२. 'सदा नादानुसन्धानात् क्षीयते पापसचय।
निरजने विलीयेते निश्चित चित्तमारुतौ॥'
—हठयोग प्र० ४/१०४

३. हठयोग० १/४५

४ 'नादबिंदु की नाव री, रामनाम कनिहार।
कहै कबीर गुण गाइले, गुरुगमि उतरौ पार॥'

५. 'आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मन कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥'
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्र जनयति स्वरम्।
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुत:॥
वर्णान् जनयते·········'
—पाणिनीय शिक्षा ६-८

प्रदान करता है, उसकी उच्चारणावस्था एवं श्रुतिलभ्य ध्वनिरूप का निर्वचन करता है। अब यदि इसकी विलोमगति पर विचार करें तो नाद के पीछे चलते हुए आत्मा के समीप ही पहुंच जाएंगे। यथा—यह चिन्तन करें कि कण्ठ, ओष्ठ, मूर्धा, तालु आदि प्रदेशों से उच्चार्यमाण यह अक्षरात्मक ध्वनि कंठ से पूर्व कहाँ अवस्थित थी। उत्तर मिलेगा हृदयप्रदेश में। हृदय से पूर्व मूलाधार स्थित अग्निवायु में, उससे पूर्व मन में, मन से पूर्व बुद्धि में और सर्वत पूर्व आत्मा में। अनुसन्धान की वीथियों में अन्तः, अन्त प्रवेश करता हुआ चेतन अन्त में आत्मा को ही पा लेता है, यही नादोपासना का चरम प्रयोजन है।

एक घट का उदाहरण है—उत्पन्न होने से पूर्व घट के लिए कुम्भकार अपेक्षित है, मिट्टी, जल, चक्र, चीवर, दण्डादि की अपेक्षा है परन्तु जब अग्निपक्व होकर घट निष्पन्न हो जाता है तब जल भरने के समय उसे न कुलाल चाहिए, न मृत, चक्रादि।[१] इसी प्रकार नाद की आरम्भिक साधना में शब्द, गीत, लय, ताल, वाद्य-यत्रादि की अपेक्षा की जाती है, 'सोऽहं' का पाठ घोखना पड़ता है, परन्तु नाद के स्थूल रूप से सूक्ष्म की ओर प्रत्यावर्तन करते-करते शब्दादि का परिधान निष्प्रयोजन हो जाता है। तब यह नाद निर्ग्रन्थ अथवा दिगम्बर, यथाजातरूपधर हो जाता है। शिशिर-ऋतु मे वृक्षों के पत्रों के समान इसके बाह्य उपकरण झर जाते हैं, शब्द-समुच्चय की निर्जरा हो जाती है और शुद्ध नाद 'ओ३म्' शेष रह जाता है। इस अवस्था में सम्पूर्ण परसमयों का अन्त होकर विशुद्ध स्वसमय की प्राप्ति होती है। यहाँ आने पर यह संगीत, यह नादोपासना 'समयसार' का सार्थक विशेषण अर्जित कर पाती है।

ऋग्वेद में एक प्रसिद्ध मंत्र है 'चत्वारिः श्रृगाः' जिसके अनेक अर्थ विद्वानों ने किये हैं। इस—मत्र में वृषभ पर एक रूपक-निरूक्ति का अध्याहार किया गया है। संगोत की दृष्टि से इसका अर्थ कुछ इस प्रकार होगा—इस संगीतरूप वृषभ के चार श्रृंग है (स्वर, गीत, वाद्य और ताल अथवा तत, घन, सुषिर और आनद्ध)। तीन चरण है—(गीत, नृत्य और

१ 'मृत्पिण्डदण्डचक्रादि घटो जन्मन्यपेक्षते।
उदकाहरणे तस्य तदपेक्षा न वर्तते ॥' —आचार्य अकलक, श्लोकवार्तिक २/४८

१. 'चत्वारि शृंगास्त्रो अस्य पादा., द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति, महो देवो मर्त्यान् आविवेश ॥'

—ऋग्वेद ४/५८/३

वाद्य) । दो शिर है- (श्रोत्र, नेत्रमहोत्सवरूप अथवा वाद्यादि उपकरण और गात्रवीणा) । सात हाथ है-- (निषाद, ऋषभ, गान्धार, षड्ज, मध्यम, धैवत, पचम-सप्तस्वर) यह वृषभ तीन प्रकार से बधा हुआ है— (ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत उच्चारण से अथवा मन्द, मध्य, तार स्वरो से) वह शब्द करता है । इस महान् देव ने मर्त्यो मे प्रवेश किया है ।

'धीती वा ये अनयन् वाचो अग्रम्' (अथर्व ७/१/१) —वास्तव में अध्येता वे ही है जो वाणी को अग्रभाग पर्यन्त ले गये हैं । मुखयन्त्र से उच्चरित वाणी को –ध्वनि को जान लेना ही पर्याप्त नही है । आवश्यक यह है कि वाणी का मूल उद्गम कहाँ है । जो व्यक्ति हरद्वार अथवा वाराणसी में प्रवहमान गगा के स्रोत को देखकर ही 'मैंने गगा को जान लिया' ऐसा प्रत्यय रखता है, व उससे अल्पज्ञ है जिसने उसका हिमालय से आविर्भूत प्रथम उद्गम स्थान देखा है । जिस प्रकार पुत्र अपने पिता को जानता है उसी प्रकार स्थूलनादोत्पन्न शब्द भी अपने सूक्ष्म जनयिता को जानकर ही धन्य होता है । ऐसा कोई शब्द, जिसका अर्थ नही, एक निरर्थक वाग्व्यापार ही तो कहा जाएगा । शब्द अपने मूलानुसन्धान मे सफल होकर ही शोभा धारण करता है । नाद का मूलानुसन्धान, प्रयोजन आत्मसवित् है, इसीलिए यह 'समयसार' है, योगिध्येय है ।

जो नाद स्वय सुशोभित होता है, वह स्वर कहलाता है । पद स्वर का अधिकरण है और वह अर्थ का प्रतिपादक है ।[1] और विशुद्ध नाद का आश्चर्यजनक प्रभाव है । स्वर्ग के देवों को यद्यपि द्राक्षारस तथा मोदक मिष्टान्न उपलब्ध नही होते तथापि वे इस नाद के (सगीत के) मधुर आस्वादन से परितृप्त होकर अपने समय का सुखपूर्वक व्यतियापन करते हैं । यह नाद परमपद देने वाला है और इससे परमदेव जिनेश्वर की आराधना की जाती है । ऐसे उत्तमप्रभाव का धारक विशुद्धनाद शुद्धसत्त्व सज्जनो के पवित्र काय में उत्पन्न होता है । इस उत्तम नाद की विजय-हो ।[2]

---

१. 'स्वय यो राजते नाद स्वर स परिकीर्तित ।
पद स्वराधिकरणमर्थस्य प्रतिपादकम् ।।'
—आचार्य पार्श्वदेव, सगीतसमयसार ५/१६-१७

२. संगीतोपनिषत्सारोद्धार २/२

डॉ० श्रीमती हेम भटनागर ने 'शृंगार युग मे संगीत-काव्य' विषय पर अनुसधान करते हुए अपने शोध प्रबन्ध मे निष्कर्ष रूप में जैन राग-मालाओं की चर्चा की है। उनका कथन है कि 'जैन मुनि सगीत का ज्ञान भी अधिक मात्रा में रखते थे. ऐसा उनके ग्रन्थों का अवलोकन करने से विदित होता है। जैन मुनियों मे रागमालाएँ लिखने का बड़ा प्रचार था। कवि अपने किसी तीर्थंकर का यश वर्णन करते समय राग तथा रागनियों में बांधकर काव्य-रचना करता था। जैन कवियों की संगीत-प्रियता असंदिग्ध है। जैन रागमालाओ में हिन्दी रागमालाओ का मूल मानना उचित होगा।'[१] जैन मुनियो ने संस्कृत-कथा-साहित्य के क्षेत्र में भी महान् योगदान किया है। उन्होने धार्मिक सिद्धान्त एवं नैतिक उपदेश कथा के रुचिर माध्यम से प्रस्तुत किये है। विद्वद्वर प० बलदेव उपाध्याय ने लिखा है,[२] कहानी लिखने में जैनियो को शायद ही कोई पराजित कर सके। उनके यहाँ इसका एक विशाल भव्य साहित्य है। पंचतंत्र स्वयं एक विस्मयावह कहानियों का एक सामान्य सग्रहमात्र न होकर साहित्य की दृष्टि से एक नितान्त उपादेय ग्रन्थ है जिसका प्रभाव भारत के ही कथा-साहित्य के ऊपर न पडकर पश्चिमी जगत् के साहित्य पर विशेष रूप से पड़ा है।"[१]

जैनाचार्य पार्श्वदेवकृत यह प्राचीन ग्रन्थ भारतीय सङ्गीतशास्त्र के इतिहास की एक अज्ञात एवं अर्चचित किन्तु महत्त्वपूर्ण कडी है। सङ्गीत समयसार इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन युग में जैन साधुओं को विविध कलाओं का विशिष्ट ज्ञान था और उन्होने इनका मनन, चिन्तन एवं आलोड़न करने के उपरान्त मौलिक विश्लेषण किया है। आचार्य पार्श्वदेव की इस कृति से यह स्पष्ट हो जाता है कि सङ्गीतशास्त्र के गूढ़ एवं सूक्ष्म सिद्धान्तों एवं उनके प्रयोग का रचनाकार को विशिष्ट ज्ञान था, साथ ही उन्हे काव्यशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र का परिज्ञान था। कुन्दकुन्द भारती का यह महत्त्वपूर्ण प्रकाशन सङ्गीत में अभिरुचि रखने वाले कला प्रेमियों के लिए वरदान सिद्ध होगा और इस क्षेत्र में अनुसन्धित्सुओं के लिए अनुसंधान का नवीन मार्गप्रशस्त करेगा।

इस ग्रन्थ के सम्पादन एवं प्रामाणिक अनुवाद में आचार्य बृहस्पति ने अथक परिश्रम किया है। वे संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित एवं सङ्गीत के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। उन्होंने विगत चार-पांच वर्षों में परिश्रम करके इस

१. शृगार युग मे सगीत काव्य, डॉ० हेम भटनागर, पृ० २२-२४

२. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पं० बलदेव उपाध्याय, १९६५, पृ० ८

ग्रन्थ का अवगाहन किया और इसका अनुवाद करते हुए पादटिप्पण में शोधपूर्ण सदर्भ प्रस्तुत किये। आचार्य जी की इस क्षेत्र में महती सेवाएँ हैं। निश्चय ही उन्होंने, आचार्य पार्श्वदेव के गूढ़ भावों को इस ग्रन्थ में बहुत ही स्पष्ट ढग से प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ के परिशिष्ट से भी उनके परिश्रम का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। हमारा उनको शुभाशीर्वाद है, वे इस क्षेत्र मे अपनी मौलिक प्रतिभा से अविस्मरणीय योगदान करते रहे। पं० प्रेमचन्द जैन ने इस ग्रन्थ के मुद्रण एवं प्रूफ संशोधन में बहुत परिश्रम किया है। आकाशवाणी दिल्ली के श्री सतीश जैन ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में बडे उत्साह एव लगन से संयोजना की है। हमारा इन दोनों को शुभाशीर्वाद है। यह ग्रन्थ उपादेय एवं महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा, ऐसा हमारा विश्वास है। श्री कुन्दकुन्द भारती का लक्ष्य प्राचीन महत्त्वपूर्ण किन्तु लुप्तप्राय ग्रन्थो को खोजकर प्रकाशित करना है और इस उद्देश्य की प्राप्ति में यह ग्रन्थ दूसरा सोपान है।

—विद्यानन्द मुनि

भूमिका

योगानन्दमयाः केचिद् भोगानन्दपराः परे ।
वयं सर्वप्रदातारं विद्यानन्दमुपास्महे ।।*

कई वर्ष पूर्व कुछ उत्साही जैन युवकों के माध्यम से प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक को परम श्रद्धास्पद पूज्यपाद उपाध्यायवर्य्य मुनि श्री विद्यानन्द जी की सेवा में उपस्थित होने का अवसर प्राप्त हुआ था। उनका अनुग्रह निरन्तर वृद्धिङ्गत होता गया और मुझे यह निवेदन करने का अवसर मिला कि तेरहवीं शती ई० के एक दिगम्बर जैन आचार्य्य पार्श्वदेव की एक कृति 'सङ्गीतसमयसार' की कुछ प्रतियाँ देश के विभिन्न पुस्तकालयों में सङ्गृहीत है यदि उनके आधार पर इस ग्रन्थ के, यथासम्भव, संशोधित रूप का प्रकाशन, हिन्दी-अनुवाद-सहित, हो जाये, तो अनेक दृष्टियों से उपयोगी होगा।

जैनों के 'ठाणाङ्गमुत्त', 'रायापसेणीय', 'अनुयोगद्वारसुत्त' इत्यादि ग्रंथों में सङ्गीत सम्बन्धी प्रभूत सामग्री उपलब्ध होती है* जैन आचार्य्यों के द्वारा 'सङ्गीतशास्त्र' पर भी स्वतन्त्र ग्रन्थ अवश्य लिखे गये होंगे, तथापि वर्तमान स्थिति में उपलब्ध, जैन आचार्य्यों के द्वारा लिखित सङ्गीतसम्बन्धी लक्षणग्रन्थो में, 'सङ्गीतसमयसार' प्राचीनतम है। 'सङ्गीतरत्नाकर' के अजैन टीकाकार महाराज सिंहभूपाल (१४वीं शती ई०) ने भी 'सङ्गीत समयसार' से अनेक उद्धरण दिये हैं। प्रस्तुत संस्करण पूज्य उपाध्यायपाद की अहैतुकी कृपा का परिणाम है।

---

* अर्थात् —"कुछ लोग योग प्राप्त विभूतियों के पीछे पड़े हैं, तो कुछ लोग भोगों मे मग्न है। हम तो विद्यानन्द (वास्तविक विद्या से प्राप्त होने वाले आनन्द) की उपासना करते हैं, जो समस्त प्राप्तव्य का देने वाला है।

* कृपया देखिये, 'भारतीय सङ्गीत का इतिहास; पृ. १७७-१८८, ले० डॉ० पराजये शरच्चन्द्र-प्रकाशक चौखम्भा-संस्कृत-सीरीज, १९६९ ई.।

आदिपुराण के कर्त्ता आचार्य जिनसेन का सगीतशास्त्र पर भी अधिकार था। परिशिष्ट-२ के अन्तर्गत 'भरतमुनि' से सम्बद्ध टिप्पणी के नीचे 'आदि-पुराण' से उद्धरण दिये गये हैं।

सहृदय पाठकों के सम्मुख हमें यह स्वीकृत करने में कोई सङ्कोच नही है, कि प्रस्तुत सस्करण में अनेक कमियाँ है।* हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता कि इसके प्रकाशन से जहाँ आचार्य्य पार्श्वदेव का समन्वयवादी दृष्टिकोण तत्वदर्शियों के सम्मुख स्पष्ट होगा, वहाँ शोधकर्ताओं को 'सङ्गीत समयसार' का पाठ पर्य्याप्त मात्रा तक शुद्ध रूप में मिलेगा।

---

* प्रस्तुत सस्करण के प्रथम और द्वितीय पृष्ठ पर पाद-टिप्पणी मे हमारी ओर से सस्कृत पद्य मे जो कुछ कहा गया है, उसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है

"जिन्होने अपने कुञ्चित भ्रू-विलास से कामदेव को निश्शेष कर दिया है, वे शकर (कल्याणकर) दिगम्बर रक्षा करे ॥१॥

जिनकी कृपा से क्षणमात्र मे दुर्बोध्य वस्तु सुबोध हो जाती है, वे पवित्र शारदा वात्सल्यपूर्वक मेरा मगल करे ॥२॥

यह बात सुप्रसिद्ध है कि विमलमतियुक्त, साधक, एव शान्तचित्त प्राचीन जैन आचार्यों ने भी सगीत को श्रुतिपदविषय (गुरु-शिष्य-परम्परा के अनुसार शिक्षा का विषय) बनाया था, उनमे से एक, आचार्य्य पार्श्वदेव ने कुछ ऐसे तत्वो की भी व्याख्या की है, जो अन्य आचार्यों के द्वारा अनुक्त है, महात्मा पार्श्वदेव अपने गुणगण के कारण प्रसिद्ध हैं ॥३॥

कीडो के द्वारा खाये हुए अक्षरो के कारण, पाठ की अस्तव्यस्तता के कारण उत्पन्न कठिनता से, बुरे लिपिकर्त्ताओ के प्रमाद के कारण, लोक मे 'सगीत-समयसार' के सम्प्रदाय का उच्छेद होने से, सगीताकर पार्श्वदेव के द्वारा सुरक्षित विज्ञानमणि दुर्लभ हो गई थी, पूज्यपाद मुनि श्री विद्यानन्द जी की कृपा से उस विज्ञानमणि की ओर आकृष्ट यह बृहस्पति प्रसन्नता पूर्वक, आचार्य्य पार्श्वदेव के द्वारा चर्चित आचार्य्यों के ग्रन्थो का आलोडन करके, 'सगीतसमयसार' का सशोधन कर रहा है ॥४-६॥

पुण्यशील व्यक्तियो के सत्सकल्प पूर्ण हो जाते है, तब भी सत्कार्य्य की ओर प्रेरित करने वाला प्रयोजक कर्त्ता वन्दनीय है ॥७॥

भेद मे अभेद का प्रतिपादन करने वाले, विनयमार्ग मे सलग्न, नित्य पुनीत अन्तरात्मा से युक्त, शान्तचित्त, प्रवीण, निष्काम होने पर भी समस्त जनो के उद्धार की कामना करने वाले, उद्यत्प्रताप, जिनका चित्त प्रतिक्षण श्री जिनेन्द्र के चरण कमलो का अवलम्बन कर रहा है, और जो सभी लोगो को प्रसन्नता पूर्वक उपदेश देते है, वे मुनि विद्यानन्द जी मुझे पवित्र करें ॥८॥ वही मुनि श्रेष्ठ आचार्य्य पार्श्वदेव की कृति को शुद्ध देखना चाहते हैं, इसीलिए प्रसन्नता पूर्वक मेरा यह प्रयत्न है ।

मनुष्य किसी सुख की प्राप्ति के लिए ही किसी कार्य्य में प्रवृत्त होता है। गान्धर्व की सिद्धि से भी परात्पर सुख की प्राप्ति होती है। इस 'सुख' या 'आनन्द' के प्रकार और परिमाण पर तनिक विचार अप्रासङ्गिक न होगा।

आनन्द के परिमाण और गान्धर्व के द्वारा भी उसको प्राप्ति

'तैत्तिरीयोपनिषद्', द्वितीयवल्ली, अष्टम अनुवाक के अनुसार "सदाचारी' सत्स्वभाव, सत्कुलोत्पन्न, वेदज्ञ, ब्रह्मचारियों को शिक्षा देने में कुशल, नीरोग, युवा, समर्थ तथा धनसम्पत्तियुक्त पृथ्वी के सम्राट् को प्राप्त होने वाला आनन्द **'मानुष आनन्द'** है। मानुष आनन्द की अपेक्षा सौ गुना आनन्द **मनुष्य गन्धर्वों** (मर्त्यगन्धर्वों) को, उसकी अपेक्षा सौ गुना आनन्द **देवगन्धर्वों** (दिव्य गन्धर्वों) को, उसकी अपेक्षा सौ गुना आनन्द **दिव्यपितरों** को, उसकी अपेक्षा सौ गुना आनन्द **आजानजदेवों** (सृष्टि के आरम्भ में ही उत्पन्न) देवो को, उसकी अपेक्षा सौ गुना आनन्द **कर्मदेवों** को उसकी अपेक्षा सौ गुना आनन्द **देवों** को, उसकी अपेक्षा सौ गुना आनन्द इन्द्र को, उसकी अपेक्षा सौ गुना आनन्द **बृहस्पति** को, उसकी अपेक्षा सौ गुना आनन्द **प्रजापति को** और उसकी अपेक्षा सौ गुना आनन्द **ब्रह्मा** को प्राप्त होता है। वही आनन्द **'श्रोत्रिय'** (सामवेदज्ञ) को प्राप्त होता है, **जो कामनाहीन है।**"

जो मन अथवा इन्द्रिय समूह के द्वारा अप्राप्त है, उस ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला महापुरुष सर्वथा निर्भय होता है।[1]

प्रयत्न के द्वारा अत्यन्त दुष्कर कार्य्य भी सुकर हो जाता है, तब भी यदि दोष रह जायं, तो करुणासागर विज्ञ जनो के द्वारा उनका निराकरण कर दिया जाना उचित है ॥१०॥

जिन्होने कभी कही अध्ययन नही किया, ज्ञानवृद्धों की सेवा नही की, जो शब्दगत शुद्धि, भाषा, अर्थ एव भाव का दूर से ही परित्याग कर देते हैं, वे आज सगीतविद कहलाते है। राग, ताल, स्वर इत्यादि विलाप कर रहे है भगवान् वासुदेव हमारी रक्षा करें ॥११॥

१. "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ॥"
—तैत्तिरीयोपनिषद्, वल्ली २, अनुवाक ९

गान्धर्ववेद 'सामवेद' का उपवेद है। अतः निर्लोभ गान्धर्ववेत्ता को भी वही परमानन्द प्राप्त होता है। आचार्य्य पार्श्वदेव ने भी ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर को नादात्मक कहा है।[१] वाचनाचार्य्य सुधाकलश परब्रह्म, पराशक्ति एवं ओङ्कार को भी नादसम्भव कहते है।[२]

आहत नाद की साधना से अनाहत की प्राप्ति उसी प्रकार हो जाती है, जिस प्रकार मणि की प्रभा से आकृष्ट व्यक्ति मणि को स्वतः प्राप्त कर लेता है, अर्थात् अनाहतनाद यदि मणि है, तो आहतनाद उसकी प्रभा है।[३]

गान्धर्व की इसी महिमा को समझकर जैन आचार्य्य भी सङ्गीत के लक्षण ग्रन्थो की रचना मे प्रवृत हुए।

'गान्धर्व' और 'गन्धर्व' के विषय में कुछ जान लिया जाये।

गान्धर्व और गन्धर्व

गान्धर्व

जो गन्धर्व सम्बन्धी हो, गन्धर्व के द्वारा गाया गया हो अथवा गन्धर्व जिसका अधिष्ठातृदेवता हो, उसे गान्धर्व कहते है, यह गान्धर्व शब्द की व्युत्पत्ति है।[४] ताल के द्वारा सङ्गत तथा अवधानपूर्वक प्रयुक्त पदस्थ

---

१. "नादात्मानस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा ।
स स सार,अध्याय २, श्लोक १८,

२ 'नादात्मानस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा ।
पर ब्रह्म पराशक्तिरोङ्कारा नादसम्भवा ॥"
—सङ्गीतोपनिषत्सारोद्धार, अध्याय १, श्लो २७

३ 'अहोगीतप्रपञ्चादि श्रुत्यादेस्तत्त्वदर्शनात् ।
अपि स्यात् सच्चिदानन्दरूपिण' परमात्मन. ॥
प्राप्ति प्रभाप्रवृत्तस्य मणिलाभो यथा भवेत् ।'
प्रत्यासन्ननयाऽत्यन्तम्—
सगीतरत्नाकर, अध्याय प्रथम, प्रकरण तृतीय, श्लोक प्रथम की टीका मे कल्लिनाथ द्वारा उद्धृत।

४ गन्धर्वस्य इद गन्धर्वेण गीत वा। गन्धर्व+अण्। यद्वा गन्धर्वो अधिष्ठात्री देवता अस्येति। 'शब्द कल्पद्रुम, खण्ड २, पृ. ३२३।

स्वर-सङ्घात को दत्तिल ने गान्धर्व कहा है ।[1]

गन्धर्व और उनके भेद

सङ्गीतवाद्यादिजनित प्रमोद को 'गन्ध' कहते हैं, उस विशिष्ट गन्ध को प्राप्त करने वाला 'गन्धर्व' कहलाता है।[2] सामान्यतया गन्धर्व का अर्थ **देवयोनि स्वर्गगायक है ।**

मर्त्यगन्धर्व और देवगन्धर्व

गानधर्म्मी गन्धर्वों के दो प्रकार मर्त्यगन्धर्व (मनुष्य गन्धर्व) और 'देवगन्धर्व' (दिव्य गन्धर्व) हैं ।[3] जो मनुष्य पुण्यपाक के कारण उसी कल्प में गन्धर्वत्व प्राप्त कर लेता है, वह **मर्त्य गन्धर्व** और जो पूर्वकल्प में किये हुए पुण्यों के कारण अग्रिम कल्प के आरम्भ में ही 'गन्धर्व' होता है, वह **दिव्य गन्धर्व 'या देवगन्धर्व'** कहलाता है ।

देवगन्धर्वों के दो प्रकार हैं, **'मौनेय'** एव **'प्राधेय'** । मुनि नामक दक्ष-कन्या के गर्भ से महर्षि कश्यप के द्वारा उत्पन्न "भीमसेन, उग्रसेन, सुपर्ण, वरुण, गोपति, धृतराष्ट्र, सूर्य्यवर्चा, सत्यवाक्, अर्कपर्ण, अयुत, अभिविश्रुत, **चित्ररथ**, शालिशिर, पर्जन्य, कलि और **'नारद'** सोलह गन्धर्व **'मौनेय'** कहलाते हैं । प्राधा के गर्भ से महर्षि कश्यप के द्वारा उत्पन्न "सिद्ध, पूर्ण, बर्ही, पूर्णायु, ब्रह्मचारी, रतिगुण, सुपर्ण, **विश्वावसु**, भानु और सुचन्द्र" ये दस दिव्य गन्धर्व **'प्राधेय'** कहलाते हैं ।[4]

---

१ 'पदस्थस्वरसङ्घातस्तालेन सगतस्तथा ।
प्रयुक्तश्चावधानेन गान्धर्वमभिधीयते ।।"—दत्तिल, 'शब्दकल्पद्रुम', खण्ड २, पृष्ठ ३२३ पर उद्धृत

२. गन्ध सङ्गीतवाद्यादिजनितप्रमोद अर्व्वति, प्राप्नोति इति गन्धर्व । अर्व्व गतौ + अण् कन्ध्वादित्वात् अलोपे साधु ।

३ "अस्मिन् कल्पे मनुष्य सन् पुण्यपाकविशेषत ।
गन्धर्वत्वं समापन्नो मर्त्यगन्धर्व उच्यते ।।
पूर्वकल्पकृतात् पुण्यात् कल्पदादौ च चेद्भवेत् ।
गन्धर्वत्व तादृशोऽत्र देवगन्धर्व उच्यते ।।"—"शब्दार्थचिन्तामणि

४ देवगन्धर्वा द्विविधा, केचिन्मौनेया केचित्प्राधेया कश्यपपत्न्या दक्षसुताया मुनिनामकायां जाता. मौनेयाः षोडश प्राधेयाश्च प्राधायां तत्पत्न्यां जाता दश इत्येव महाभारतादिपर्वपञ्चषष्टितमाध्याय उक्ता., यथा—
"भीमसेनोग्रसेनौ च सुपर्णो वरुणस्तथा । गोपतिधृतराष्ट्रश्च सूर्यवर्चाश्च सप्तमः ।

'अग्नि-पुराण' में देवयोनी गन्धर्व 'अभ्राज' जङ्गारि, बम्भारि, सूर्य-वर्चा, कृधु, हस्त, सुहस्त, स्वामी, मूर्द्धवान् विश्वावसु और कुशानु' ये ग्यारह बताये गये हैं।[1] जयधर के अनुसार 'हा हा, हू हू, चित्ररथ, हस, विश्वासु, गोमायु, तुम्बुरु और नन्दि इत्यादि गन्धर्व है।[2]

अन्तराभव गन्धर्व

जन्म और मरण के मध्य मे, यातनाशरीर से युक्त गुप्त प्राणी भी 'गन्धर्व' कहलाते है।'[3] इन्हे अन्तर्धानयुक्त होने की शक्ति प्राप्त होती है। सुश्रुत के अनुसार जब किसी जीवित प्राणी पर किसी गन्धर्व का आवेश हो जाता है, तब वह प्रसन्नचित्त, नदी के तट अथवा वनान्त का सेवन करने वाला, स्वतत्राचारी, गीत, गन्ध और पुष्पो का अनुरागी होकर हँसने और

सत्यवागर्क पर्णश्च प्रयुतश्चाभिविश्रुत ।
भीमश्चित्ररथश्चैव विख्यात सर्व-विद् वशी ॥
तथा शालिशिरा राजन् पर्जन्यश्च चतुर्दश ।
कलि पञ्चादशस्तेषा नारदश्चैव षोडश ॥
इत्येते देवगन्धर्वा मौनेया परिकीर्तित । ... . -- ,,
''सिद्ध पूर्णश्च बर्ही च पूर्णायुश्च महायशा ।
ब्रह्मनारी रतिगुण सुपर्णश्चैव सप्तम ॥
विश्वावसुश्चभानुश्च सुचन्द्रोदशमस्तथा ।
इत्येते देवगन्धर्वा प्राधेया परिकीर्तिता ॥''

वाचस्पत्यम्, पृ २५२७-२५२८

१ ''अभ्राजोऽङ्गारिबम्भारी सूर्य्यवर्चास्तथा कृधु ।
हस्त सुहस्त स्वामीव मूर्द्धवाश्च महामना ॥
विश्वावसु कृशानुश्च गन्धर्वैकादशो गण ''

वाचस्पत्यम्, पृ २५२८

२ जटाधरेण तन्नामान्यथोक्तानि यथा—
हाहा हूहूश्चित्ररथो हसो विश्वावसुस्तथा ।
गोमायुस्तुम्बुरुर्नन्दिरेवमाद्याश्च ते स्मृता ॥''

वाचस्पत्यम् पृ २५२८

३ अन्तराभवसत्वस्तु जन्ममरणयोर्मध्यभव यातनाशरीरवान् गुप्तप्राणी वा ।—
वही, पृ २५२७

नाचने लगता है।[1] 'शतपथ ब्राह्मण' में पतञ्जल काप्य की गन्धर्वगृहीता कन्या का उल्लेख है।[2]

श्रीमद्भागवत में नट, नर्तक, सूत, मागध और वन्दीजन साथ-साथ गिनाये गये हैं।[3]

सङ्गीतजीवी मानव-जातियों में भी एक वर्ग स्वयं को 'गन्धर्व' कहता है।

पार्श्वदेव की स्थिति और काल

आचार्य्य पार्श्वदेव दिगम्बर जैन आचार्य्य थे। 'संगीतसमयसार' में अनेक स्थानों पर 'दिगम्बरसूरिणा' कह कर अन्य पुरुष में उन्होंने अपने धर्म्म की ओर सङ्केत किया है। पूर्वाचार्य्यों में उन्होंने भोज, सोमेश्वर और 'प्रतापपृथिवीभुक्' (जगदेकमल्ल) जैसे अजैन आचार्य्यों का सादर उल्लेख ही नही किया, अपितु महाराज जगदेकमल्ल के ग्रन्थ 'सङ्गीत चूडामणि' से पर्य्याप्त सामग्री यथातथ रूप में उद्धृत करली है। महाराज जगदेकमल्ल ने हैदराबाद (दक्षिण) के निकट 'कल्याणी' नामक अपनी आनुवशिक राजधानी में ११३८-ई० से ११४५ ई० तक राज्य किया।

आचार्य्य पार्श्वदेव के द्वारा 'सङ्गीतचूडामणि' की सामग्री का ग्रहण जहाँ एक ओर यह सिद्ध करता है कि वे महाराज जगदेकमल्ल के सङ्गीत-सम्प्रदाय मे निष्ठा रखते थे, वहाँ उनके द्वारा ठाय-प्रकरण में 'मोडामोडि' 'गाणा चे ठाय,' चित्ता चे ठाय,' 'गीता चे ठाय,' 'जोडिय चे ठाय' 'शरीरा चे ठाय' जैसी लोकप्रचलित परिभाषाओं के प्रयोग इस तथ्य की ओर इङ्गित करते है कि वे किसी मराठीभाषी स्थान के रहने वाले थे और 'सङ्गीतसमयसार' की रचना के समय महाराज जगदेकमल्लकृत 'सङ्गीत चूडामणि' सङ्गीत-सम्प्रदाय में प्रतिष्ठित हो चुका था।

---

१. "सुश्रुते दर्शितो यथा "अथातोऽमानुषप्रतिषेधीय व्याख्यास्याम.।" इत्युपक्रमे
हृष्टात्मा पुलिनवनान्तरोपसेवी स्वाचार प्रियगीतगन्धमाल्य ।
नृत्यन् वा प्रहसति चारु चाल्पशब्द गन्धर्वग्रहपरिपीडितो मनुष्य ।"
—वही, पृ. २५२७

२. "ते पतञ्जलस्य काप्यस्य गृहानैम, तस्यासीद्दुहिता गन्धर्वगृहीता।"
वही पृष्ठ २५२७

३ नटनर्तकगन्धर्वा सूतमागधवन्दिन ।
गायन्ति चोत्तमश्लोकचरितान्यद्भुतानि च ।।"
—शब्दकल्पद्रुम, खण्ड २ पृ ३०४

दूसरी ओर चौदहवीं शती में 'संगीत-रत्नाकर' के टीकाकार सिंह भूपाल ने 'सङ्गीत-रत्नाकर' की टीका में 'सङ्गीतसमयसार' और उसके रचयिता पार्श्वदेव का उल्लेख करते हुए 'सङ्गीत-समयसार' के उद्धरण यत्र-तत्र दिये है। यह स्थिति स्पष्ट करती है कि पार्श्वदेव ने कुछ ऐसी बातें भी लिखी हैं, जो शार्ङ्गदेव जैसे महान् आचार्य्य के द्वारा अनुक्त है और सङ्गीत-रत्नाकर के विद्यार्थी को जिनसे परिचित होना चाहिये। सिंहभूपाल पञ्च-देवोपासक थे, जैन नही। अजैन सङ्गीतशास्त्रियों के द्वारा दिगम्बर जैन आचार्य पार्श्वदेव के मत का सादर उल्लेख सङ्गीतसमयसार' और उसके प्रणेता के महत्व का परिचायक है।

अस्तु, उपर्युक्त स्थिति से यह सिद्ध है कि आचार्य्य पार्श्वदेव ने 'सङ्गीतसमयसार' की रचना ईसाकी तेरहवी शती में की।

आचार्य्य पार्श्वदेव ने स्वय को 'नाना राजसभाओं में स्थित रसिकों के द्वारा स्तुत्य'[१] कहा है, जो यह सिद्ध करता है कि ये देशदेशान्तर में घूमे हुए अनुभवी आचार्य्य थे।

इनके द्वारा लिखा हुआ 'वाद निर्णय' नामक अध्याय इस युग के लिए अमूल्य निधि है, क्योंकि इसमें सङ्गीत-सम्बन्धी प्रतियोगिता के नियमों, निर्णायकों की योग्यताओ, वादी एव प्रतिवादी के गुण-दोषो के तारतम्य का जैसा वैज्ञानिक विवेचन है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। आचार्य्य पार्श्वदेव के अनुसार मतङ्ग इत्यादि मनीषियो ने यद्यपि 'वाद' के चार अङ्गों, सभापति, सभ्य, वादी एव प्रतिवादी का वर्णन किया है, परन्तु 'मतङ्ग' का ग्रन्थ खण्डित रूप में ही उपलब्ध है, अत सङ्गीतसमयसार' का नवम अधिकरण (वादनिर्णय) सङ्गीत-वाङ्मय में अनुपम है।

सप्तम अधिकरण मे आचार्य्य पार्श्वदेव ने देशी के कुछ अङ्गो का भी वर्णन किया है, जो पूर्वाचार्य्यों के द्वारा वर्णन का विषय नही बने।[२]

आचार्य्य पार्श्वदेव का गोत्र 'श्रीकण्ठ' था, उनके पिता का नाम 'आदिदेव' और जननी का नाम 'गौरी' था, उनकी उपाधि सङ्गीताकर'

---

१ नानाराजसभान्तरालरसिकस्तुत्य श्रुतिज्ञान स (जि)
चक्रे शो रसभावभेदनिपुण साहित्यविद्यापति।

—भरतकोष-भूमिका, पृ ८

२. "अथ पूर्वैरनुक्तानि देश्यङ्गानि वदाम्यहम्।"

सप्तम अधिकरण, श्लोक, १६५

थी ।[1] आचार्य्य पार्श्वदेव महादेवार्य्य के शिष्य थे और महादेवार्य्य श्रीमान् अभयचन्द्र मुनीन्द्र (सम्भावित काल १२वीं ई०)के चरणसेवक थे ।[2]

आचार्य्य पार्श्वदेव ने महामहेश्वर आचार्य्य अभिनव गुप्त की चर्चा कहीं नहीं की जिनकी 'अभिनवभारती' का भरपूर उपयोग आचार्य्य शार्ङ्गदेव ने 'सङ्गीतरत्नाकर' के नृत्याध्याय मे किया है ।

आचार्य्य पार्श्वदेव ने शार्ङ्गदेवोक्त 'तारावली' इत्यादि प्रबन्ध-भेदों से असहमति प्रकट की है,[3] अत. उनका काल शार्ङ्गदेव के पश्चात् तेरहवीं शती का उत्तरार्ध प्रतीत होता है ।

भारतीय शास्त्रकारों की समन्वयात्मक दृष्टि से सम्पन्न आचार्य्य पार्श्वदेव

भारतीय मनीषी सदैव 'भेद' में 'अभेद' या समन्वय की खोज में रहे हैं और उन्होने अपने-अपने दृष्टिकोण से सर्वत्र समन्वय का सम्पादन किया । महमूद गज़नवी ने जब अपने निरन्तर आक्रमणों से समस्त मन्दिरों के विनाश का आरम्भ किया, तब ग्यारहवी शती ई० के एक वैष्णव कवि हनुमान् ने अपनी कृति महानाटक' में कहा :—

> "शैव लोग 'शिव' कहकर जिसकी उपासना करते है, वेदान्ती जिसकी अर्चना 'ब्रह्म' कह कर करते हैं, बौद्धों के द्वारा जो 'बुद्ध' नाम से उपास्य है, प्रमाणपटु नैयायिक 'कर्ता' कह कर जिसका पूजन करते हैं, जैन-शासन में सलग्न लोग जिसे 'अर्हत्' कहते हैं और जो मीमासको की दृष्टि मे 'कर्म' है, वह त्रैलोक्य-

---

१. श्रीकण्ठान्वयदुग्धवार्धिलहरी सवर्द्धनेन्दो कला
गौरी यज्जनी लसद्गुणगणो यस्यादिदेव पिता ।
—स. स. सा अध्याय १, श्लोक ४, पृ ३

२. इति श्रीमदभयचन्द्रमुनीन्द्रचरणकमलमधुकरायितमस्तकमहादेवार्य्याशिष्य······ सङ्गीताकरनामधेयपार्श्वदेवविरचिते·· ···"
सं. स सा , पुष्पिका, पृ. २२

३. "तारावल्यादय सज्ञा जातीना कैश्चिदीरिता. ।
अङ्गसंख्यावियोगात्तु नैवैता सम्मता मम ।।
सं. स. सा., अध्याय ५, श्लोक २२, २३

नाथ हरि आपके लिए वाञ्छित फल का विधान करे ।"*

इसी 'भारतीयता' ने भारतीय विचारधारा की सनातनता, चिर-नूतनता समयसूचकता और अखण्डता को अत्यन्त विपरीत परिस्थितियों में भी बनाये रखा है सङ्गीत-शास्त्र के क्षेत्र में भी यह समन्वयात्मक दृष्टि रही और 'सङ्गीतसमयसार' के लेखक दिगम्बर जैन आचार्य्य पार्श्वदेव ने 'व्यास, पराशर, भृगु, यम, संवर्त, कात्यायन, आपस्तंब, बृहस्पति, लिखित, हारीत, दक्ष, मनु, विश्वग्रीव, गौतम, शङ्ख, दाक्षायण इत्यादि मनीषियों का सादर स्मरण किया** और कहा – वे शङ्कर गीत के द्वारा प्राप्य है, जो मीमासा इत्यादि छ दर्शनो के द्वारा भी अगम्य है ।***

बात केवल इतनी ही नही, आचार्य्य पार्श्वदेव ने सङ्गीतचूडामणि-कार 'प्रतापचक्रवर्ती' महाराज जगदेकमल्ल जैसे पञ्चदेवोपासक आचार्य्य के अनेक श्लोक उदारतापूर्वक 'सगीतसमयसार' में जैसे के तैसे उद्धृत कर लिये ।[1]

---

* य शैवा समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटव कर्तेति नैयायिका
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरता कर्मेति मीमासका:
सोऽय वो विदधातु वाञ्छितफल त्रैलोक्यनाथो हरि ॥

सुभाषितरत्नभाण्डागारम्, पृ. १५, श्लोक २७,
निर्णयसागर प्रेस द्वितीय सस्करण (१९५२) मे सगृहीत

** पाराशर्य्यपराशरौ भृगुयमौ सवर्तकात्यायना –
वापस्तम्बबृहस्पती सलिखितौ हारीतदक्षौमनु
विश्वग्रीवसगौतमौ मुनिवरश्शङ्खोऽपि दाक्षायण –
सर्वे मोक्षदमित्युशन्ति मुनयो गीत तदेवोक्तित ॥

स स सार, प्रस्तुत सस्करण पृ.

***मीमासाद्यवेदान्तन्यायवैशेषिकैर्मतै ।
षड्भिस्तर्केरगम्योऽपि गम्यो गीतेन शङ्कर ॥ पूर्वोक्त, पृ.

१ महाराज जगदेकमल्ल की राजधानी 'कल्याण' (हैदराबाद, दक्षिण का कल्याणी नामक प्रदेश) थी । इनका राज्य-काल (११३८-११५० ई) है । जगदेकमल्ल के पिता सोमेश्वर (राज्य-काल ११२७-११३४ ई) थे, इनकी रचना 'अभिलषितार्थचिन्तामणि' एक विश्वकोष है, इसके चौथे प्रकरण मे सङ्गीतविषयक एक हजार एक सौ सोलह श्लोक है । महाराज सोमेश्वर ने अपने पिता पश्चिम

आचार्य्य पार्श्वदेव ने रागजननी 'जातियों' को ब्रह्मदेव के मुख से निर्गत एवं सामवेद से समुत्पन्न बताया है।[१] 'जाति' शब्द का निर्वचन करते समय भी आचार्य्य पार्श्वदेव ने बृहद्देशीकार मतङ्ग मुनि के शब्द ज्यों के त्यों दुहरा दिये हैं।[२]

आचार्य्य पार्श्वदेव ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर को नादात्मक कहा है।[३] इस विषय में भी वे मतङ्ग मुनि के अनुवर्ती है।[४] घनवाद्यों में वे झाँझ या मँजीरे की जोड़ी को 'शक्ति' और 'शिव' कहते हैं और उन्हे बिन्दु-नाद-समुद्भव मानकर शैव सम्प्रदाय की ओर अपनी उदार दृष्टि का इङ्गित करते है।[५]

मतङ्ग इत्यादि मनीषियो ने यह माना है कि 'तानों' के यज्ञात्मक विशिष्ट नाम है और 'अग्निष्टोम' नामक 'तान' का गान करने वाले को 'अग्निष्टोम' याग करने का पुण्य मिलता है। आचार्य्य पार्श्वदेव ने भी उदारतापूर्वक इस दृष्टिकोण का उल्लेख किया है।[६]

'सङ्गीतसमयसार' में आचार्य्य पार्श्वदेव ने भरत, मतङ्ग, दत्तिल,

---

चालुक्यचक्रवर्ती 'परमर्दी' महाराज त्रिभुवनमल्ल के यशोगान मे 'विक्रमाङ्काभ्युदय' की रचना की। महाराज त्रिभुवनमल्ल (राज्यकाल १०७६-११२६ ई.) इतिहास मे 'जयसिंह' एवं 'विक्रमाङ्कदेव' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं, ये प्रसिद्ध कश्मीरी कवि बिल्हण के आश्रयदाता थे। बिल्हण की प्रसिद्ध कृति 'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' के नायक महाराज त्रिभुवनमल्ल ही है। सम्पादक

१ "इति ब्रह्ममुखविनिर्गतसामवेदसमुद्भवाष्टादश जातिनामानि।"

स. स. सा, पृ. १६

२ "सकलस्य रागादे · · "एवमत्रापि।" स. स. सा. पृ. १७

३. "नादात्मानस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।" स. स. सा, पृ. २७

४. "नादरूपः स्मृतो ब्रह्मा नादरूपो जनार्दनः।
नादरूपा परा शक्तिर्नादरूपो महेश्वरः॥"

बृहद्देशी त्रिवेन्द्रम्-संस्करण, पृ० ३

५. "सुश्लक्षणौ सुस्वरौ तालौ तज्ज्ञैः शक्तिशिवौ स्मृतौ।
आधाराधेयवशतो बिन्दुनादसमुद्भवौ॥"

स स. सार, पृ. १५४-१५५

६ "एवं यज्ञनामानि वदन्ति······यज्ञतानमिति नाम प्रसिद्धम्।"

स. स. सा., पृ. १७

कोहल, आञ्जनेय, तुम्बुरु, भोज, कश्यप और याष्टिक जैसी सभी अजैन महाविभूतियों के मत को सादर माना है, परन्तु उन्होंने जैन दृष्टिकोण के अनुसार शब्द को 'अनित्य' और 'अव्यापक' कहकर कोहल के मत का प्रचण्ड खण्डन किया है।[१]

दिगम्बर जैन आचार्य्य पार्श्वदेव और उनके परवर्ती श्वेताम्बर जैन आचार्य्य सुधाकलश 'वाचनाचार्य्य'

वाचनाचार्य्य सुधाकलश अपने ग्रन्थ 'सगीतोपनिषत्सारोद्धार' (रचना-काल १३५०) में पश्चिमी भारत और मध्य-प्रदेश के कुछ भागों के सगीत-सम्प्रदाय की चर्चा करते है।[२] वे कहते है :—'मैंने प्रबन्धों की चर्चा विस्तारपूर्वक नही की, क्योकि मेरे युग में न तो प्रबन्धो के कर्त्ता हैं, न उनके गाने वाले।[३] यह शिकायत पार्श्वदेव को नही है।

वाचनाचार्य सुधाकलश कहते है—"मेरे युग मे नर्तक मूर्ख है, विद्वान् साधक नही, बचपन से वे अपनी बोली मे बन्दरो के समान सधाये जाते है।"[४] पार्श्वदेव अपने प्रदेश से इतने निराश नही।

वाचनाचार्य्य सुधाकलश मुसलमानो के सम्पर्क में आये थे, वे कहते हैं :—"ढोल तब्ल, इत्यादि म्लेच्छ-वाद्य है, 'डफा' (दफ याठप) और 'डउँडि (डोडी) जैसे बाजे पैदल चलने वालो के हैं।[५] पार्श्वदेव के द्वारा म्लेच्छ-वाद्यो का वर्णन नही हुआ है। क्योकि सम्भवत. उनके युग तक

---

१ स स सा.र पृ १२

२ सगीतोपनिषत्सारोद्धार, भूमिका, पृ ८, गायकवाड-सीरीज, १६५१

३ "प्रबन्धबन्धकर्तारो विरला भूतलेऽधुना।
तद्गायनाश्च न प्रायोऽतो नोक्तास्ते सविस्तरा: ।।"

सगीतोपनिषत्सारोद्धार, प्रथम अध्याय, श्लो. ३७

४ कालेऽस्मिन् नर्त्तका मूर्खा विद्वास: साधका नहि।
न नर्तकान् विनाभ्यास शास्त्रात् सिद्धिर्न न विना ।।
आबाल्यान् कपिवत्तेहि साध्यन्ते तै स्वभाषया।

वही, षष्ठ अध्याय, श्लो. १२६-१३०

५ तथैव म्लेच्छवाद्यानि ढोलतब्लमुखानितु।
डफा च टामकी चैव डउडि पादचारिणाम् ।।

वही, अ. ४, श्लो. ६३

मुसलमानी शासन नर्मदा के पार नहीं पहुंचा था, जब कि वाचनाचार्य्य सुधाकलश के मूलग्रन्थ संगीतोपनिषत् की रचना १३२४ ई० (अमीर खुसरो के मृत्यु-वर्ष) में हुई।[१]

सुधाकलश ने पखाउज (पखावज)[२] जैसे उत्तर भारतीय वाद्य और 'भीमपलासी' जैसे उत्तर भारतीय राग[३] की भी चर्चा की है। पार्श्वदेव का ग्रन्थ इस प्रवृत्ति से रहित है।

सुधाकलश का कथन है —"ताना, नाता, नता, नन्ता, तेन्न, तेन्नक, तन्नक ये प्रत्येक स्वर में सात सात तान है।" उनके मूल शब्द हैं :—

"तन्न तेन्ना यदुच्यन्ते तानास्ते स्वरसंस्थिताः।
आलप्तिश्रुतिसस्थानव्यापकर्तार एव ते।।
ताना-नाता-नता-नन्ता-तन्न-तेन्नक-तन्नकाः।
विज्ञेयास्ते क्रमात् ताना : सप्त सप्त स्वरे स्वरे।।"

ध्रुवपद-गायकों की परम्परा में ये बोल आज भी 'आलाप' का आधार हैं।

वाचनाचार्य्य सुधाकलश यत्र तत्र आचार्य्य शार्ङ्गदेव के शब्दों से प्रभावित प्रतीत होते हैं।

जैसे :—

(१) "वने चरन् तृणाहारश्चित्रं मृगशिशु: पशु।
लुब्धो लुब्धकसंगीते गीते यच्छति जीवितम्।"
संगीत-रत्नाकर, पदार्थसंग्रह, श्लो-२९
गीतास्वादानभिज्ञेभ्यो मनुष्येभ्यो वर मृगाः।
गीतस्वादेन ददते गातु: प्राणान् क्षणेन ये।।"
संगीतोपनिषत्सारोद्धार, अ० १, श्लो-६

(२) "पार्वती त्वनुशास्ति स्म लास्यं बाणात्मजामुषाम्।
संगीत-रत्नाकर, नृत्याध्याय, श्लोक-७
"उषानाम्न्यां बाणपुत्र्या लास्य गौर्य्यास्ततोऽभवत्।"
संगीतोपनिषत्सारोद्धार, अध्याय ५, श्लोक-१२

---

१. संगीतोपनिषत्सारोद्धार, भूमिका, पृ ८

२ "आउजो लोकभाषाया खदाउजपखाउजौ।"
वही, अ. ४, श्लो. ९२

३. "भाषाङ्गा विविधा भीमपलासीप्रमुखा अपि।"
वही तृतीय आध्याय श्लो. ११३

वाचनाचार्य्य सुधाकलश ने 'संगीतोपनिषत्सारोद्धार' में महाराज जगदेकमल्ल के ग्रंथ सङ्गीतचूडामणि' की चर्चा निम्नाङ्कित श्लोक में की है --

"मयरा सतजा भो नो वर्णा स्युर्गणपूर्वगा ।
तत्तत्त्वमयाश्चूडामणौ हि कथिता यत ।"

सगीतोपनिषत्सारोद्धार, अध्याय ३, श्लोक २३

हमारी विनम्र सम्मति में आचार्य्य पार्श्वदेव वाचनाचार्य्य सुधाकलश की अपेक्षा कुछ पूर्ववर्ती है, क्योकि सिहभूपाल (१४ वी शती ई०) ने उनका स्मरण श्रद्धापूर्वक किया है आचार्य्य सुधाकलश का नही। आचार्य्य सुधाकलश के परिवेश पर मुस्लिम प्रभाव था।[1]

पार्श्वदेव की दृष्टि में मार्ग-सङ्गीत

परम्परा का पालन करने की दृष्टि से आचार्य्य पार्श्वदेव ने मार्ग सङ्गीत की चर्चामात्र 'सङ्गीतसमयसार' के प्रथम अधिकरण के अन्तर्गत कर दी है। इस विषय के स्पष्टीकरण की आवश्यकता उन्होने नही समझी, क्योकि उनके पूर्ववर्ती सोमेश्वर के युग मे भी 'ग्रामरागों' का प्रयोग मनोविनोद के लिए नही किया जाता था।[2] अत सोमेश्वर ने भी 'ग्रामरागो' का नामोल्लेख मात्र किया है।

'सङ्गीतसमयसार' के प्रथम अधिकरण का अध्ययन करके स्पष्ट निष्कर्षो पर पहुँचना असम्भव है, अत पाठकों की सुविधा के लिए कुछ सामग्री प्रस्तुत है।

रागजननी जातियां

लोकरुचि सर्वथा स्वतन्त्र होती है। अनेक कलाओं का बीज लोक

---

१. भारतीय सङ्गीत पर मुसलमानो का प्रभाव जानने के लिए पढ़िये, 'मुसलमान और भारतीय सङ्गीत',- लेखक आचार्य्य बृहस्पति। प्रकाशक—राजकमल-प्रकाशन, ८ नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-६। 'खुसरो, तानसेन तथा अन्य कलाकार'—ले सुलोचना एव बृहस्पति, राजकमल-प्रकाशन। 'सगीत चिन्तामणि', द्वितीय सस्करण, प्रकाशक सगीत कार्य्यालय हाथरस। 'ध्रुवपद और उसका विकास', लेखक बृहस्पति, प्रकाशक 'विहार राष्ट्रभाषा परिषद्' पटना।

२ "नामतो गदितास्सर्वे रागा मुनिसमीरिता ।
विनोदे नोपयुज्यन्ते तस्माल्लक्ष्म न लक्ष्यते ।।"

मानसोल्लास, तृतीय भाग, अध्याय १६, विंशति ४, श्लोक १३२, पृ० १३, गायकवाड़-सीरीज, न० १३८, सस्करण १९६१।

की उस इच्छा में है, जो 'रञ्जन' चाहती है और उसके साधन भी सहज और स्वाभाविक रूप में निकाल लेती है। लोक-प्रचलित 'धुनें' किसी व्यक्तिविशेष की कृति नही होतीं। जिन 'धुनों' में कोई सामान्य धर्म्म पाया गया, उन्हे एक 'जाति' के अन्तर्गत रख दिया गया। 'धुनों' या विशिष्ट समुदायों का ऐसा वर्गीकरण करने वाले विचारक महामनीषी थे। उन विचारकों ने यह भी देखा कि विभिन्न स्वरजातियों में जहाँ विभिन्न प्रकार की विशेषताएँ हैं, वहाँ एक विशेषता यह भी है कि सभी स्वर-जातियों में प्रयुक्त होने वाले स्वरों के पारस्परिक अन्तराल त्रिविध है, इन अन्तरालों को उन्होने आगे चलकर 'चतु श्रुतिक' (उदात्त), 'द्विश्रुतिक' (अनुदात्त) त्रिश्रुति (स्वरित) कहा, धीरे-धीरे वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यदि स्वरों को 'ग्रामीण' कहा जाये, तो उनकी बस्ती को 'ग्राम' कहा जाये और एक स्वर उस बस्ती का 'ग्रामणी' या चौधरी हो।

स्वरो के 'ग्राम' (गाँव) दो पाये गये, जिन्हें 'षड्ज-ग्राम' और 'मध्यम-ग्राम कहा गया। षड्जग्राम मे जिस स्वर को 'पञ्चम' कहा गया, उसका क्षेत्र चतु श्रुतिक था और मध्यमग्राम मे जिस स्वर को 'पञ्चम' कहा गया, उसका अन्तराल त्रिश्रुतिक। चतु श्रुतिक षड्ज के साथ चतु: श्रुति पञ्चम का अत्यन्त इष्ट और स्वाभाविक सम्बन्ध था, जिन 'धुनो' में इन दोनों की सङ्गति पाई जाती थी वे 'षड्जग्रामीय' कहलाती थीं। त्रिश्रुतिक ऋषभ के साथ त्रिश्रुतिक पञ्चम का अत्यन्त इष्ट और सहज सम्बन्ध था। जिन 'धुनों' या जातियों में त्रिश्रुतिक ऋषभ और त्रिश्रुतिक पञ्चम की सङ्गति होती थी, वे 'मध्यमग्रामीय, कहलाती थीं।

इसीलिए भगवान् भरत ने कहा है :—

जातिभि: श्रुतिभिश्चैव स्वरा ग्रामत्वमागता:।"

अर्थात्—"जातियों (लोक प्रचलित धुनों और श्रुतियों (जाति प्रयोज्य ध्वनि-सम्बन्धी सूक्ष्म परिणामों) के कारण स्वर 'ग्रामों' में वर्गीकृत किये।

इन शब्दों का सीधा सादा अर्थ यह है कि विचारकों की दृष्टि पहले लक्ष्य पर गई, जिसके अनुसार उन्होंने लक्षण किये। ज्ञान की उपलब्धि और ज्ञान के प्रतिपादन का भिन्न क्रम विज्ञान सम्मत है।

षड्ज ग्राम के आदिम स्वर का नाम 'षड्ज' (छः अन्य स्वरों को जन्म देने वाला) रखा गया। अन्तिम स्वर का नाम 'निषाद' (जिस पर स्वरों की समाप्ति हो) रखा गया। स्वर-सप्तक के बीचोंबीच विद्यमान,

अथवा सप्तक के मध्य देश को नापने वाला, होने के कारण सप्तक के मँझले स्वर को 'मध्यम' कहा गया।

तन्त्री पर स्थापित 'मध्यम' की मुख्य ध्वनि से स्वत उत्थित होने वाली एक उपध्वनिविशेष को ससार में सब से पहले 'तुम्बुरु' ने सुना और उसका निरूपण किया, अत तुम्बुरु जैसे 'धीवान्' (बुद्धिमान्) व्यक्ति के द्वारा निरूपित होने के कारण यह ध्वनि 'धैवत' कहलाई।

'पञ्च' का अर्थ विस्तार या अन्तराल है। षड्ज-ग्रामीण षड्ज-पञ्चम, ऋषभ-धैवत तथा गान्धार-निषाद मे प्राप्त अन्तराल को ठीक-ठीक नापने वाली ध्वनि षड्जग्रामीय 'पञ्चम' कहलाई। सयोगवश यही ध्वनि षड्जग्रामीय मूल सप्तक मे आरोह की ओर पाँचवी भी है।

वृषभ के समान पौरुषमय होने एव षड्ज की अपेक्षा ऊर्ध्वगतिक होने के कारण षड्ज ग्राम के मूल सप्तक की द्वितीय ध्वनि को 'ऋषभ' कहा गया। गौओं के लिए विशेषतया आकर्षक होने के कारण सप्तक की तृतीय ध्वनि को 'गान्धार' कहा गया।

संवाद

'सवाद' का अर्थ 'अनुकूलता', 'पारस्परिक प्रश्नोत्तर', 'एक दूसरे का प्रतिनिधित्व' करने की क्षमता' तथा 'एक स्थान पर देखी हुई विशेषता' का अन्यत्र दर्शन' है। षड्ज, ऋषभ, गान्धार और मध्यम क्रमशः चतुः श्रुतिक, द्विश्रुतिक एव चतु श्रुतिक है, पञ्चम, धैवत, निषाद और षड्ज की भी स्थिति यही है, अत इस स्थिति को 'सवाद' (एक स्थान पर देखी हुई विशेषता का दर्शन) कहा जायेगा। तुल्य श्रुत्यन्तरालों के कारण षड्ज-पञ्चम, ऋषभ-धैवत और गान्धार-निषाद परस्पर संवादी (अत्यन्त इष्ट तेरह श्रुतियो के अन्तर पर स्थित) हैं। इस 'सवाद' को हम परम इष्टता या परम अनुकूलता कह सकते है।

षड्ज-मध्यम और पञ्चम-षड्ज मे नवश्रुत्यन्तराल है, यह अन्तराल भी ध्वनिसम्बद्ध परम इष्टता का बोधक है, यह अन्तराल मध्यम और द्विश्रुतिक निषाद मे प्राप्त है, अत यह भी ध्वनि-संवाद है। यद्यपि मध्यम चतुः श्रुतिक है और निषाद द्विश्रुतिक, तथापि मध्यम द्विश्रुतिक गान्धार का पारस्परिक अन्तराल षड्ज और मध्यम के पारस्परिक अन्तराल के समान है।

नवश्रुति संवाद और त्रयोदश श्रुति संवाद के अतिरिक्त मध्यम और धैवत का पारस्परिक सप्तश्रुतिक अन्तराल भी सहज है, जिसे तुम्बुरु ने

सबसे पहले देखा था, यह भी इष्ट या अभीप्सित है और एक विशिष्ट प्रकार का संवाद है।

ये संवाद ही स्वर-सप्तक की स्थापना का आधार हैं।

गुणियों के द्वारा वाणीश्वरी में प्रयोज्य मध्यम, गान्धार, ऋषभ और षड्ज और उनके संवादी षड्ज, निषाद, धैवत और पंचम ही षड्ज ग्रामीय षड्ज, निषाद, धैवत और पञ्चम हैं। हारमोनियमवादक इस सूक्ष्मता को नहीं समझ सकते।

ग्रामणी स्वर का लक्षण

जिन दो स्वरों में नौ या तेरह श्रुतियों का अन्तर हो और जिनकी श्रुति-संख्या समान हो, उनमें 'राग-संवाद' भी होता है और 'स्वर-संवाद' भी। जिन दो स्वरों में नौ या तेरह श्रुतियों का अन्तर तो हो, परन्तु उन दोनो स्वरों की श्रुतिसंख्या समान न हो, उनमें 'स्वर-संवाद' या 'ध्वनि-संवाद' तो होता है, 'राग-संवाद' नहीं। निम्नस्थ स्थिति पर विचार कीजिये :—

'स, ३ रे, २ ग, ४ म, ४ प, ३ ध, २ नि, ४ सं'

'स-म' दोनों चतुः श्रुतिक हैं, और 'स' की अपेक्षा' 'म' नौ श्रुतियों के अन्तर पर स्थिर है, अतः 'स-म' में 'राग-संवाद' भी है और ध्वनि-संवाद भी। 'म-नि' में नौ श्रुतियों का अन्तर होने के कारण 'ध्वनि-संवाद' तो है, परन्तु राग-संवाद, नहीं, क्योंकि 'म' चतुः श्रुतिक है और 'नि' द्विश्रुतिक।

'ग्रामणी' स्वर सदैव चतुः श्रुतिक होता है और सप्तक में उसके संवादी स्वर दो होते हैं, ग्रामणी स्वर की अपेक्षा आरोह की ओर अग्रिम स्वर सदैव त्रिश्रुतिक होता है। पूर्वोक्त स्वरावली में षड्ज 'ग्रामणी' स्वर है, क्योंकि वह स्वयं चतुश्रुतिक है, दो स्वर अर्थात् 'म' और 'प' उसके संवादी हैं और ग्रामणी स्वर षड्ज की अपेक्षा आरोह की ओर अगला-स्वर ऋषभ त्रिश्रुतिक है।

मध्यम-ग्राम में मूल स्वरों की स्थिति यों है :—

"म, ३ प, ४ ध, २ नि, ४ स, ३ रे, २ ग ४ म"

यहाँ ग्रामणी स्वर के दो संवादी 'नि' और 'स' है और ग्रामणी स्वर मध्यम की अपेक्षा आरोह की ओर अगला स्वर 'प' त्रिश्रुतिक है।

षष्टक-सिद्धान्त और श्रुतियों के तीन परिमाण

यदि 'स' से 'सं' के अन्तराल को एक सीधी रेखा मानकर उसे

३०१ समान घटकों में बाँट दिया जाये, तो चतुः श्रुतिक स्वर का क्षेत्र ५१ घटक, त्रिश्रुतिक स्वर का क्षेत्र ४६ घटक और द्विश्रुतिक स्वर का क्षेत्र २८ घटक होता है।

इस दृष्टि से सप्तश्रुति अन्तराल (म-ध का अन्तर) ६७ घटक, नौ श्रुतियो का अन्तराल १२५ घटक और तेरहश्रुतियों का अन्तराल १७६ घटक होता है।

श्रुतियो के परिमाण तीन है २३ घटक, १८ घटक और ५ घटक। 'महती' श्रुति का परिमाण २३ घटक, 'उपमहती' श्रुति का परिमाण १८ घटक और 'प्रमाण श्रुति' का परिमाण ५ घटक है।

चतु श्रुतिक स्वर मे आरोह की दृष्टि से श्रुति-क्रम प्रमाणश्रुति, उपमहती श्रुति, महती श्रुति और प्रमाणश्रुति होता है, त्रिश्रुतिक स्वरों में आरोह की दृष्टि से श्रुति-क्रम, उपमहती श्रुति, महती श्रुति और प्रमाण-श्रुति होता है तथा द्विश्रुति स्वरों मे श्रुति-क्रम महती श्रुति और प्रमाण श्रुति होता है। यह स्थिति इस प्रकार स्पष्ट है —

	प्रमाण श्रुति	उपमहतीश्रुति	महती श्रुति	प्रमाणश्रुति	घटक-योग
चतु श्रुतिक स्वर,	५	१८	२३	५	५१
त्रिश्रुतिक स्वर	×	१८	२३	५	४६
द्विश्रुतिक स्वर	×	×	२३	५	२८

प्रत्येक स्वर को अन्तिम 'प्रमाण श्रुति' है, परन्तु चतु श्रुतिक स्वर आदिम श्रुति भी 'प्रमाणश्रुति' है।

स्थान और मूर्च्छना

स्वर केवल सात है, मन्द्र, मध्य और तार स्थान में उन्ही की आवृत्ति होती है। मन्द्र स्थानीय स्वरों की ध्वनि गम्भीर, मध्यस्थानीय स्वरो की सामान्य या मँझोली तथा तारस्थानीय स्वरों की ध्वनि उच्चतम होती है। मन्द्रस्थानीय, मध्यम स्थानीय तथा तारस्थानीय स्वरों की ध्वनियाँ क्रमश हृदय, कण्ठ और मूर्धा से उत्पन्न होती हैं।

किसी भी स्थान के आरम्भ की ध्वनि को षड्ज, निषाद, धैवत, पचम, मध्यम, गान्धार या ऋषभ मानकर अभीष्ट श्रुति-संख्या के अनुसार अग्रिम स्वरों की स्थापना उस स्थान में की जा सकती है अत इस अवस्था मे स्थान का आरम्भक स्वर 'अश' (विशिष्ट श्रुति-क्रम के अनुसार स्थान का विभाजक) कहलाता है, 'अश' स्वर से आरम्भ होने वाले स्वर-सप्तक का आरोहावरोह मूर्च्छना' कहलाता है।

'स्वर-मण्डल' जैसे वाद्यों में किसी भी स्वर को 'अंश' मानकर उसकी 'मूर्च्छना' तीनों स्थानों में की जा सकती है। प्रत्येक मूर्च्छना में प्राप्त स्वर-सप्तक उसी ग्राम की अन्य मूर्च्छना के द्वारा प्राप्त स्वर-सप्तक से भिन्न होगा। 'मूर्च्छना' शब्द का अर्थ एक स्थान' के अन्तर्गत सात स्वरों का आरोहावरोह है।

मेलवादियों का भ्रम

अंश, वादी, ग्राम, मूर्च्छना जैसो प्राचीन परिभाषाओं का रहस्य मेलवादियों के लिए दुर्गम हो गया, क्योंकि मुस्लिम प्रभाव के कारण ये लोग एक 'स्थान' के अन्तर्गत बारह ध्वनियाँ मानने लगे। इन्होंने 'षड्ज' और 'पंचम' को अचल मानकर ऋषभ, गान्धार, मध्यम, धैवत और निषाद के दो दो प्रकार मान लिये और स्वर-संज्ञाओं की अन्वर्थता की सर्वथा उपेक्षा कर दी, इस दृष्टि-भेद ने ग्राम-लक्षण और ग्राम-सिद्धान्त को मेल-वादियों के लिए सर्वथा दुरवबोध बना दिया।

अन्य स्वरों से षड्ज का जन्म

षड्ज-ग्राम के आदिम शुद्ध सप्तक में 'षड्ज' अन्य स्वरों का जनक है। परन्तु मध्य स्थान की आरम्भक ध्वनि की संज्ञा 'निषाद' मानकर आरोह की ओर यदि अन्य अवशिष्ट स्वरों की स्थापना की जाये, तो निषाद इस स्थिति में अन्य स्वरों का जनक होगा। इस स्थिति को 'निषाद' की मूर्च्छना कहा जायेगा, क्योंकि इस क्रम में आरोह का आदिम और अवरोह का अन्तिम स्वर निषाद ही रहेगा और वही उभरेगा। मध्य स्थान की आरम्भक ध्वनि, सप्तक का अधिष्ठान पीठ है, इस ध्वनि को जिस स्वर की संज्ञा दी जायेगी, वही 'अंश', 'वादी', स्थायी' या नृप' स्वर कहलायेगा।

अंश स्वर और रस

मध्यम और पञ्चम का सम्बन्ध 'रति' और 'हास' से, 'षड्ज' और ऋषभ का सम्बन्ध 'उत्साह' 'क्रोध' और 'विस्मय' से, 'गान्धार' और 'निषाद' का सम्बन्ध 'करुणा' से तथा 'धैवत' का सम्बन्ध 'जुगुप्सा' और 'भय' से है। अतः कहा गया है कि 'शृङ्गार' और हास्य' के परिपाक के लिए 'मध्यम' या 'पंचम' को, 'वीर', 'रौद्र' एवं 'अद्‌भुत' रस के परिपाक के लिए 'षड्ज' और 'ऋषभ' को, करुण' के परिपाक के लिए 'गान्धार' एवं 'निषाद' को तथा 'बीभत्स' और 'भयानक' के परिपाक के लिए 'धैवत' को अंशत्व देना चाहिये।

किसी भी रस के परिपाक के लिए उपयुक्त अवसर पर उपयुक्त,

स्वर की 'अंशता' के साथ वाञ्छनीय 'रस' के परिपोषक भाव को व्यक्त करने वाले स्वरों का बाहुल्य एवं विरोधी भाव को व्यक्त करने वाले स्वरों का अल्पत्व अनिवार्य्य है।

अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना नामक वृत्तियाँ तो सार्थक गेय पद समूह मे होती है, परन्तु स्वरो में 'अवगमन शक्ति' होती है। अत: गान प्रयोज्य रागवाचक स्वरसमुदाय रस-परिपाक की प्रक्रिया में भाषा के सहायकमात्र होते हैं। भाषाहीन गेय पदों का गान 'शुष्क गीत' या 'निगीत' कहलाता है, 'सङ्गीत' नही।

स्वरों के द्वारा की जाने वाली भाव-व्यञ्जना गूगे के द्वारा निकाली हुई ध्वनियो से व्यक्त होने वाली भाव-व्यञ्जना के सदृश है। गूगा भी प्रेम-निवेदन कर तो सकता है, परन्तु वह स्पष्ट और व्यक्त नहीं होता।

भगवान् वेदव्यास ने भगवान् कृष्ण के वेणुवादन को 'वेणुगीत' कहा है, उसमें आकर्षण भी बताया है, परन्तु उनके शब्दों में जिसे 'रास' (रसों का समूह) कहा गया है, उसमें भाषा अनिवार्य है।

वैसे यह भी कहा जा सकता है: -**स्थायी** स्वर पर आलम्बित, उसके **संवादी** स्वर द्वारा उद्दीप्त, **अनुवादी** स्वरों द्वारा अनुभावित और **सञ्चारी** स्वरों द्वारा परिपोषित, सहृदयो की वह विशिष्ट चेतना 'रस' है, जिसकी अनुभूति के समय रजस्तमोगुणजनित उनकी राग-द्वेषादि ग्रन्थियाँ विगलित हो जाती हैं।

वर्तमान संस्करण की शोधित सामग्री का आधार

(१) ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट मैसूर में सुरक्षित एवं तेलुग-लिपि में लिखित 'सङ्गीतसमयसार' की हस्तलिखित प्रति क्रमाङ्क A-६७, जिसमें १४६ पृष्ठ हैं। पाद-टिप्पणियों में इस प्रति को 'क' कहा गया है।

यह प्रति लिपिको के प्रमाद का शिकार तो है ही। इसका पाठ अनेक स्थानों पर अस्त-व्यस्त भी है। सन्तोष की बात यह है कि प्रति आरम्भ में खण्डित नही है और मङ्गलाचरण से आरम्भ होती है, इसी मङ्गलाचरण का उल्लेख 'भरतकोष' के विद्वान सम्पादक स्व० प्रो० रामकृष्ण कवि ने किया है।[1] तथापि यह प्रति वह नहीं है, जो स्व० रामकृष्ण कवि को प्राप्त थी। रामकृष्ण कवि को प्राप्त पाठ :—

"ननु कथं मूर्च्छनातानयोर्भेदः प्रतिपादितः उच्यते। आरोहावरोह-

१. भरत-कोष-भूमिका, पृ. ८

क्रम एकः । स्वरसमुच्छ्रयो मूर्च्छना। कूटतानस्तु कथम् । आरोहक्रमेणावतरतीति तयोर्भेदः । अष्टादश जाति-भेदा ब्रह्मवक्त्रविनिर्गतसामसमुद्भवाः ।"

(क) प्रति में नहीं है। वर्तमान मुद्रित संस्करण में मङ्गलाचरण से लेकर पृ-२६ तक का आधार यही 'क' प्रति है, जिसके पाठ में संशोधन सम्पादक ने औचित्य के आधार पर तो किये ही हैं, और जिनमें से अनेक 'ग' प्रति के अनुसार ठीक सिद्ध हुए हैं, जिसकी चर्चा आगे आयेगी।

(२) अनन्तशयनम्-ग्रन्थावलि के अन्तर्गत प्रकाशित और १९२५ई० में महामहोपाध्याय टी० गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित प्रति, प्रस्तुत संस्करण की पाद-टिप्पणियों में इस संस्करण को 'ख' कहा गया है।

इस संस्करण में आरम्भिक डेढ अध्याय लुप्त है, जिसकी ओर भरत-कोष की भूमिका पृ० ७ पर प्रो० रामकृष्ण कवि ने शोध-कर्ताओं का ध्यान आकृष्ट किया है। टी० गणपति शास्त्री को 'संगीतसमयसार' की प्रति केरलीय अक्षरों में लिखित प्राप्त हुई थी।[1] स्वर्गीय शास्त्री जी ने इस प्रति में सशोधन किस आधार पर किया है, यह ज्ञात नही।

(३) गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट लायब्रेरी में सुरक्षित 'संगीतसमयसार की प्रति क्रमांक R. ५५१५, पृष्ठ-संख्या १३५, का देवनागरी-अक्षरों में रूपान्तरित रूप। प्रस्तुत संशोधित सस्करण के परिशिष्ट-१ में इस प्रति को 'ग' कहा गया है, परन्तु बिलम्ब से प्राप्त होने के कारण यह सहायक नही हो सका।

(४) संगीतरत्नाकर की टीका में सिंहभूपाल के द्वारा उद्धृत पार्श्वदेव एवं मतङ्ग की उक्तियाँ।

(५) 'भरत-कोष' में उद्धृत पार्श्वदेव की उक्तियाँ।

(६) 'संगीतचूडामणि' गायकवाड-सीरीज़ (१९५८ ई०) के वे अंश, जिन्हे पार्श्वदेव ने 'सङ्गीतसमयसार' में जैसा का तैसा उद्धृत कर लिया है।

(७) 'भरत-कोष' में प्रकाशित जगदेकोक्त वे राग-लक्षण, जिन्हे पार्श्वदेव ने यथावत् सङ्गृहीत कर लिया है।

---

१. 'सङ्गीत-समयसार', त्रिवेन्द्रम्-संस्करण (१९२५) निवेदना।

(८) नाट्यशास्त्र के निर्णयसागर-संस्करण, चौखम्भा-संस्करण एवं गायकवाड-सीरीज में 'अभिनवभारती' टीका से युक्त संस्करण के वे अंश जो पार्श्वदेव ने उद्धृत किये है।

ताल-प्रत्यय-संबद्ध परिशिष्ट

(क) प्रति के अनुसार 'संगीतसमयसार' के 'तालषट्प्रत्ययाधिकार' को दशम अधिकरण कहा गया है, परन्तु इसमें अनेक तालों के लक्षण भी हैं। साथ ही साथ इस तथाकथित अधिकरण का आरम्भ : –

"तालशब्दस्य निष्पत्ति प्रतिष्ठार्थेन धातुना।"

पंक्ति से होती है। यही पंक्ति तालाध्याय की भी तीसरी पंक्ति है। वास्तव में यह प्रति अत्यन्त अस्त-व्यस्त है और अन्यत्र भी इस प्रति में एक अध्याय की सामग्री अन्य अध्याय में चली गई है।

(ख) प्रति के अनुसार 'ताल-प्रत्यय' 'नवम अधिकरण' है, परन्तु जिसमें झाँझ (ताल नामक घनवाद्य का लक्षण) भी घुस गया है, जिसे वाद्याध्याय में होना चाहिये। इसका ताल-प्रत्यय-भाग अत्यन्त संक्षिप्त है।

(ग) प्रति के अनुसार नवम अधिकरण' के पश्चात् प्राप्त भाग किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा विरचित होता है, क्योंकि :--

"सङ्गीताकरसूरिणा निगदितं चित्रायमाणं ब्रुवे।"

जैसे शब्द इसी ओर सङ्केत करते है।

हमारी विनम्र सम्मति के अनुसार तालप्रत्यय सम्बन्धी परिशिष्ट पृथक् कृति है। इसीलिए परिशिष्ट-१ के अन्तर्गत हमने इसके उपलब्ध पाठ अन्त में दे दिये हैं।

प्रस्तुत सस्करण को वर्तमान रूप देने में मेरी धर्मपत्नी श्रीमती सुलोचना बृहस्पति, एम्० ए० सङ्गीतालङ्कार, सीनियर लेक्चरर, गान-विभाग, दौलतराम कॉलेज, दिल्ली-विश्वविद्यालय, दिल्ली, एव उनकी सहोदरा कुमारी सरयू कालेकर एम्० ए० सङ्गीतालङ्कार, सीनियर लेक्चरर, सङ्गीत-विभाग, गवर्नमेण्ट-कॉलेज फॉर वोमेन, पंजाब-विश्व-विद्यालय, चण्डीगढ़ ने अपूर्व सहयोग दिया है, जिसके बिना यह कार्य्य असम्भव था।

श्री० प्रेमचन्द जैन ने परिशिष्टों के तैयार करने, प्रूफ देखने तथा छपाई से सम्बद्ध व्यवस्था करने में अत्यन्त दत्तचित्ततापूर्वक कार्य्य किया है उनके प्रति मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूं।

पूज्यपाद उपाध्याय मुनिप्रवर श्रीविद्यानन्द जी के श्रीचरणों तक मुझे पहुँचाने और उनकी अहैतुकी कृपा सुलभ कराने में श्री सतीश जैन प्रमुख कारण रहे हैं, मैं उनका आभारी हूं।

'आद्य मिताक्षर' लिखकर इस यज्ञ के प्रधान पुरोहित परमपूज्य श्री विद्यानन्द जी ने इस ग्रन्थ को गौरव दिया है, उनकी ही वस्तु उन्हें समर्पित है और सङ्गीत-जगत के लिए प्रसादस्वरूप है।

गुरु पूर्णिमा
१९७७
दिल्ली

सहृदयजनवशंवद
बृहस्पति

विषयानुक्रमणिका

द्वितीयाधिकरणम्

तृतीयाधिकरणम्

षष्ठाधिकरणम्

सप्तमाधिकरणम्

अष्टमाधिकरणम्

नवमधिकरणम्

द्वितीय खण्ड

पार्श्वदेवकृतः

सङ्गीतसमयसारः

॥ प्रथमाधिकरणम् ॥

मङ्गलाचरणम्

समवसरणसम्मत्कर्म्मंठो वृषुंसेन
क्षणकलितकटाक्षप्रेक्षितेनैव रम्भाम् ।
जयति रुचिरलास्यं[1] तन्वतीं गीतवाद्यं—
रनुगतमनुपश्यन् वासुदेवोऽनिशं वः ॥१॥

सम्पादकमङ्गलाचरणम्—

कुञ्चितभ्रूविलासेन निश्शेषीकृतमन्मथः ।
शङ्करस्सच्चिदानन्दः कोऽपि पातु दिगम्बरः ॥१॥
यत्कृपया दुर्वोध्यं वोध्यं सञ्जायते क्षणादेव ।
सा शारदा पुनीता वितरतु मे मङ्गलं सवात्सल्यम् ॥२॥

जैनाचार्य्याणां रुचिः—

जैनाचार्य्याः पुराणा विमलमतियुतास्साधकाश्शान्तचित्ताः ।
सङ्गीतञ्चापिभूयः श्रुतिपदविषयञ्चक्रुरेतत्प्रसिद्धम् ॥
तेष्वेकः पार्श्वदेवो गुणगणनिचयैः ख्यातनामा महात्मा ।
व्यातेने गीततत्वं किमपि नवविधं विद्भिरन्यैरनुक्तम् ॥३॥

सङ्गीतसमयसारदुर्बोधता—

कीटाशिताक्षरत्वात्प्रायोव्यत्यस्तपाठकाठिन्यात् ।
दुर्लेखकप्रमादाल्लोके तत्सम्प्रदायविच्छेदात् ॥४॥

---

१. (क) कुजरलास्यं ।

सङ्गीताकरनिहितो विज्ञानमणिस्सुदुर्ग्रहो जातः ।
विद्यानन्दकृपातस्तन्मणिलुब्धो बृहस्पतिः प्रीतः ॥५॥
श्रीपार्श्वपठितानाचार्य्यांश्चापि सर्वथाऽऽलोड्य ।
सङ्गीतसमयसार संसुख शोधयति विज्ञतोषाय ॥६॥
लोके सत्सङ्कल्पाः पूर्तिङ्गच्छन्ति पुण्यशीलानाम् ।
तत्रापि च वन्द्योऽसौ यः सत्कार्य्यप्रयोजकः कर्ता ॥७॥

प्रेरकस्तुतिः—

भेदेऽभेद ब्रुवाणो विनयपथि रतो नित्यपूतान्तरात्मा ।
सर्वाल्लोकान् सहास समुपदिशति यश्शान्तचित्तः प्रवीणः ।
निष्कामः कर्तुकामस्सकलजनगणोद्धारमुद्यत्प्रतापः ।
विद्यानन्दस्सलीलं जिनपदयुगलालम्बिचित्त. पुनातु ॥८॥
पार्श्वदेवकृति शुद्धा स एव मुनिसत्तम ।
द्रष्टुमिच्छति सानन्दमतो मेऽय परिश्रम ॥९॥

सम्पादकप्रार्थना—

दुष्करमतीव कार्य्य सुकर सञ्जायते प्रयत्नेन ।
चेत्पुनरपि दोषा स्यु मार्ज्या करुणाब्धिविज्ञवृन्देन ॥१०॥

युगस्थितिः—

नाधीत यै कदापि क्वचिदपि च न यैस्सेविता ज्ञानवृद्धा. ।
भाषामर्थञ्च भाव पदगतशुचितां ये च दूरात् त्यजन्ति ॥
पूर्णङ्कोलाहलं ये विदधति सतत तेऽद्य सङ्गीतविज्ञाः ।
रागास्तालास्स्वराद्या विलपननिरताः पातु नो वासुदेवः ॥११॥

चित्रंयत्पदपङ्कजं कृतधियो नत्वाद्य लक्ष्माधिपैः ।
आराध्या गुरुतामुपेत्य नियतं क्षोणीतलेऽतिद्रुतम्[1] ।
सा मे स्तोककृपातरङ्गतरलप्राप्तालया[2] शारदा ।
पुष्णातु प्लुतमायुरायतदृशा कुन्दावदाताऽनिशम् ॥२॥
लोकेदत्तिलकोहलानिलसुतास्सोमेश्वरस्तुम्बुरुः ।
शास्त्रं भोजमतङ्गकश्यपमुखा व्यातेनुरेते पुरा ।
यस्तस्माद्रुदपादि[3] गानरसिकाह्लादप्रमोदाकरः ।
सङ्गीताकरसूरिणामनुमतस्तूद्धृत्य सारः स्फुटः ॥३॥

(ग्रन्थकृद्वंशपरिचयः)

श्रीकण्ठान्वयदुग्धवाधिलहरीसवर्द्धनेन्दोःकला[4] ।
गौरी यज्जननी लसद्गुणगुणो यस्यादिदेवः पिता ॥
यच्चेतो[5] जिनपादपद्मयुगलध्यानैकतानं सदा ।
सङ्गीताकरधीमतो विजयते तस्यैव सेयं कृतिः ॥४॥

वे वासुदेव निरन्तर आपकी रक्षा करें, जो समवसरण (धर्म-परिषद्) की सम्पत्ति से कर्म्मठ हैं (और) गीत-वाद्य के द्वारा अनुगत रम्भाकृत रुचिर लास्य को क्षणिक परन्तु दुर्मुख कटाक्ष के द्वारा देख रहे हैं ॥१॥

अपनी कृपा-तरङ्ग-लेश से दयार्द्र होकर मेरे सदन में प्राप्त वह कुन्द-तुल्य शुभ्र सरस्वती निरन्तर मेरा पोषण करें, जिनके आश्चर्यमय चरण-कमलों की बन्दना करके विद्वान् लोग शीघ्र ही गुरुपद को प्राप्त करते और भूतल पर शुभ-लक्षण-धारी व्यक्तियों के आराध्य हो जाते हैं ॥२॥

लोक में पहले दत्तिल, कोहल, आञ्जनेय, सोमेश्वर, तुम्बुरु, भोज, मतङ्ग और कश्यप आदि ने संगीत-शास्त्र का विस्तार किया है। गानरसिकों के प्रमोद का आकर जो सार उससे उत्पन्न हुआ, उसे ही उद्धृत करना पार्श्वदेव को अभीष्ट है ॥३॥

श्रीकण्ठवंशरूपी क्षीरसागर की तरङ्गों का संवर्द्धन करने वाली चन्द्र कला गौरी जिसकी जननी और सकल गुणमण्डित आदिदेव जिसके जनक हैं, जिसका चित्त सदा जिनेन्द्र के पादयुगल के ध्यान में संलग्न है, उस श्रीमान् सङ्गीताकर (पार्श्वदेव) की यह कृति सुशोभित हो रही है ॥४॥

---

१. (क) लेहतम् । २. (क) प्रोक्तालया । ३. (क) गाष । ४. (क) नाब्धि । ५. (क) यच्छेतो ।

चाञ्चल्यं किञ्चिदेतद भरतपरिणतं[1] तावता चञ्चलत्वम् ।
शास्त्राण्यम्भोधिमुद्रामुकुलितभुवने यानि तत्प्राप्नुवन्ति ।
तत्कम्पानेति .... ताण्डवोद्योगिभर्ग
श्रीपादाङ्गुष्ठसङ्गस्खलिततटजगन्मङ्गलं सञ्चरेषु ॥५॥

सङ्गीतं[2] द्विविधम्, मार्गो देशिरिति । तयोर्लक्षणंकिम् ? :

स्वरग्रामौ तथा जातिः वर्द्धमानादिगीतकम् ।
आलापादिक्रियाबद्धं[3] स तु मार्ग इति स्मृतः ॥६॥

स मार्गो द्विविध, जातिगान मद्रगानमिति[4] ।

तथा चोच्यते—

स्थानश्रुतिस्वरग्राममूर्च्छनास्तान[5]संयुताः ।
साधारणा जातयश्च रागा मद्रादि[6]गीतकम् ॥७॥
एष स्वरगतोद्देश. सोपपत्तिरुदाहृतः ।
संक्षेपेणास्य शास्त्रोक्तपदार्थविगति. फलम् ॥८॥
तान्यह[7] नाममात्रेण निरुक्तिसहित कथम् (?)

(पाँचवाँ श्लोक अपूर्ण है) ॥५॥

संगीत दो प्रकार का है, मार्ग और देशी । उनका लक्षण क्या है ?

स्वर, ग्राम, जाति, वर्द्धमान इत्यादि गीतक, आलाप इत्यादि क्रिया से बद्ध होने पर 'मार्ग' इस सज्ञा से अभिहित होते हैं ॥६॥

वह मार्ग दो प्रकार का है. जाति-गान और मद्र (इत्यादि गीतों का) गान । कहा भी जाता है —

स्थान, श्रुति, ग्राम, तान सहित मूर्च्छनाएँ, साधारण, जातियाँ, राग, मद्र इत्यादि गीत यह स्वर-सम्बन्धी विषय उपपत्ति-सहित उदाहृत किया गया है । सक्षेप में शास्त्रोक्त पदार्थों का ज्ञान, फल ॥७-८॥

निरुक्ति सहित नाम मात्र कहूंगा ।

---

१. (क) भतर । २. (क) भरत । ३. (क) आवापादि । ४. (क) मग्र ।
५. (क) थान । ६. (क) मन्द्रादि । ७. (क) तानहं ।

स्थानलक्षणम्

अत्रोच्यते—

स्वरादीनाम् उत्पत्तिहेतुत्वात् स्थानम् ॥९॥
त्रीणि स्थानानि हृत्कण्ठशिरांसीति समासतः ।
एकैकमपि[1] तेषु स्याद् द्वाविंशतिविधायुतम्[2] ॥१०॥
द्वाविंशतिविधो मन्द्रो[3] ध्वनिः सञ्जायते[4] हृदि ।
यथोत्तरमसौ नादो वीणायामधरोत्तरम्[5] ॥११॥
स एव द्विगुणो मध्य कण्ठस्थाने यथाक्रमम्[6] ।
स एव मस्तके तारः स्यान्मध्याद्[7] द्विगुण. क्रमात् ॥१२॥
इति स्वरगता ज्ञेयाः श्रुतय. स्वरवेदिभिः ।
अन्तरस्वरवर्तिन्यो ह्यन्तरश्रुतयो मताः ॥१३॥
(इति स्थान लक्षणम्)

स्थान-लक्षण –

इस सम्बन्ध में कहा जाता है कि स्वरो की उत्पत्ति का स्थान होने के कारण 'स्थान' कहलाता है ॥९॥

सक्षेपत. स्थान तीन हैं, हृदय, कण्ठ और शिर। इन तीनो में से प्रत्येक बाईस प्रकारो से युक्त हैं ॥१०॥

हृदय मे बाईस प्रकार की मन्द्र ध्वनि उत्पन्न होती है। जिस प्रकार (शरीरी वीणा मे) यह नाद, ऊपर की ओर (कण्ठ और सिर में) होता है, उसी प्रकार (ऊँचा नाद) वीणा में नीचे की ओर होता है। मन्द्र का द्विगुण नाद कण्ठ में उत्पन्न होने पर 'मध्य' कहलाता है और इसी क्रम से मध्य का द्विगुण नाद शिर में उत्पन्न होने पर 'तार' कहलाता है। स्वरज्ञों को ये स्वरगत श्रुतियाँ जाननी चाहिये। अन्तर स्वरों में विद्यमान श्रुतियाँ अन्तर श्रुति मानी गई हैं ॥११-१३॥

(स्थान लक्षण समाप्त हुआ)

१. (क) एवैवमपि । २. (क) विध पुनः ।
एकादशद्वादशत्रयोदशश्लोकास्सिं भूपालेन रत्नाकरटीकायामुद्धृताः ।
३. (क) मंत्र. । ४. (क) संज्ञायते । ५. (क) रव । ६. (क) यथाक्रमात् ।
७. (क) मध्याद्विगुणः ।

वीणायां श्रुतयः—

नाभौ यद् ब्रह्मणः स्थान यत्कण्ठेन परिस्फुटम् ।
शक्योऽदर्शयितुं तस्माद् वीणायान्तन्निबोधत ॥१४॥

द्वे वीणे तुलिते कार्य्ये समस्तावयवे[1] तथा ।
एकवीणेव भासेते यथा द्वे ह्यपि[2] शृण्वताम् ॥१५॥

वीणाद्वये तु सम्प्राप्ते या तासामुपरि श्रुतिः[3] ।
आद्य. मन्द्रतमध्वाना[4] तन्त्री कार्य्या सवर्णकैः ॥१६॥

द्वितीया तु ततस्तीव्रध्वनिस्तन्त्री विधीयते ।
यथा तथा तयोर्मध्ये न तृतीयो ध्वनिर्भवेत् ॥१७॥

एवं यथाऽवरा[5] स्तीव्रशब्दास्तत्र्यः[6] सुशोभना ।
कार्य्यास्तासूत्थिता. शब्दा श्रवणाच्छ्रुतिसज्ञका : ॥१८॥

वीणा में श्रुतियाँ—

नाभि में जो बाईस श्रुतियो का स्थान है, वह कण्ठ के द्वारा भी स्पष्टतया नही दिखाया जा सकता है, उसे वीणा में समझिये ॥१४॥

समस्त अवयवों से युक्त दो वीणाओ को सर्वथा इस प्रकार सदृश कर लेना चाहिये कि वे एक ही प्रतीत हो। ऐसा होने पर आदिम तंत्री को मन्द्रतम ध्वनि मे मिला लेना चाहिये ॥१५-१६॥

दूसरी तंत्री पहली तत्री की अपेक्षा तीव्र ध्वनि रखी जाती है, उतनी कि उन दोनो के मध्य में कोई तीसरी ध्वनि उत्पन्न न हो। इसी प्रकार अन्य तत्रियाँ भी क्रमश तीव्रतर ध्वनियो से युक्त कर ली जानी चाहिये। सुनाई देने के कारण उनमें उत्थित शब्द श्रुति कहलाते हैं ॥१७-१८॥

---

१ (क) वस्तथा ।
२. (क) अपि ।
३. (क) स्थिता ।
४. (क) तावद्वाना ।
५. (क) यथावर ।
६. (क) शत्वा ।

श्रूयत इति श्रुतिः । षट्षष्टिनामानि ।

मन्द्रा चैवाति[1] मन्द्रा च घोरा घोरतरा तथा ।
मण्डना च तथा सौम्या[2] सुमनाः पुष्करा तथा ॥१६॥
शंखिनी चैव नीला च उत्पला सानुनासिका ।
घोषवती लीननादा[3] आवर्तन्यपि चापरा ॥२०॥
रणदा[4] चैव गम्भीरा दीर्घतारा[5] च नादिनी[6] ।
मन्द्रजा[7] सुप्रसन्ना च निनद्रा मन्द्रसप्तके ॥२१॥

एतानि द्वाविंशतिर्नामानि मन्द्रसप्तकश्रुतीनाम् ।

नादान्ता निष्कला[8] गूढा सकला[9] मधुरा गली ।
एकाक्षरा भृङ्गजाती रसगीती[10] सुरञ्जिका[11]॥२२॥
पूर्णाऽलंकारिणी चैव वांशिका[12] वैणिका तथा ।
त्रिस्थाना सुस्वरा सौम्या भाषाङ्गी वार्तिका तथा ॥२३॥
सम्पूर्णा च प्रसन्ना च सर्वव्यापनिका तथा ।
द्वाविंशतिः समाख्याता श्रुतयो मध्यसप्तके ॥२४॥

सुनी जाती है, इसलिये श्रुति कहलाती हैं । उनके छियासठ नाम हैं ।

मन्द्रा, अतिमन्द्रा, घोरा, घोरतरा, मण्डना, सौम्या, सुमनाः, पुष्करा, शंखिनी, नीला, उत्पला, अनुनासिका, घोषवती, लीननादा, आवर्तनी, रणदा, गम्भीरा, दीर्घतारा, नादिनी, मन्द्रजा, सुप्रसन्ना और निनदा ये श्रुतियाँ मन्द्र सप्तक में होती है ॥१६-२१॥

ये बाईस नाम मन्द्र सप्तकीय श्रुतियो के है ।

नादान्ता, निष्कला, गूढा, सकला, मधुरा, गली, एकाक्षरा, भृङ्गजाति, रसगीति, सुरंजिका, पूर्णा, अलंकारिणी, वांशिका, वैणिका, त्रिस्थाना, सुस्वरा, सौम्या, भाषागी, वार्तिका, सम्पूर्णा, प्रसन्ना, और सर्वव्यापनिका, ये श्रुतियाँ मध्यसप्तक में हैं ॥२२-२४॥

---

१. (क) अनुमन्द्रा । २. (क) सौख्या । ३. (क) लीनगाथा । ४. (क) रणा ।
५. (क) दीर्घतरा । ६. (क) अनुवादिनी । ७. (क) मन्द्रा । ८. (क) निष्करा ।
९. (क) सरला । १०. (क) सरगीती । ११. (क) करञ्जिका । १२. (क) वाणी ।

एतानि द्वाविंशति नामानि मध्यसप्तकश्रुतीनाम्।

ईश्वरी चैव कौमारी सवराली[1] तथा परा।
भोगवीर्य्या मनोरामा सुस्निग्धा च तथा परा ॥२५॥

दिव्याङ्गाथो[2] सुललिता विद्रुमा च तथा परा।
महार्काशकिनी राका लज्जा चैव तथा परा ॥२६॥

काली सूक्ष्मातिसूक्ष्मा च पुष्टा चैव सुपुष्टिका।
विस्पष्टा काकली चैव कराली च तथा परा ॥२७॥

विस्फोटान्तर्भेदिनी च इत्येतास्तारसप्तके ॥

एतानि द्वाविंशति नामानि तारसप्तकश्रुतीनाम्।

(अधुना मतङ्गोक्तानि श्रुतिसम्बधिमतान्युद्धरति)

तादात्म्य च विवर्तत्व कार्य्यत्वं परिणामिता[3] ॥२८॥
अभिव्यञ्जकता चापि[4] श्रुतीनां परिकल्प्यते।

ये बाईस नाम मध्यसप्तकीय श्रुतियो के है।

ईश्वरी, कौमारी, सवराली, भोगवीर्या, मनोरामा, सुस्निग्धा, दिव्याङ्गा, सुललिता, विद्रुमा, महार्का शकिनी, राका, लज्जा, काली, सूक्ष्मा, अतिसूक्ष्मा, पुष्टा, सुपुष्टिका, विस्पष्टा, काकली, कराली, विस्फोटा और अन्तर्भेदिनी ये श्रुतियां तारसप्तक मे हैं। २५-२७॥

ये बाईस नाम तारसप्तकीय श्रुतियो के है।

(इसके पश्चात् पार्श्वदेव-मतङ्गोक्त, श्रुतिसम्बन्धी पाच मत उद्धृत करते है।)

कुछ लोग श्रुतियो का तादात्म्य, कुछ लोग विवर्तत्व, कुछ लोग कार्य्यत्व, कुछ लोग परिणामिता और कुछ अभिव्यंजकता कल्पित करते हैं ॥२८॥

---

१ (क) भ्रमराली। २. (क) दिव्याङ्का।

श्रुतिनामाङ्किता श्लोका सिंहभूपालेनोद्धृता: (क) आदर्शे श्लोकोऽनिबद्धो भ्रष्टश्च पाठ।

३. (क) परिणामता। ४. (क) वापि।

इदानीमेतदेव विवृणोति ।

विशेषस्पर्शशून्यत्वाच्छ्रवणेन्द्रियगम्ययोः[1] ॥२६॥
स्वरश्रुत्योस्तु तादात्म्यं जातिव्यक्तिरिवानयोः[2] ।
नराणां[3] च मुखं यद्वत् दर्पणे च विवर्तितम् ॥३०॥
प्रतिभान्ति[4] स्वरास्तद्वच्छ्रुतिष्वेव विवर्तिनः[5] ।
स्वराणां श्रुतिकार्य्यत्वमिति केचिद्वदन्ति[6] हि ॥३१॥
मृत्पिण्डदण्डकार्य्यत्व घटस्येह[7] यथा भवेत् ।
श्रुतयः स्वररूपेण परिणाम[8] व्रजन्ति हि ॥३२॥
परीणमेद् यथाक्षीरं दधिरूपेण सर्वथा ।
षड्जादयः स्वराः सप्त व्यज्यन्ते श्रुतिभिः सदा ॥३३॥

अब इसी का विवरण दिया जाता है —

श्रवणेन्द्रिय द्वारा स्वर और श्रुति का विशिष्ट रूप मे पृथक्-पृथक् स्पर्श न होने के कारण स्वर और श्रुति में उसी प्रकार का तादात्म्य मानते हैं, जो व्यक्ति और जाति में है ॥२६॥

कुछ लोगों का कथन है कि जिस प्रकार दर्पण मे मनुष्यों का मुख प्रतिबिम्बित होता है, उसी प्रकार स्वर श्रुतियों में विवर्तित होते है ॥३०॥

कुछ लोग स्वरो का श्रुतिकार्य्यत्व मानते है, जिस प्रकार मिट्टी का लोंदा और चाक घुमाने का डण्डा, घड़े के कारण होते है ॥३१॥

कुछ लोगों की दृष्टि में स्वर उसी प्रकार श्रुतियो का परिणाम है, जिस प्रकार दूध दही में परिणत हो जाता है ॥३२॥

कुछ लोगों के अनुसार स्वर, श्रुतियों के द्वारा उसी प्रकार अभिव्यक्त होते है, जिस प्रकार अन्धकार में स्थित घट इत्यादि दीपक के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं ॥३३॥

---

१. (क) ग्राह्यता । २. (क) वृत्ति ।
३. (क) स्वराणां । ४. (क) प्रविभाति ।
५. (क) विवर्तितः । ६. (क) किञ्चित् ।
७. (क) घटस्य हि । ८. (क) मन्त्रि न संशयः ।

अन्धकारस्थिता यद्वत्प्रदीपेन घटादय ।
अर्थापत्त्यानुमानेन प्रत्यक्ष श्रोत्रजेन वा ॥३४॥
गृह्यन्ते श्रुतयस्तावत्स्वराभिव्यक्तिहेतव ।
एतेष्वभिव्यञ्जकतामेव केचिद्वदन्ति हि ॥३५॥
परिणामाभिव्यक्तिस्तु न्याय्यः[1] पक्षः सतां मतः
इति तावन्मया प्रोक्तं तादात्म्यादिविकल्पनम् ॥३६॥
(इति श्रुतिविकल्पनम्)

राजृ[2] दीप्ताविति धातोः स्वशब्दपूर्वकस्य च ।
स्वय यो राजते यस्मात् तस्मादेष स्वरः स्मृत. ॥३७.।

राजन्त इति स्वराः । ननु स्वरशब्देन किमुच्यते ? रागजनको ध्वनि स्वर । तथा चाह कोहल :—

आत्मेच्छया नाभितलात्[3] वायुरुद्यन्निधार्य्यते
नाडीभित्तौ[4] तथाकाशे[5] ध्वनी रक्त[6] स्वर. स्मृत ॥३८॥

अर्थापत्ति, प्रत्यक्ष ज्ञान, शब्द प्रमाण या अनुमान से यही सिद्ध होता है कि श्रुतियाँ स्वरो की अभिव्यक्ति का कारण हैं ॥३४॥

इन मतो मे कुछ लोग अभिव्यञ्जकता को ही ग्रहण करते हैं। सज्जनों की दृष्टि मे परिणाम की अभिव्यक्ति ही मानना न्याययुक्त है। इस प्रकार मैंने तादात्म्य इत्यादि का विकल्प कह दिया ॥३६॥

(यह श्रुतिविकल्पन सम्पन्न हुआ।)

स्वशब्दपूर्वक दीप्त्यर्थक 'राजृ' धातु मे स्वर शब्द निष्पन्न होता है। जो स्वयं राजित होता है, वह 'स्वर' कहा गया है ॥३७॥

शोभित होने वाले (नाद) स्वर हैं। 'स्वर' शब्द से क्या तात्पर्य है ? रागजनक ध्वनि 'स्वर' है। जैसा कि कोहल ने कहा है :—

अपनी इच्छा से नाभितल से उठने वाली वायु का नाडीभित्ति और आकाश मे निधारण होता है, तब उत्पन्न होने वाली रञ्जक ध्वनि 'स्वर' है ॥३८॥

---

१. (क) स्याय्य । २ (क) राजृ दीप्ताविति धातो स्वय स्वशब्दपूर्वस्य च ।
३. (क) रूर्ध्वं विधार्य्यते । ४. (क) चित्तौ । ५ (क) तदाकाशे । ६. (क) रक्तेस्वरः ।

तथा गीततत्वेऽन्यथा वक्ति। स्वरः श्रुतिरिति। स्थानाभिघात प्रभवो ध्वनिर्नाद: अनुरणनात्मा यः स्यादसावुच्यते स्वरः। एकोऽनेको वा, व्यापकोऽव्यापको वा। अत्रोच्यते, एकोऽनेको नित्यश्चेति। तत्र निष्कल-रूपेणैक एव स्वरः षड्जादिरूपेणानेकः स्वरः।

तथा चाह कोहल :—

जातिभाषादिसंयोगादनन्तः कीर्तितः स्वरः।
[1]नादैर्युक्तस्तालमितः कृतौ योज्यो रसेष्वपि ॥३९॥

नित्योऽविनाशी[2] व्यापकः[3] सर्वगत.। तथा चाह कोहल :—

ऊर्ध्वनाडी[4]प्रयत्नेन सर्वभित्ति[5]निघट्टनात्।
मूर्च्छती ध्वनिरामूर्ध्नः स्वरोऽसौ[6]व्यापकः परः ॥४०॥

गीततत्व के अवसर पर और ढंग से कहते हैं। स्वर ही श्रुति है। 'स्थान' पर अभिघात से उत्पन्न अनुरणनात्मक ध्वनि स्वर है। वह एक है या अनेक ? व्यापक है या अव्यापक ? इस सम्बन्ध में कहते है कि स्वर एक, अनेक, व्यापक और नित्य है। निष्कल रूप से एक ही स्वर है, षड्ज इत्यादि रूप से अनेक है।

जैसा कि कोहल ने कहा है :—

'जाति' और 'भाषा' इत्यादि के संयोग से स्वर अनन्त कहा गया है। नादों से युक्त, ताल के द्वारा परिमित स्वर को कृति में और रसों में नियोजित करना चाहिये ॥३९॥

स्वर, नित्य, अविनाशी, व्यापक और सर्वगत है। कोहल ने भी कहा है :—

ऊर्ध्वनाडी के प्रयत्न के द्वारा समस्त भित्तियों के निघट्टन (रगड़) से शिर तक व्याप्त ध्वनि 'स्वर' है और व्यापक है ॥४०॥

---

१. (क) पर्युक्तिस्तालमितः। २. (क) अविनाशि। ३. (क) व्यापकं।
४. (क) नाडि। ५. (क) भेत्ति। ६. (क) स।

(स्वमतं कथयति)

अनित्यो ऽव्यापकश्च, तथा चार्थमेव[1] ववक्षितत्वात्, प्रदेशात् प्रदेशान्तरे श्रवणाभावादव्यापकत्वम् स्वरस्य, नो चेद्देशान्तरेऽपि श्रवणं स्यात्, न च तथा लोकेऽपि इच्छाप्रयत्नपूर्वकत्वेन उत्पन्नस्वरकाले यथास्वर श्रवण तथा कालान्तरे श्रवणाभावात् नित्यत्व नास्ति, नो चेन् कालान्तरेऽपि श्रवणं स्यात्, न च तथा लोकेऽस्ति, तस्मात् स्वरो ऽव्यापको ऽनित्यश्च।

ननु षड्जादीना कथं स्वरत्व व्यञ्जनत्यात् यदि व्यञ्जकानां स्वरत्वमभिधीयते तर्हि कादीनामेव[2] स्वरत्वम्। अत्रोच्यते, असाधारणत्वात् षड्जादीनामेव स्वरत्व न कादीनाम्। ननुषड्जादीनामसाधारणत्व कथम्? आप्तोपदेशात् षड्जादीनामसाधारणत्वमिति केचित्, सङ्केतमात्रमिति केचित्, अहमेवं वदामि। मन्द्रादिसप्तकानामुच्चारणे व्यक्तत्वात् सरिगमपधनीनामेव स्वरत्वमिति सिद्धम्, तथा च लोके दृश्यते।

(पार्श्वदेव अपना मत व्यक्त करते हुए कहते है।)

स्वर अनित्य और अव्यापक है, क्योकि अपना विशिष्ट अर्थ ही व्यक्त कर सकता है। एक प्रदेश से दूसरे (दूरस्थ) प्रदेश में न सुनाई देने के कारण स्वर अव्यापक है, अन्यथा उसका श्रवण देशान्तर मे भी होता, परन्तु लोक मे वैसा होता नही। इच्छा और प्रयत्न का श्रवण जैसा उस समय होता है, वैसा कालान्तर मे नही, यदि स्वर नित्य होता तो उसका श्रवण कालान्तर मे भी होता, अत स्वर अव्यापक और अनित्य है।

षड्ज आदि तो व्यञ्जन है, इनका स्वरत्व कैसे है? यदि व्यञ्जनो का भी स्वरत्व है, तो 'क' इत्यादि का भी होगा। इस सम्बन्ध मे कहा जाता है कि असाधारणत्व के कारण षड्ज इत्यादि का ही स्वरत्व है, 'क' इत्यादि का नही। षड्ज इत्यादि में असाधारणत्व कैसे है? कुछ लोगो का कथन है कि आप्तोपदेश के कारण इनका असाधारणत्व है, कुछ लोग कहते है कि ये नाम सकेनमात्र है। मै तो यह कहता हूं कि मन्द्र इत्यादि सप्तकों का उच्चारण करने पर व्यक्त होने के कारण स, रि, ग, म, प, ध, नि, का स्वरत्व सिद्ध है, वैसा ही लोक मे दिखाई देता है।

---

१. (क) अर्हतमेव।

२. (क) मेवास्तु।

निस्साणडमरुकानाञ्च वादने परिदृश्यते ढणं ढणमिति वर्णव्यक्तिः। ननु तथापि तेषां स्वरत्वं नास्ति, मैवम्, रागजनको ध्वनिः स्वर इति लक्षणम्, तस्य ध्वनेः कारणत्वात्, सरिगमपधनीनामेव स्वरत्वम्, कारणे कार्य्य-लक्षणया।

अथ स्वरनिरुक्तिः कथ्यते—

नासा कण्ठ उरस्तालु जिह्वादन्तस्तथैव[1] च।
षड्भिःसंजायते यस्मात् तस्मात् षड्ज इति स्मृतः ॥४१॥
नाभेः[2] समुत्थितो वायुः कण्ठशीर्षसमाहत.।
[3]नदत्यृषभवद्यस्मात् तस्मादृषभ ईरितः ॥४२॥
नाभेः समुत्थितो वायुः कण्ठशीर्षसमाहतः।
गन्धर्वसुखहेतुः स्याद् गान्धारस्तेन हेतुना ॥४३॥

निस्साण, डमरू इत्यादि केवादन में 'ढणंढणं' जैसे वर्णों की अभि-व्यक्ति दिखाई देती है। क्या इन ध्वनियों में स्वरत्व नही ? नहीं, क्योंकि स्वर का लक्षण है कि राग-जनक ध्वनि स्वर होती है, स्वर नामक ध्वनि राग का कारण होती है. इसलिये स, रि, ग, म, प, ध, नि ही कारण में कार्य्य की लक्षणा के कारण 'स्वर' है।

अब स्वरों की निरुक्ति कही जाती है।

नासा, कण्ठ, उर, तालु, जिह्वा और दन्त इन छः स्थानों से उत्पन्न होने के कारण षड्ज की संज्ञा है ॥४१॥

नाभि से उठा हुआ और कण्ठ तथा शिर से समाहत वायु वृषभ के समान नाद करने के कारण ऋषभ कहलाता है ॥४२॥

नाभि से उत्थित तथा कण्ठ एवं शिर से समाहत गन्धर्वों के सुख का कारण होने से गान्धार कहलाता है ॥४३॥

१. (क) न्ता।
२. (क) नाभिस्समंस्थितो।
३. (क) ऋषभवन्नदते।
४. (क) हेतुत्वात्।

वायुः समुत्थितो नाभेर्हृदये[1] च समाहतः ।
मध्यस्थानोद्भवत्वात्तु[2] मध्यमत्वेन[3] कीर्तितः ॥४४॥

वायुः समुत्थितो नाभेरोष्ठकण्ठशिरोहृदि ।
पञ्चस्थानसमुद्भूत.[4] पञ्चमस्तेन कीर्तित:[5] ॥४५॥

नाभेः समुत्थितो वायुः कण्ठतालुशिरोहृदि ।
तत्तत्स्थान[6] धृतो यस्मात् ततोऽसौ धैवतो मत· ॥४६॥

नाभे समुत्थितो वायौ कण्ठतालुशिरोहते ।
निषीदन्ति स्वरास्सर्वे निषादस्तेन कथ्यते ॥४७॥

(इति स्वरनिरुक्ति ।)

चतुःश्रुतिस्वरा विप्रास्त्रिश्रुतो[7] क्षत्रियौ मतौ ।
वैश्यौ द्विश्रुतिकौ ज्ञेयौ शूद्रौ चान्तरकस्वरौ ॥४८॥

नाभि से उत्थित और हृदय से समाहत वायु मध्य स्थान में उत्पन्न होने के कारण मध्यम कहलाता है ॥४४ ॥

नाभि से समुत्थित वायु ओष्ठ, कण्ठ, शिर और हृदय इन पाँच स्थानों मे उत्पन्न होने के कारण पञ्चम कहा गया है ॥४५॥

नाभि से उत्थित वायु कण्ठ, तालु, शिर और हृदय रूपी उस स्थान पर धृत होने के कारण धैवत कहलाता है ॥४६॥

नाभि से समुत्थित वायु के द्वारा कण्ठ, तालु और शिर का स्पर्श होने पर जिस स्वर से सब स्वरो की समाप्ति हो जाती है, वह निषाद कहा जाता है ॥४७॥

(यह स्वर-निरुक्ति सम्पन्न हुई ।)

चतुःश्रुति स्वर ब्राह्मण, त्रिश्रुति स्वर क्षत्रिय, द्विश्रुति स्वर वैश्य और अन्तर स्वर शूद्र हैं ॥४८॥

---

१ (क) हृदयोष्ठ। २. (क) मध्यस्थान भवत्वाच्च । ३. (क) मध्यमस्तेन ।
४. (क) पञ्चम स्थान सजात । ५ (क) सम्मत । ६. (क) षष्ठस्थाने धृतो ।
७. (क) त्रिश्रुति ।

इति स्वरजातय ।)

मध्यम[1] पञ्चमभूयिष्ठं कार्य्यं[2] शृङ्गारहास्ययोः ।
षड्जर्षभप्रायकृतं[3] वीररौद्राद्भुतेषु[4] च ॥४९॥
गान्धारसप्तमप्रायं[5] करुणे गानमिष्यते ।
तथा [6]धैवतभूयिष्ठं बीभत्से [7]सभयानके ॥५०॥

(इति रसानुसारिस्वरविनियोगः ।)

स्वराणां मूर्च्छनातानजातिजात्यंशकात्मनाम् ।
व्यवस्थितश्रुतीनां हि समूहो ग्राम इष्यते ॥५१॥
[8]समूहवाचिनौ ग्रामौ स्वरश्रुत्यादिसयुतौ ।

(ये स्वरो की जातियाँ हुई ।)

शृंगार और हास्य में मध्यमबहुल या पञ्चमबहुल, वीर, रौद्र और अद्भुतरस में षड्जबहुल या ऋषभबहुल, करुणरस में गान्धारबहुल और निषादबहुल तथा बीभत्स और भयानक रस में धैवतबहुल गान करना चाहिये ॥४९-५०॥

(यह स्वरों का रसानुसारी विनियोग हुआ ।)

मूर्च्छना, तान, जाति और जाति के अंशभूत व्यवस्थित श्रुतियुक्त स्वरों का समूह ग्राम कहलाता है ॥५१॥

स्वर और श्रुति इत्यादि से युक्त दोनों ग्राम समूहवाची हैं ।

१ (क) षड्जपञ्चमभूयिष्ठा ।
२ (क) कार्य्या ।
३. (क) प्राकृतं ।
४. (क) स्येषु च ।
५. (क) स्स ।
६. (क) दैवतभूयष्ठं ।
७. (क) मतूनके ।
८. (क) समूह वाचे नो ग्रामौ ।

द्वौ[1] ग्रामौ विश्रुतौ लोके षड्जमध्यमसंज्ञितौ ।।५२।।
केचिद्गान्धारमप्याहुः स तु नेहोपलभ्यते ।
(इतिग्रामाः)
मूर्च्छना[2] शब्दनिष्पत्ति र्मुर्छामोहे समुच्छ्रये ।।५३।
मूर्च्छ्यतेयेन[3] रागो हि मूर्च्छनेत्यभिसंज्ञिता ।
आरोहणावरोहण[4]क्रमेण स्वरसप्तकम् ।।५४।।
मूर्च्छनाशब्दवाच्यं हि विज्ञेयं तद्विचक्षणैः ।[5]
सप्तानां क्रमयुक्तानां स्वराणां[6] यस्समुच्छ्रयः ।।५५।।
सा मूर्च्छना प्रतिग्रामं सप्तधा परिकीर्तिता ।

सा च मूर्च्छना द्विविधा सप्तस्वरमूर्च्छना द्वादशस्वरमूर्च्छना चेति । अष्टाविंशति मूर्च्छनाना नामानि कथ्यन्ते ।

लोक में षड्ज ग्राम और मध्यम ग्राम नामक दो ग्राम प्रसिद्ध हैं। कुछ लोग गान्धार ग्राम की भी चर्चा करते है, वह उपलब्ध नही होता ।५२।

(ये ग्राम हुए।)

'मोह' 'समुच्छ्र' (उभार) का बोध कराने वाली 'मूर्च्छा' धातु से मूर्च्छना शब्द की निष्पत्ति हुई ।।५३।।

क्योकि इससे राग उभरता है, इसलिए इसे 'मूर्च्छना' कहा गया है। आरोह और अवरोह से युक्त क्रम पूर्ण स्वर सप्तक मूर्च्छना शब्द का अर्थ है यह विद्वान् व्यक्तियो को समझ लेना चाहिये, यह क्रम युक्त सात स्वरों का समुच्छ्रय (उभार) है ।।५४।।

यह मूर्च्छना प्रत्येक ग्राम में सात प्रकार की है।

वह मूर्च्छना दो प्रकार की है, सप्त स्वर मूर्च्छना और द्वादशस्वर मूर्च्छना। अट्ठाईस (चौदह सप्त स्वर और चौदह द्वादश स्वर) मूर्च्छनाओं के नाम कहे जाते है।

---

१. (क) यथा कुटुम्बिन. सर्व एकीभूता वसन्ति हि। सर्वलोकेषु (कस्य ?) तौ ग्रामौ यत्रानित्य-व्यवस्थितौ (यत्रनित्य व्यवस्थितिः ?)।
२. (क) मूर्च्छा मोहसमूच्छ्राय.। ३. (क) मूर्च्छते ये नगारेऽपि मूर्च्छना व्यभिसंज्ञिता।
४. (क) अथारोहावरोहेण। ५. (क) विलक्षणम्। ६. (क) स्वराणां।

उत्तरमन्द्रा, रजनी, उत्तरायता, शुद्धषड्जा, मत्सरीकृता,[1] अश्वक्रान्ता,[2] अभिरुद्गता,[3] एतानि सप्त षड्जग्राममूर्च्छनानामानि । सौवीरी, हारिणाश्वा, कलोपनता, शुद्धमध्यमा मार्गी, कौरवी, हृष्यका[4] एतानि सप्त मध्यमग्राममूर्च्छनानामानि । एतान्येव द्वादशस्वरमूर्च्छनाना नामानि ।

उभयग्रामषाडव[5] मूर्च्छना एकोनपचाशत्, औडुवमूर्च्छना:[6] पञ्चत्रिंशत् ।

(इति चतुरशीतिमूर्च्छनाः ।)

एवं यज्ञनामानि वदन्ति । ननु तानयज्ञाना[7] कथमेकत्र[8] व्यवहारः । उच्यते-एकस्मिन्नपि तान उच्चरिते अग्निष्टोमादियागानामेकैकस्य फलोपलब्धे गायकानां यज्ञतानमिति नाम प्रसिद्धम् ।

षड्भिः स्वरै या गीयते षाडवा, पञ्चभि स्वरैर्या गीयते सा औडुवा ।

उत्तरमन्द्रा, रजनी, उत्तरायता, शुद्धषड्जा, मत्सरीकृता, अश्वक्रान्ता और अभिरुद्गता ये सात षड्जग्राम की मूर्च्छनाओ के नाम है । सौवीरी, हारिणाश्वा, कलोपनता, शुद्धमध्या, मार्गी, कौरवी और हृष्यका ये सात मध्यमग्राम की मूर्च्छनाओं के नाम है ।

यही नाम द्वादशस्वर मूर्च्छनाओं के है ।

दोनो मे षाडव मूर्च्छनाएं उनचास और ओडुव मूर्च्छनाएँ पेंतीस होती है ।

(ये चौरासी मूर्च्छनाएँ हुई ।)

इसी प्रकार यज्ञ (वाचक तानो के) नाम कहे जाते हैं । तान और यज्ञ का एकत्र व्यवहार क्यो है ? उत्तर है कि एक एक तान का उच्चारण करने पर अग्निष्टोम इत्यादि यज्ञों में से एक एक का फल गायक को मिलता है, इसलिये यज्ञतान नाम प्रसिद्ध है ।

छः स्वरों से युक्त गाई जाने वाली (तान और मूर्च्छना) षाडव है और पाँच स्वरों से गाई जाने वाली औडुव ।

---

१. (क) मत्सरा । २ (क) अपक्रान्ता । ३. (क) रुद्रगता । ४. (क) ह्राष्टका । ५. (क) ग्रावषाड्व । ६. (क) औडव । ७. (क) तानयज्ञां । ८. कथन

औडुवं द्विविधम्,[1] शुद्धं संसर्गजञ्चेति। एकजात्याश्रयं शुद्धम्, अन्यत् संसर्गजं भवेत्।

संसर्गजं द्विधा प्रोक्त जातिसाधारणाश्रितम् ॥५६॥

काकल्यन्तरस्वरैर्या गीयते सा साधारणा।

साधारणं द्विविधम्, जातिसाधारण स्वर साधारणं चेति।

ननु कथं मूर्च्छनातानयोर्भेदः प्रतिपादितः, उच्यते—

आरोहावरोहणक्रमयुक्तः[2] स्वरसमुदायो मूर्च्छनेत्युच्यते[3]। तानस्तु आरोहक्रमेण भवतीति भेद। तत्तानसंख्या पञ्चसहस्राणि चत्वारिंशच्च भवति। किमस्ति तानकथनेन कार्य्यम्? उच्यते-ठायानां करणत्वात्।

इति तानकथनम्

सकलस्य रागादे जन्महेतुत्वाज्जातयः[4] श्रुतिस्वरग्रहादिसमूहाज्जायन्ते,[5] अतो जातय इत्युच्यन्ते। यद्वा जातय इव जातय यथा नराणां ब्राह्मणादयो जातयः, शुद्धाविकृताश्च एवमत्रापि।

औडुव दो प्रकार का है, शुद्ध और संसर्गज। एक जाति के आश्रित शुद्ध है और दूसरा संसर्गज है।

जाति और साधारण के आश्रित संसर्गज भी दो प्रकार का है।

काकली और अन्तर स्वरों से गाई जाने वाली (तान और मूर्च्छना) 'साधारण' है।

'साधारण' दो प्रकार का है, 'स्वरसाधारण' और 'जातिसाधारण'।

मूर्च्छना और तान का भेद कैसे प्रतिपादित किया गया है? उत्तर है कि क्रमश आरोहावरोहयुक्त, स्वरसमुदाय मूर्च्छना है। तान आरोहक्रम मात्र से होता है, यही भेद है। उन तानों की संख्या पाँच हजार चालीस है। तान-कथन से क्या प्रयोजन है। उत्तर है, ठायो (राग वाचक) स्वर समुदायो का कारण होने के कारण तानो का कथन किया गया है।

(यह तान कथन हुआ।)

समस्त राग इत्यादि के जन्म का कारण होने के कारण 'जातियों' की यह संज्ञा है। श्रुति, स्वर, ग्रह इत्यादि के समूह से जन्म लेने के कारण जातियाँ 'जाति' कहलाती है। अथवा जिस प्रकार मनुष्यों की "ब्राह्मण" इत्यादि जातिया हैं, उसी प्रकार ये जातियां भी हैं। इनमें भी शुद्ध और विकृत हैं।

---

१ (क) द्विविधा। २ (क) व्यवरोहण। ३ (क) मुर्च्छने।
४. (क) जन्य। ५ (क) हा।

षाड्जी, आर्षभी, गान्धारी, मध्यमा,[1] पञ्चमी,[2] धैवती,[3] नैषादी[4] सप्तैताः शुद्धजातयः।

[5]षड्जकैशिकी, षड्जोदीच्यवा, षड्जमध्यमा, रक्तगान्धारी, गांधारोदीच्यवा, मध्यमोदीच्यवा, गान्धारपञ्चमी, नन्दयन्ती,[6] आन्ध्री, कार्मारवी,[7] कैशिकीत्येकादश विकृतजातयः।

एकस्वरो द्विस्वरश्च[8] त्रिस्वरोऽथ चतुः स्वरः।

पञ्चस्वरश्चतुर्धास्यादेकधा सप्तषट्स्वरौ ॥५७॥

इति जातीनामंशास्त्रिषष्टिर्भवन्ति।

(इति ब्रह्मवक्त्र विनिर्गतसामवेदसमुद्भवाष्टादशजाति नामानि।

॥ अथ जातिसमुद्भूतबहुविधरागकथनम् ॥

स्वरवर्णविशिष्टेन ध्वनिभेदेन वा पुनः।

रज्यते येन सच्चित्तं स रागः सम्मतः सताम् ॥५८॥

(इति रागनिरुक्ति)

षाड्जी, आर्षभी, गान्धारी, मध्यमा, पंचमी, धैवती और नैषादी ये सात शुद्ध जातियाँ तथा षड्जकैशिकी, षड्जोदीच्यवा, षड्जमध्यमा, रक्त गान्धारी, गान्धारोदोच्यवा, मध्यमोदीच्यवा, गान्धारपञ्चमी, नन्दयन्ती, आन्ध्री, कार्मारवी और केशिकी ये ग्यारह विकृत जातियाँ है।

(एक अशस्वर तीन जातियो में होता है ऐसी तीन जातियों का 'गण') एकस्वर, (दो दो अश स्वर तीन जातियो में होते हैं, उनका 'गण') द्विस्वर, (तीन तीन अश स्वरोंवाली तीन जातियों का गण) त्रिस्वर, (चार चार अंश स्वरो वाली तीन जातियों का गण) चतुस्वर, (पाँच अंश स्वरों वाली चार जातियो का 'गण') पञ्चस्वर, (छ अंश स्वर और सात अंश स्वर वाली एक एक जाति) षट्स्वर और सप्तस्वर होता है।॥५७॥

इस प्रकार जातियों के कुल अश स्वर तिरसठ होते हैं।

(ये ब्रह्ममुखविनिर्गत सामवेदोत्पन्न अठारह जातियो के नाम हुए।)

जातिसमुद्भूत राग का कथन—

स्वर और वर्णविशेष अथवा ध्वनिभेद से जिसके द्वारा सज्जनों के चित्त का रञ्जन हो, वह राग है।

(यह रागनिरुक्ति हुई)

---

१. (क) माध्यमी। २. (क) पाञ्चमी। ३. (क) दैवती। ४. (क) नैषदी।
५. (क) षडजा कैशिकी। ६. (क)नन्दयति। ७.(क)कामीर। ८.(क) द्विस्वरोऽपि।

षड्जग्रामो[1] भवेदादौ मध्यमग्राम एव च ।
कैशिक:[2] पञ्चमश्चैव तथा कैशिकमध्यम:[3] ॥५९॥

साधारित:[4] षाडवश्च सप्तैते शुद्धसंज्ञका: ।
भिन्नषड्जस्तथाभिन्नपचमो भिन्नकैशिक:[5] ॥६०॥

भिन्नतानसमाख्यश्च भिन्नकैशिकमध्यम:[6] ।
पञ्चैते भिन्नरागा:[7] स्यु गौडराग. प्रवक्ष्यते ॥६१॥

गौडकैशिक इत्येषस्तत:[8] स्याद्गौडपञ्चम: ।
गौडकैशिकमध्योऽन्यस्त्रयो गौडा[9] भवन्त्यमी ॥६२॥

षाडवो[10] वोट्टरागश्च[11] तथा मालवकैशिक: ।
टक्ककैशिकहिन्दोलौ तथा मालवपञ्चम: ॥६३॥

सौवीरष्टक्करागश्चेत्यष्टौ रागाश्च[12] वेसरा: ।
नर्ताख्य[13] ककुभ· षड्जकैशिक.[14] शकसंज्ञक[15] ॥६४॥

षड्जग्राम, मध्यमग्राम, कैशिक, पञ्चम, कैशिकमध्यम, साधारित और षाडव ये सात शुद्ध राग है ॥५९॥

भिन्नषडज, भिन्नपाचम भिन्नकैशिक, भिन्नतान तथा भिन्नकैशिक मध्यम ये पाँच भिन्नराग है ।

अब गौडराग कहे जाते है ॥६०॥

गौडकैशिक, गौडपञ्चम, गौडकैशिकमध्यम, ये तीन 'गौड' राग है ।

षाडव, वोट्ट, मालवकैशिक, टक्ककैशिक, हिन्दोल, मालवपञ्चम, सौवीर और टक्क ये आठ 'वेसर' राग है ।

नर्त, ककुभ, पड्जकैशिक शक, रूप साधारित, भम्माणपचम और गान्धारपञ्चम ये सात साधारण राग है ॥६१-६४॥

---

१ (क) षड्जग्रामौ । २ (क) कैशिकी । ३ (क) भिन्नकैशिकिमध्यम ।
४ (क) मादारित । ५ (क) कैशि॰ी । ६ (ज) कैशिकिमध्यमा ।
७ (क) भिन्नना । ८ (क) तेतस्तत । ९ (क) गौडी । १० (क) साडवो ।
११ (क) भाट्ट । १२ (क) रागश्च । १३. (क) वल्लाख्य । १४. (क) षड्ज कैशिकी ।
१५ (क) शकच्छज्ञक ।

रूपसाधारितश्चैव तथा भम्माणपञ्चमः[1] ।
गान्धारपञ्चमश्चैते[2] सप्त साधारणा मताः ॥६५॥

रेवगुप्तस्तथानागगान्धारष्टक्कसैन्धवः ।
[3](पञ्चमषाडवश्चान्यस्तिलकः शकपूर्वकः ।)
पञ्चमो रागराजोऽन्य[4] उपरागाः षडीरिताः ॥६६॥

॥ इति ग्रामरागाः ॥

गीयत इति गीतम् । मद्रकम्,(अपरान्तकम्), उल्लोप्यम्,(प्रकरी,) ओवेणकम्,[5] गोविन्दकम्,[6] (उत्तरम्) (इति सप्त गीतकानि) (छन्दकम्,) आसारितम्, वर्धमानकम्, पाणिकम् ऋक्, गाथा, साम, इति सप्त गीतानि[7] ।

रेवगुप्त, नागगान्धार, टक्कसैन्धव, [पञ्चम षाडव, शकतिलक] और रागराजपञ्चम (कोकिलापञ्चम ? भावनापचम ? या नाग पञ्चम ?) ये छः (आठ) उपराग है ।

(ये ग्रामराग हुए ।)

जो गाया जाता है, वह 'गीत' है ।

मद्रक, अपरान्तक, उल्लोप्य, प्रकरी, ओवेणक, रोविन्दक और उत्तर ये सात 'गीतक' और छन्दक, आसारित, वर्धमानक, पाणिक, ऋक्, गाथा और साम ये सात 'गीत' है ।

---

१ (क) भूमाल पञ्चम ।
२ (क) गाल रा ।
३ (क) एपा कोष्ठकान्तर्गता पंक्ति व्याख्यातृकृता ग्रन्थस्य खण्डितत्वात् ।
४ (क) रागराजान्य ।
५ (क) रेणुकम् ।
६. (क) ननिन्दम् ।
७. (क) कोष्ठकान्तर्गतानानिनामान्यादर्शे न सन्ति, व्याख्यातृकृता ग्रन्थान्तराद् गृहीतानि ।

अस्याधिकरणस्य सशोधनमुपजीव्याचार्य्यग्रन्थवाक्यमाश्रित्य कृतम् । सिंह भूपालोद्धृतानि पार्श्वदेववचनान्यप्यवलोकतानि । अधिकरणेऽस्मिन् ग्रन्थकर्त्रा मतंगवाक्यानि तथैव समुद्धृतानि । केचन श्लोका नाटयशास्त्रादप्युद्धृताः ।

इति श्रीमदभय चन्द्रमुनीन्द्रचरणकमलमधुकरायित-
मस्तकमहादेवार्य्यशिष्यस्वरविद्यायुक्त सम्य-
क्त्वचूडामणि भरतभाण्डीकभाषाप्रवीण
श्रुतिज्ञानचक्रवर्तिसंगीताकरनाम-
धेयपार्श्वदेवविरचिते संगीत-
समयसारे
प्रथमाधिकरणम्

श्रीमद् अभयचन्द्र मुनीन्द्र के चरण-कमलों में मधुकरवत् आचरण करने वाले मस्तक से युक्त महादेव आर्य के शिष्य, स्वर विद्या से युक्त, सम्यक्त्वचूडामणि, भरतभाण्डीकभाषाप्रवीण, श्रुतिज्ञान चक्रवर्ति, सङ्गीताकर नाम वाले पार्श्वदेव द्वारा विरचित सङ्गीत समयसार का प्रथमाधिकरण पूर्ण हुआ।

।।प्रथम अधिकरण समाप्त ।।

द्वितीयाधिकरणम्

अथ देशिरुच्यते । तस्य लक्षणं किम् ? उच्यते ।

देशिलक्षणम्—

अबलाबालगोपालक्षितिपालैर्निजेच्छया ।
गीयते सानुरागेण स्वदेशेदेशिरुच्यते ॥१॥*

(इन्द्रमाला)

देशेषु देशेषु नरेश्वराणां रुच्याजनानामपि[1] वर्तते या ।
गीतं च वाद्यं च तथा च नृत्त देशीतिनाम्ना परिकीर्तिता सा ॥२॥*

सा देशी द्विविधा [प्रोक्ता ।] शुद्धसालगभेदतः ।
सप्तस्वरेष्वसौ गीतवाद्यनृत्तेषु कीर्तिता ॥३॥●

(दूसरा अधिकरण)

अब देशी कहा जाता है । उसका लक्षण क्या है ? उत्तर है .—

अपने अपने देश मे, नारियो, बच्चो, ग्वालो और नरेशो के द्वारा अपनी इच्छा के अनुसार अनुरागपूर्वक जो गाया जाता है, वह देशी है ॥१॥

जो गीत, वाद्य और नृत्त विभिन्न राजाओ के देश मे लोगो की रुचि के अनुसार व्यवहार में आता है, वह देशी है ॥२॥

'शुद्ध' और 'सालग' इन दो भेदों के कारण देशी दो प्रकार का है, यह देशी सातों स्वरों के आश्रित गीत, वाद्य और नृत्त में बताया गया है ॥३॥

---

* मतङ्गोक्तिः । * जगदेकोक्तिर्भरतकोषस्य २८२ पृष्ठे समुद्धृता ।
● व्याख्यातृनिर्मिता पंक्ति. । १ (क) यच्चाप्जनानामपि वर्ततेया ।

प्रमाणनियमैश्शुद्धश्चित्तधर्मस्तु सालगः[1] ।
गीतस्यानुगत वाद्यं, नृत्त वाद्यानुगामि तत् ॥४॥

त्रिविधा स्वराः—

तस्माद्गीतस्य मुख्यत्व प्रवदन्ति मनीषिणः ।
सप्तस्वरमय गीत स्वरास्ते त्रिविधा मता ॥५॥

सचेतनोद्भवाः केचित् केचिन्निश्चेतनोद्भवाः ।
उभयप्रभवा केचित् मुख्यास्तेषु शरीरजाः ॥६॥

शरीराद्विध्वनि सचेतन वीणादिध्वनिरचेतनः, सुषिरादिध्वनि-रुभयप्रभव इति वदन्ति सर्वे, अहमेव वदामि—

चेतनोद्भवा एवोभयप्रभवास्सर्वे, कुत ? वीणादेरपि पुरुषप्रयत्न पूर्वकत्वात् । अचेतनस्तु हठात् काष्ठादिसयोगाद्वा युनिना (?) वा प्रवर्तते ।

प्रमाण और नियम से युक्त 'शुद्ध' और चित्तधर्म्म के अनुसार (यथारुचि) व्यवहृत 'सालग' है ।

गीत का अनुगामी वाद्य और वाद्य का अनुगामी नृत्त' है, इसीलिए विद्वान् लोग गीत की मुख्यता कहते है ।

गीत सप्तस्वरमय है. और स्वर त्रिविध है ॥४,५॥

कुछ स्वर सचेतनोद्भव कुछ निश्चेतनोद्भव और कुछ (सचेतन और अचेतन) दोनों से उत्पन्न है । उनमे शरीरज मुख्य है ॥६॥

शरीर इत्यादि की ध्वनि सचेतन, वीणा आदि की ध्वनि अचेतन तथा वंशी इत्यादि की ध्वनि (मनुष्य के श्वास और नली के सयोग से उत्पन्न होने के कारण) उभयप्रभव है, ऐसा सभी कहते है । मै यो कहता हू —

सभी उभयप्रभव स्वर सचेतन ही है, क्यो ? वीणा भी पुरुष के प्रयत्न से ही स्वर उत्पन्न करती है । अचेतन स्वर तो अकस्मात् काष्ठ इत्यादि के योग से उत्पन्न होता है ।

---

१ (क) साधक ।

शरीरान्नादसम्भूतिः गीतन्नादात्प्रवर्तते ।
नादबिन्दुस्वरा रागाः सम्भवन्ति शरीरतः ॥७॥

पिण्डोत्पत्ति :—

शरीरः पिण्डइत्युक्तः ततः पिण्डो निरूप्यते ।
शुक्लरक्ताम्बुनासिक्तं चैतन्यबीजमादिमम्[1] ॥८॥

एकीभूत तथा काले यथाकालेऽवरोहति[2] ।
एकरात्रेण कलल[3] पञ्चरात्रेण बुद्बुदम् ॥९॥

शोणितं दशरात्रेण मांसपेशी चतुर्दशे ।
घनमांसञ्च[4] विशाहे गर्भस्थो[5] वर्द्धते क्रमात् ॥१०॥

पञ्चविंशतिपूर्णैश्च पल सर्वाङ्कुरायते ।
मासेनैकेन पूर्णेन त्वञ्चत्वादीनि धारयेत् ॥११॥

शरीर से नाद का जन्म होता है, गीत नाद से जन्म लेता है। नाद, बिन्दु, स्वर, और राग शरीर से ही उत्पन्न होते है। शरीर को पिण्ड कहा जाता है, अत पिण्ड का निरूपण किया जाता है। आदिम चैतन्य बीज शुक्ल और रक्त जल (वीर्य्य और रज) से सिञ्चित विशिष्ट काल में एकीभूत होता और समय आने पर जन्म लेता है। एक रात्रि मे 'कलल' पाँच रात्रियों में 'बुद्बुद', दस रात्रियों में 'शोणित', चौदह रात्रियो में मासपेशी, बीस दिन मे घन मास, इस ढग से गर्भस्थ शिशु क्रमश· बढ़ता है ॥७-१०॥

पच्चीस दिन पूर्ण होने पर वह गर्भ समस्त अंकुरो से युक्त हो जाता है, एक मास पूर्ण होने पर त्वचा इत्यादि आने लगते है ॥११॥

---

१ (क) वीजवादिकम् ।
२ (क) तथाकाले ।
३. (क) कलिलं ।
४. (क) घनमांसं च ।
५. (क) गर्भस्था ।

मासद्वये तु सम्प्राप्तेमासमेदः प्रजायते ॥
मज्जास्थीनि त्रिभिर्मासैः केशाङ्गुल्यश्चतुर्थकैः ॥१२॥
कर्णाक्षिनासिकाचास्यरन्ध्रं मासे तु पञ्चमे ।
सर्वाङ्गसन्धिसम्पूर्णमष्टभि सम्प्रजायते ॥१३॥
मासे च नवमे प्राप्ते गर्भस्थ स्मरति स्वयम् ।
जुगुप्सा जायते गर्भे गर्भवासं परित्यजेत् ॥१४॥
रक्ताधिके भवेन्नारी नर शुक्राधिके भवेत् ।
नपुसकस्समे[1] द्रव्ये त्रिविध. पिण्डसम्भव ॥१५॥
मज्जास्थिशुक्रधातोश्च[2] रक्त[3]रोमफल तथा ।
पञ्चकोषमिद[4] पिण्ड पण्डितै समुदाहृतम् ॥१६॥
(इति पिण्डोत्पत्ति ।)*

दो मास मे मास और मेद उत्पन्न हो जाता है तीन मास मे मज्जा और अस्थि तथा चौथे मास में केश और अगुलियाँ निर्मित हो जाती है ॥१२॥

पाँचवे मास मे कान, आँख, नासिका, मुख इत्यादि के रन्ध्र बन जाते है, तथा समस्त सन्धियो से युक्त सम्पूर्ण शरीर आठ मास में बन जाता है। नवाँ महीना लगने पर गर्भस्थ जीव स्वयं स्मरण करता है, उसे गर्भ मे जुगुप्सा होती है कि गर्भ का परित्याग करना चाहिए ॥१३,१४॥

(रक्तरज) अधिक होने पर नारी, और वीर्य्य के अधिक होने पर पुरुष होता है। यदि वीर्य्य और रज समान हों, तो नपुसक की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार यह पिण्ड तीन प्रकार का है ॥१५॥

पण्डितो ने इस पिण्ड को मज्जा, अस्थि, शुक्र, धातु, रक्त और रोम का फल एव पञ्चकोष युक्त भली प्रकार से कहा है ॥१६॥

(यह पिण्डोत्पत्ति कही गई।)

---

१ (क) नपुसस्सम द्रव्यं । २ (क) धातुश्च । ३ (क) रक्त ।
४ (क) फाश्कौशिक ।

* नादोत्पत्ति वर्णने प्रायशो मतङ्ग शब्दा एवोद्धृता पार्श्वदेवेन, द्विचता एव शब्दा परिवर्तिता ।

अथ नादोत्पत्तिरुच्यते—

नादोत्पत्तिः यथा शास्त्रमिदानीमभिधीयते ।*
स्वरो गीतं च वाद्यं च तालश्चेति चतुष्टयम् ॥१७॥
न सिद्धयति विना नाद तस्मान्नादात्मक जगत् ।
नादात्मानस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥१८॥●
नाभौ[1] यद् ब्रह्मणः स्थान ब्रह्मग्रन्थिश्च यो मतः ।
प्राणस्तन्मध्यवर्ती स्यादग्नेः प्राणात् समुद्भव. ॥१९॥
अग्निमारुतयोर्योगात्[2] भवेन्नादस्य सम्भवः ।
बिन्दुरुत्पद्यते नादात्[3] नादात्सर्वं च वाङ्मयम् ॥२०॥
नकारः प्राण इत्युक्तो दकारो वन्हिरुच्यते ।
अर्थोऽयं नादशब्दस्य संक्षेपात्परिकीर्तितः ॥२१॥

अब नादोत्पत्ति कही जाती है —

अब शास्त्र के अनुसार नादोत्पत्ति कही जा रही है। स्वर, गीत, वाद्य और ताल ये चारो नाद के विना सिद्ध नही होते, अतः जगत् नादात्मक है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर ये तीनों देव नादात्मक हैं ॥१८॥

नाभि में जो ब्रह्म का स्थान ब्रह्मग्रन्थि कहा गया है, प्राण उसके मध्य में रहता है। प्राण से अग्नि की उत्पत्ति होती है ॥१९॥

अग्नि और वायु के संयोग से नाद की उत्पत्ति होती है। नाद से ही बिन्दु और समस्त वाङमय उत्पन्न होता है ॥२०॥

'नकार' का अर्थ प्राण और 'दकार' का अर्थ अग्नि है, संक्षेप मे नाद का यह अर्थ कहा गया है ॥२१॥

---

* एषा पंक्ति (क) आदर्शे नास्ति ।

● एतदनन्तर (क) आदर्शे ओकारोऽपि पराशक्ति. नादरूपमिदं द्वयामिति श्लोकार्धं उपलभ्यते ।

१. (क) वा चा ।

२. (क) अग्निमारुतसंयोगात् ।

३. (क) नादः ।

पञ्चविधोनादः—

स च पञ्चविधो नादो मतङ्गमुनिसम्मतः ।*
अतिसूक्ष्मश्चसूक्ष्मश्च पुष्टोऽपुष्टश्च कृत्रिम ॥२२॥

अतिसूक्ष्मो भवेन्नाभौ हृदि सूक्ष्मः प्रकाशते ।
पुष्टोऽभिव्यञ्जतं कण्ठे त्वपुष्टः शिरसिस्मृत ॥२३॥

कृत्रिमो मुखदेशे तु स्थानभेदेन भासते ।
अव्यक्तः शिरसीत्युक्त कैश्चित्तान्नोपपद्यते ॥२४॥

(इति मतङ्गोक्त पञ्चविधो नादः)

(अथ ध्वनि)

मन्द्रादिस्थानभेदेन[1] यो नाद स्फुरति स्फुटम् ।
आरोहिक्रमतस्तज्ज्ञैः स[2] एव ध्वनिरुच्यते ॥२५॥

(भ० को०, पृ० ३०३)

मतङ्गमुनि के मत मे नाद पाँच प्रकार का है, अतिसूक्ष्म, सूक्ष्म, पुष्ट, अपुष्ट और कृत्रिम । अतिसूक्ष्म नाद नाभि मे और सूक्ष्म हृदय में प्रकाशित होता है ॥२२॥

पुष्ट नाद कण्ठ मे अभिव्यक्त होता है और अपुष्ट शिर में कहा गया है ॥२३॥

स्थानभेद के कारण कृत्रिम नाद मुख प्रदेश मे भासित होता है । कुछ लोग अव्यक्त नाद सिर मे बताते है, वह उपयुक्त नही है ॥२ ॥

(ये मतङ्गोक्त पञ्चविध नाद-भेद निरूपित हुए ।)

(अब ध्वनि कहते है)

मन्द्र इत्यादि स्थान-भेद से आरोही क्रम के अनुसार जो नाद स्पष्ट-तया स्फुरित होता है, वही 'ध्वनि' कहा जाता है ॥२५॥

---

* पञ्चविधनादोत्पत्ति विषयकाः श्लोका (क) आदर्शे न सन्ति ।

१. (क) मन्नादि ।

२. (ख) स्सव ।

खाहुलो[1] वोम्बकश्चैव[2] नाराटो मिश्रकस्तथा ।
ध्वनिश्चतुर्विधः प्रोक्तो गीतविद्याविशारदैः ॥२६॥

बाहुल्यान्मन्द्र[3]संस्पर्शी माधुर्य्यगुणसंयुतः ।
खाहुल[4] स तु विज्ञेयो गीतविद्याविशारदैः ॥२७॥
(भ० को०, पृ० १२८)

एरण्डकाण्डवद्यश्च[5] [6]क्षणिकांशविवर्जितः ।
नि.सारो बोम्बकः[7] स्थूलो बाहुल्येन[8] तु मध्यभाक् ॥२८॥
(भ० को० पृ० ४१५)

बाहुल्यात्तारसस्पर्शी[9] माधुर्य्यगुणवर्जितः ।
नाराटोऽय परिज्ञेयो ध्वनिभेदविशारदै.[10] ॥२६॥

गीतविद्याविशारदो ने चतुर्विध ध्वनि खाहुल, वोम्वक, नाराट और मिश्रक बतायी है ॥२६॥

गीतज्ञो को वह ध्वनि 'खाहुल' समझना चाहिये, जो प्राय मन्द्र स्थान का स्पर्श करने वाली और माधुर्य्यगुणयुक्त हो ॥२७॥

वह ध्वनि 'वोम्बक' है जो 'एरण्डकाण्ड' (अंडउए की शाखा) की भाँति क्षणिकाशविवर्जित (गूदे से हीन) और निस्सार (खोखली, झिर-झिरी) तथा प्राय. मध्यस्थानीय हो ॥२८॥

ध्वनिभेद के मर्मज्ञो ने प्राय तारस्थान का स्पर्श करने वाली और माधुर्य्य गुण वर्जित ध्वनि को 'नाराट' कहा है ॥२६॥

---

१. (क) ताउलो, (ख) काबुलो ।
२ (क) लाम्बल , (ख) वम्बलश्चैव ।
३ (ख) मत्र । ४ (ख) खायुल । ५ (क) मद्यत्र ।
६ (क) खाणिकास, (ख) खाणिकाम ।
७. (क), (ख), वम्बल ।
८. (क) त्वाहुवेनैवतु मध्यम., (ख) बहुलो न तु मध्यभाक् ।
९. (क) सस्पर्षि ।
१०. (क) गीतध्वनिविशारदै. ।

एतद्ध्वनिगुणोन्मिश्रो[१] यत्र सोऽयं तु मिश्रकः ।
नाराटखाहुलश्चैको[२] मिश्रः खाहुलवोम्बकः[३] ॥३०॥
(भ० को०, पृ० ४६४)
नाराटवोम्बकश्चैव[४] ध्वनिर्यत्र स मिश्रकः ।
इति मिश्रध्वनिः प्रोक्तः चतुर्धा गीतवेदिभिः ॥३१॥
(इति ध्वनि)*

अथ शारीरलक्षणम् —●
अन्तरेण[५] यदभ्यास[६] रागव्यक्तिनिबन्धनम् ।
शरीरेण सहोत्पन्न[७] शारीरं[८] परिकीर्तितम् ॥३२॥

शारीरभेदा :—
चतुर्विधं भवेत्तच्च कडालं,[९] मधुर तथा ।
पेशलं[१०] बहुभङ्गीति[११] तेषा लक्षणमुच्यते ॥३३॥
(भ० को०, पृ० ५६)

जिसमे इन ध्वनियो की विशेषताओ का मिश्रण हो, वह 'मिश्रक' है। मिश्रक के भेद 'नाराटखाहुल' 'खाहुलवोम्बक' और 'नाराटवोम्बक' है। गीतज्ञो ने इस प्रकार चतुर्विध मिश्रध्वनि का वर्णन किया है ॥३०,३१॥
(यह ध्वनि का वर्णन हुआ)
॥ अब शरीर का लक्षण कहते है ॥

जो अभ्यास के विना ही रागव्यक्ति में समर्थ हो, वह शरीर के साथ (सहज रूप से) ही उत्पन्न ध्वनि 'शारीर' कहलाती है ॥३२॥

वह 'शारीर' कडाल (करारा), मधुर, पेशल और बहुभङ्गी इन चार प्रकार का है, उन प्रकारो का लक्षण कहा जा रहा है ॥३३॥

१ (क) एते ध्वनि गुणा मिश्रा । २ (क) वम्बल । (ख) खावल ।
३ (क) बाउल बम्बल, (ख) खावुलवम्बल । ४. (क), (ख) नाराटवम्बलश्चैव ।
* ध्वनिविषयकास्सर्वेश्लोका भरतकोषोद्धृतपार्श्वदेव पाठमनुसृत्य सशोधिता ।
● शारीरलक्षणविषयका पार्श्वदेवकृता श्लोकास्सिह भूपालेन रत्नाकरप्रकीर्णक. ध्यायव्याख्याने समुद्धृता । ५ (ख) आन्तरेण । ६. (क) यथाभ्यास ।
७. (क) समो । ८ (ख) शरीर तत्समीरितम् । ९. (क) कथाल ।
१०. (ख) पावलं, (क) पौशलं । ११. (ख) बहुभरीति ।

स्थानत्रयेऽपि कठिनं कडालं परिकीर्तितम् ।
मन्द्रे मध्ये[1] च माधुर्य्याच्छारीरं मधुरंस्मृतम् ॥३४॥

शारीरं[2] पेशलं ज्ञेयं तारे रागप्रकाशकम् ।
तच्छारीर[3] गुणा मिश्रा यत्र तद्बहुभङ्गिकम् ॥३५॥
(भ० को०, पृ० ३८१,४१७)

कडालमधुरंचैव ततो मधुरपेशलम्
कडालपेशलञ्चैव शारीरं त्रयमिश्रकम् ॥३६॥

एव चतुर्विधंज्ञेयं शारीरं बहुभङ्गिकम् ।
पृथगष्टविधो भेदस्तस्य[4] कण्ठगुणागुणैः ॥३७॥

माधुर्य्यं श्रावकत्वं च स्निग्धत्व घनता तथा ।
स्थानकत्रयशोभा च पञ्च कण्ठगुणा मता. ॥३८॥

तीनो स्थानों में कठिन (वलवान् करारी) ध्वनि 'कडाल' है, जो मन्द्र और मध्य स्थान में मीठी रहे, वह 'मधुर' है ॥३४॥

तार स्थान में राग का प्रकाश करने वाला शारीर 'पेशल' है, इन तीनो प्रकारो के गुण जिसमे मिश्रित हो, वह बहुभङ्गि है ॥३५॥

बहुभङ्गि के चार प्रकार, कडालमधुर, मधुरपेशल, कडालपेशल और कडालमधुरपेशल है ॥३६॥

कण्ठ के (पाँच) गुणो और (तीन) अवगुणों के कारण यह शारीर (पूर्वोक्त भेदो से) पृथक् आठ प्रकार का है ॥३७॥

माधुर्य्य, श्रावकत्व, स्निग्धत्व, घनता और तीनो स्थानो में शोभा ये पाँच कण्ठ के गुण है ॥३८॥

---

१. (क) मान्द्रे ।
२. (क) ज्ञेयं पाचलशारीर (ख) ज्ञेय पौशल शारीरं ।
३. (क) तत्तारिर ।
४. (क) तयो ।

खेटिः खेणिः भग्नशब्द.कण्ठदोषा अमी त्रयः ।
माधुर्य्यगुणसंयुक्ते कण्ठे स्यान्मधुरो ध्वनिः ॥३९॥
श्रावकाख्योभवेत्कण्ठे दूरस्थ श्रावको ध्वनि. ।
स्निग्धकठो ध्वनिस्तारोऽप्यरूक्षस्सरसो भवेत् ॥४०॥
सुस्वरश्चैव सान्द्रश्च घन[1] कण्ठे भवेद् ध्वनिः ।
कठे त्रिस्थानशोभी स्यात् त्रिस्थाने मधुरो ध्वनि· ॥४१॥
केटिः[2] कठे ध्वनिः स्थानत्रयस्पर्शी गुणोज्झित ।
स्थानस्य पूरक. कृच्छात् केणिः[3] कंठे ध्वनि भवेत् ॥४२॥
वानरोष्ट्र खरैस्तुल्यो भग्न[4] कण्ठे भवेद् ध्वनिः ।
एते भेदाः परिज्ञेया शारीरेऽपि विचक्षणै· ॥४३॥
(इति शारीरभेदा)

खेटि, खेणि और भग्नशब्द ये तीन कण्ठ दोष है। माधुर्य्यगुण से सम्पन्न ध्वनि 'मधुर' है, जो दूर से ही सुनाई दे, वह कण्ठध्वनि श्रावक है। तार स्थान मे भी अरूक्ष और सरस ध्वनि स्निग्ध है ॥४०॥

कण्ठ में उत्पन्न होने वाली सुस्वर और सान्द्र 'गाढी' ध्वनि 'घन' है, तीनों स्थानो में शोभित होने वाली मधुर ध्वनि त्रिस्थानशोभी है ॥४१॥

तीनो स्थानो का स्पर्श करने वाली गुणहीन कण्ठध्वनि 'केटि' है। कठिनता से स्थान का पूरण करने वाली ध्वनि 'केणि' है ॥४२॥

वानर, ऊँट और गधे की ध्वनि के समान फटी या फूटी ध्वनि 'भग्न' है। विद्वानो को 'शारीर' मे भी ये भेद समझने चाहिये ॥४३॥

(ये शारीर के भेद हुए।)

---

१. (क) घनकण्ठे ।
२. (क) खेट कण्ठे, (क) खेटि कण्ठी ।
३. (क) खेणिकण्ठे ।
४. (क), (ख) भग्नकण्ठे ।

ध्वनिः क्षेत्रकाकूनामनन्तभेदः[1] स्यात् ।

गीतम् –

ध्वनिशारीरसञ्जातं विचित्रं स्वरवर्तनम् ।
छाया तदाश्रयाचार्य्यैः गीतमित्यभिधीयते ॥ ४४ ॥
अनिबद्धं निबद्धं च गीतं तद् द्विविधं मतम् ।

आलप्तिभेदा :—

[2]आलप्तिरनिबद्धा स्याद्राग[3] रूपकभेदतः ॥ ४५ ॥
सर्वगीतप्रबन्धानामादावालप्तिरिष्यते ।*
सालप्तिर्द्विविधा ज्ञेया विषमा प्राञ्जलेति सा ॥४६॥
साक्षरानक्षरा चेति द्विविधापि चतुर्विधा ।
चतुर्विधाप्यष्टविधा सतालातालभेदतः[4] ॥४७॥

क्षेत्र और काकुओ के भेद से ध्वनिभेद अनन्त होते हैं ।

विभिन्न अन्य साधनो तथा कण्ठ से उत्पन्न ध्वनि तथा स्वर-व्यवहार विचित्र (विशिष्ट) होता है. छाया (ध्वनि का विशिष्ट व्यक्तित्व) उसके आश्रित होता है । (अब) गीत कहा जा रहा है ॥४४॥

वह गीत अनिबद्ध और निबद्ध दो प्रकार का है । आलप्ति अनिबद्ध है, उसके दो भेद रागालप्ति और रूपकालप्ति है ॥४५॥

समस्त गीतों और प्रबन्धो के आरम्भ में आलप्ति वाञ्छनीय है। वह आलप्ति 'प्राञ्जला' और 'विषमा' इन दो प्रकारा की है ॥४६॥

वह द्विविध आलप्ति भी 'साक्षरा' और अनक्षरा के रूप में चार प्रकारों की है, और यह चतुर्विध भी 'सताला' और 'अताला' के भेद से आठ प्रकार की है ॥४७॥

---

१ (क) न भेद. ।

२. (क) आलप्त्याद्यनिबद्ध, (ख) आलप्त्युर्धनिबद्ध ।

३. (क) स्वररागविभेदक., (ख) स्वररागविभेदत ।

* अत आरम्य पंक्तिषट्कं सिंहभूपालेन समुद्धृतम् ।

४. (क) सतालातालभेदक. ।

[1]सा पुनः षोडशविधा शुद्धसालगभेदतः[2] ।
क्रमेण लक्षणं वक्ष्ये तासां लक्ष्यानुसारतः ॥४८॥

शुद्धे विषमालप्तिः —

स्थाय्यादिवर्णसयुक्ता व्यक्ता स्थानत्रयेऽपि च ।
नानालङ्कार[3] सम्मिश्रैरक्षरैर्गमकैर्युता ॥४९॥

विषमस्थापनायुक्ता ग्रहे मोक्षेऽप्यलक्षिता ।
आलप्तिः कथिता[4] शुद्धे विषमा गायकोत्तमैः ॥५०॥

शुद्धे प्राञ्जलालप्तिः—

चतुर्वर्णसमायुक्ता शुद्धरीतिविराजिता ।
प्रयोगैस्मुकरैर्युक्ता स्थानकत्रयरञ्जिता ॥५१॥

यथा समुचितन्यासा[5] सम्भावितचमत्कृतिः ।
एतै गुर्णैर्युता शुद्धे प्राञ्जलालप्तिरीरिता ॥५२॥

यह अष्टविध आलप्ति भी 'शुद्ध' और 'सालग' के भेद से सोलह प्रकार की है। अब मैं लक्ष्य के अनुसार उनके लक्षण कहूंगा ॥४८॥

स्थायी आदि (आरोही, अवरोही और सञ्चारी) वर्णों से युक्त, तीनो स्थानो में व्यक्त, विविध अलकारों से सम्पन्न अक्षरो और गमको से युक्त, विषमस्थापनामय, ग्रह और मोक्ष मे अलक्षित (समझ में न आने वाली) आलप्ति शुद्ध (देशी संगीत) मे 'विषमालप्ति' कही गई है ॥४९,५०॥

चारो वर्णों से युक्त, शुद्धरीतिमय, सुकर प्रयोगो से सवलित, तीनों स्थानो मे रञ्जित, यथोचित न्यास से युक्त, चमत्कार की सम्भावना से ओतप्रोत आलप्ति शुद्ध (देशी सगीत) मे 'प्राञ्जलालप्ति' कही गई है ॥५१,५२॥

---

१. (क) साधन ।
२ (क) शुद्धासालस, (ख) शुद्धसालक ।
३. (क) धाकरै । ४ (क) द्वै ।
५. (क) स । ६ (क) द्वै ।

सालगे विषमालप्ति :—

स्थान[1]वर्णक्रमावृत्तिनियमेन विवर्जिता ।
कोमलैर्गमकैर्युक्तालङ्कारैर्ललितैरपि ॥५३॥
उचितस्थापनालप्तिः [2]सालगे विषमामता ।

सालगे प्राञ्जलालप्ति :—

नानारीतियुता रागसत्वमात्रसमाश्रया ॥५४॥
लीननादा च सोल्लासललितन्यास भूषिता ।
एवं गुणयुतालप्तिः सालगे प्राञ्जला मता ॥५५॥

अनक्षरालप्ति :—

[5]तं, हं, शा, आ, द, नैर्वर्णैरथवामुरजाक्षरैः ।
गीताक्षरैस्समुचितैर्यद्वान्यैरक्षरैरपि[6] ॥५६॥
क्रियते यदि सालप्तिः साक्षरेति निगद्यते ।
[7]सा वाक्षरैर्विरहितानक्षरालप्तिरीरिता ॥५७॥

स्थान, वर्ण, क्रम और आवृत्ति के नियम से रहित, कोमलगमकों और ललित अलंकारो से युक्त, उचित स्थापनामय आलप्ति 'सालग' (देशी सगीत) में विषम कही गई है।

विभिन्न रीतियो से युक्त, राग के प्राण का आश्रय लेने वाली, लीननाद उल्लासयुक्त एव ललित न्यास से विभूषित आलप्ति 'सालग' (देशी संगीत) में 'प्राञ्जला' कही गई है ॥५३,५५॥

तं, ह, शा, आ, द, न, अक्षरों मुरज के पाटाक्षरो से समुचित गीताक्षरों अथवा अन्य अक्षरो से युक्त आलप्ति यदि की जाये, तो 'साक्षरा' कहलाती है, अक्षरहीन होने पर इसे ही 'अनक्षरा' कहा जाता है ॥५६, ५७॥

---

१ (क) तनें । २. (क) सालदे ।
३ (क) राग सञ्वमात्र । ४. (क) स्यास ।
५. (क) तहिंवे प्रदनैर्वर्णे । ६. (क) यद्वानैं ।
७. (क) सेवाक्षरै ।

सतालालप्ति :—

ग्रहत्रयसमायुक्ता लयत्रयसमन्विता ।
[1]अनुयायि समायुक्ता न्यासापन्यासभूषिता ॥५८॥
विकृतांशलयोपेता विदारियतिरञ्जिता
एव गुणगणोपेता[2] [3]तालयुक्ताऽऽलतिर्वरा ॥५६॥

अतालालप्ति —

[4]अतालालप्तिरुद्दिष्टा तालयोगविवर्जिता ।
(इत्यालप्तिभेदास्सलक्षणा)
(अथवर्णालङ्कारा)

वर्णा : -

आलप्तिसश्रया वर्णाश्चत्वारोऽन्वर्थसज्ञका ॥६०॥
स्थायिसञ्चारिणौ[5]चैव [6]तथारोह्यवरोहिणौ ।
एकस्वरपदेगीत स्थायिवर्णोऽभिधीयते ॥६१॥
सञ्चारी स्वरसञ्चारादन्वर्थावितरावपि ।

अलङ्कारा —

वर्णाश्रयास्तु[7] विज्ञेया ह्यलङ्कारास्त्रयोदश ॥६२॥

तीनो ग्रहो, तीनो लयो, अनुयायी, न्यास, अपन्यास, विकृतांश, लय, विदारी और यति से युक्त आलप्ति 'सताला' कहलाती है ॥५८,५६॥

ताल प्रयोग से रहित आलप्ति 'अताला' है ।

(ये आलप्ति के लक्षण सहित भेद समाप्त हुए ।)

(अब वर्ण और अलकार कहे जाते है ।)

आलप्ति के आधार स्थायी, आरोही अवरोही और सञ्चारी ये चार अन्वर्थ है । एक ही स्वर मे युक्त पद पर गाया हुआ 'स्थायी' तथा स्वरो के सञ्चार (आरोहावरोह) से युक्त सञ्चारी है, शेष दोनो अन्वर्थ है । तेरह अलंकार वर्णाश्रित हैं ॥६०,६२॥

---

१ (ख) अनुञ्जायि । २ (क) तौ । ३. (क) बालयत्या इतिर्वरा । ४ (क) आवाला ।
५ (क) णो । ६ (क) तथारोप्यवरोहिणौ । ७. (क) सञ्चादि । ८. (क) स्ति ।

नामतो रूपतश्चैव संक्षेपेण ब्रवीमि तान् ।
प्रसन्नं पूर्वमुच्चार्य्य शनैः[1] सन्दीपयेत् स्वरम् ॥६३॥

प्रसन्नादिर्भवेदेवं प्रसन्नान्तो[2] विलोमतः ।
एवं प्रसन्नमध्यश्च प्रसन्नाद्यन्त एव च ॥६४॥

एते स्थायिन्यलङ्काराश्चत्वारः परिकीर्तिताः ।
[3]क्वचित् स्वरे स्थिर स्थित्वा स्पृष्टा तार ततोऽग्निवत्॥६५॥

प्रत्यागतश्चेत्तत्रैव विन्दु रेकोऽभिधीयते ।
[4]स्यान्निवृत्तप्रवृत्ताख्य तद्वन्मन्द्र स्पृशेद्यदि ॥६६॥

प्रेङ्खोलितं ततो[5]विद्यात्तुल्यकाल गतागतम् ।

उन अलंकारो को सक्षेपपूर्वक नाम और रूप के द्वारा कहता हू। पहले स्वर का 'प्रसन्न' उच्चारण करके उसे धीरे से दीप्त करे, तो 'प्रसन्नादि' अलकार होता है। इसका उल्टा 'प्रसन्नान्त' है। इसी प्रकार (अर्थानुसार) 'प्रसन्नमध्य' और 'प्रसन्नाद्यन्त' भी होते है ॥६३,६४॥

ये चार अलकार स्थायी वर्ण मे होते है।

किसी स्वर पर स्थित होकर अग्नि की लौ के समान तारस्थानीय स्वर को छूकर लौटा जाये, तो 'विन्दु' अलकार होता है। इसी प्रकार यदि मन्द्र का स्पर्श करे, तो 'निवृत्तप्रवृत्त' अलकार होता है ॥६६॥

यदि आना-जाना तुल्य काल युक्त हो तो 'प्रेङ्खोलित' अलकार होता है।

---

१. (क) शयं ।
२. (क) प्रसन्नान्तो ।
३. (क) क्वचि···रे ।
४. (क) स्यान्निवृत ।
५. (क) विद्या ।

क्रमेण परमं तार गत्वा मन्द्रं पतेत्पुनः ॥६७॥
तारमन्द्रप्रसन्नोऽयमलङ्कारो विधीयते ।
[1]मन्द्रादुच्चरिततस्तारमवरुह्य[2] क्रमेण यः ॥६८॥
मन्द्रतारप्रसन्नोऽय, सर्वसाम्यात्समो भवेत् ।
[3]कम्पित कुहरश्चैव रेचकश्च यथाक्रमम् ॥६९॥
एषां तु पञ्च विन्द्वाद्या नित्य सचारिसश्रयाः ।
आरोहणे प्रसन्नादि[4] प्रसन्नान्तोऽवरोहणे ॥७०॥
शेषा अपि यथायोग सर्व वर्णसमाश्रयाः ।
अलङ्कारास्त्रय

(इत्यलङ्कारा ।

अथ गमका :—

तज्ज्ञै· गमका· परिकीर्तिता ॥७१॥
स्वश्रुतिस्थानसम्भूता छाया श्रुत्यन्तराश्रयाम् ।
स्वरो यद् गमयेद् गीतै गमकोऽसौनिरूपिता ॥७२॥
स्फुरित कम्पितोलीनस्तिरिपुश्चाहृतस्तथा। ।

क्रमश तार स्थान जाने पर यदि मन्द्र तक अवरोह हो, तो तार मद्र-प्रसन्न अलकार कहा जाता है। मन्द्र से उच्चारण करके तार तक पहुँचने के पश्चात् अवरोह करके 'मन्द्रतारप्रसन्न' अलकार होता है। सर्वत्र दीपन समान रहने से 'सम' अलकार होता है। क्रमश कम्पित, कुहर और रेचक (रेचित) अलकार होते है ॥६७-६९॥

इनमें से पाँच 'बिन्दु' आदि अलकार सदैव सञ्चारी होते है। आरोह मे प्रसन्नादि और अवरोह मे 'प्रसन्नान्त' अलकार होता है ॥७०॥

शेष अलकार भी आवश्यकता के अनुसार सर्ववर्णाश्रित होते है। ये अलकार तीन प्रकार के हैं।

(ये अलकार सम्पन्न हुए)

(अब गमक कहते है।)

विशेषज्ञो ने गमक बताये है। जो स्वर अपने श्रुतिस्थान पर सम्भूत छवि को अन्य श्रुति की छाया तक पहुँचा दे, वह 'गमक' कहलाता है ॥७१,७२॥

---

१. (क) तारा २. (क) अवरोह। ३. (क) कु···त । ४. (क) प्रसन्नान्ता।

आन्दोलितस्त्रिभिन्नश्च गमकास्सप्त कीर्तिताः ॥७३॥
आरोहिक्रमतो यत्र स्फुरन्ति श्रुतयः क्रमात् ।
अनुद्रुतार्ध[1] वेगेन तमाहुः स्फुरितं बुधाः ॥७४॥
स्वरकम्पो भवेद्यत्र द्रुतद्विगुणवेगतः[2] ।
कम्पितो नाम गमकः स विज्ञेयो मनीषिभि. ॥७५॥
द्रुतमानेन मसृणः स्वरो यत्र विलीयते ।
स्वरान्तरक्रमेणैव स भवेल्लीनसञ्ज्ञकः ॥७६॥
श्रुतयो यत्र वेगेन भ्रमन्त्यावर्तरूपवत् ।
तमाहुस्तिरिपु[3] नाम्ना गमक गीतवेदिन. ॥७७॥
स्वर[4] प्रवर्तते यत्र समाहत्याग्रग[5] स्वरम् ।
आरोहिक्रमत. सोऽयमाहत परिकीर्तित. ॥७८॥

स्फुरित, कम्पित, लीन तिरिपु, आहत, आन्दोलित और त्रिभिन्न ये सात गमक बताये गये हैं ॥७३॥

जहाँ आरोही क्रम से अनुद्रुतार्ध वेग से युक्त, क्रमशः श्रुतियाँ स्फुरित होती है; वह 'स्फुरित' गमक है। जहाँ द्रुत के द्विगुण वेग से स्वरकम्प हो, वह 'कम्पित' गमक है। जहाँ स्वरान्तरक्रम से द्रुतमानयुक्त स्वर विलीन होता है, वह 'लीन' गमक है ॥७४-७६॥

जहाँ वेगपूर्वक श्रुतियाँ भँवर की भांति घूमती है, वहाँ गीतज्ञो ने 'तिरिपु' नामक गमक कहा है ॥७७॥

जहाँ स्वर आरोही क्रम से अग्रिम स्वर का आहनन करके प्रवृत्त होता है, वहाँ आहत गमक होता है ॥७८॥

---

१. (क) अनुश्रुतार्धवेगेन, (ख) अनुद्रुताय वेगेन ।
२ (क) वेदत. ।
३. (क) तिरिपुर्नाम्ना ।
४. (क) स्वरं ।
५. (ख) अग्र ।

आन्दोलनं[1] भवेद्यत्र स्वराणां लघुमानतः ।
आन्दोलिताख्यं गमकं गीतज्ञास्त[2] प्रचक्षते ॥७९॥

स्थानकत्रय[3] संस्पर्शी तत्तत्स्थानगुणैर्युत. ।
अविश्रान्त स्वरोपेतस्त्रिभिन्नगमकः स्मृतः ॥८०॥

(इति गमका·)

(अथगीतभेदा)*

आचार्य्यास्समममिच्छन्ति व्यक्तमिच्छन्ति पण्डिता. ।
स्त्रियो मधुरमिच्छन्ति विकृष्टमितरे जनाः ॥८१॥

उच्चनीचस्वरोपेत न द्रुत न विलम्बितम् ।
पदतालैः सम गीत सममाचार्य्यवल्लभम् ॥८२॥

क्रियाकारकसयुक्त सन्धिदोषविवर्जितम् ।
व्यक्तस्वरसमायुक्तं व्यक्त पण्डितसम्मतम् ॥८३॥

जहाँ 'लघु' मान से स्वरो का आन्दोलन होता है, वहाँ गीतज्ञ 'आन्दोलित' गमक बताते है ॥७९॥

विशिष्ट विशिष्ट स्थान के गुणो से युक्त, अविश्रान्त स्वरयुक्त, त्रिस्थान व्यापीगमक त्रिभिन्न कहलाता है ॥८०॥

(ये गमक हुए)

(अब गीतभेद कहे जाते है)

आचार्य लोग 'सम', पण्डित लोग' 'व्यक्त' नारियाँ 'मधुर' तथा अन्य लोग विकृष्ट गीत पसन्द करते है॥८१॥

उच्च एवं नीच स्वरो से युक्त, न द्रुत और न विलम्बित, पद एव ताल के द्वारा सदृश 'सम' गीत आचार्यों को प्रिय है॥८२॥

क्रियाकारक से युक्त, सन्धि-दोष-विवर्जित, व्यक्तस्वरयुक्त 'व्यक्त' गीत पण्डितो को प्रिय है ॥८३॥

---

१ (क) आन्दोलस्सम्भवेद्यत्र । २. (क) गीतज्ञारस । ३ (क) स्थानकत्रयसस्पर्शि ।

* अतः पर धृता द्वादश श्लोका पार्श्वदेवकृतास्सिहभूपालेन रत्नाकरप्रबन्धाध्याय-व्याख्याने समुद्धृता । अपूर्णे आदर्शद्वये न सन्ति । गीत भेदेऽन्तिम श्लोक 'क' आदर्शस्य वादनिरूपणाध्याये दृश्यते ।

ललितैरक्षरैर्युक्तं शृङ्गाररसरञ्जितम् ।
श्राव्यनादसमोपेत मधुर प्रमदाप्रियम् ॥८४॥
स्वरैरुच्चतरैर्युक्त प्रयोगबहुलीकृतम् ।
विकृष्ट नाम तद् गीतमितरेषां मनोहरम् ॥८५॥
गानमारभटीवृत्या वीरसङ्गतवर्णकम् ।
उच्चनोचस्वर गीत सोत्साहं शूरवल्लभम् ॥८६॥
प्रेमोद्दीप्तपदप्रायं शृङ्गाररसभूषितम् ।
करुणाकाकुसंयुक्तं करुण विरहि प्रियम् ॥८७॥
विपरीतपदैर्युक्त स्वरभङ्गयुपबृंहितम् ।
गीत हास्यरसोदार परिहास विटप्रियम् ॥८८॥
गूढार्थैः परमार्थैश्च ससारसुखमुख्यकैः ।
पदैर्नियोजितं गीतमध्यात्मं योगिवल्लभम् ॥८९॥
शुभवाक्ययुतैर्गीतं शुद्धपञ्चमनिर्मितम् ।
विवाहाद्युत्सवे गेय मङ्गल महिलाप्रियम् ॥९०॥

ललित अक्षरों से युक्त शृंगाररसरञ्जित, श्राव्यनाद सवलित गीत प्रमदाओ को प्रिय है ॥८४॥

उच्चतर स्वरो से युक्त, बहुल प्रयोग सहित, 'विकृष्ट' नामक गीत अन्य लोगों को प्रिय है ॥८५॥

आरभटी वृत्ति से, उच्च नीच स्वरो के द्वारा किया जाने वाला, वीररससंगतवर्णों से युक्त सोत्साह गान शूरवल्लभ है ॥८६॥

प्रेमोद्दीपकपद युक्त, शृंगाररसभूषित, करुणा काकुसहित 'करुण' गान विरहिजनों की प्रिय है ॥८७॥

अटपटे शब्दो से युक्त, स्वरभङ्गिसहित, हास्यरसोदार, परिहासपूर्ण गीत विटों को प्रिय है ॥८८॥

जिनमें प्रकटतया सांसारिक सुख का वर्णन हो, परन्तु जिनका गूढार्थ परमार्थपरक हो, ऐसा अध्यात्मकगीत योगिवल्लभ है ॥८९॥

शुभवाक्ययुक्त, शुद्धपञ्चम राग मे निबद्ध, विवाहादि उत्सव में गेय मंगलगीत महिला प्रिय है ॥९०॥

देवतास्तुति संयुक्तं तत्प्रभावप्रबोधकम् ।
आस्तिक्योत्पादनं गीतं रम्य भक्तजनप्रियम् ॥६१॥

अभ्यवस्थानकं गीतं तालपाटैरलक्षितम् ।
प्रयोगबहुल रूक्षं विषम वादिवल्लभम् ॥६२॥

(इति गीतभेदाः)

इति श्रीमदभयचन्द्रमुनीन्द्रचरणकमलमधुकरायितमस्तक
महादेवार्यशिष्य स्वरविमलविद्यापुत्रसम्यक्त्व
चूडामणि भरतभाण्डीकभाषाप्रवीणश्रुति
ज्ञानचक्रवर्ति सगीताकरनामधेय पार्श्वदेव
विरचिते
संगीतसमयसारे द्वितीयाधिकरणम् ।

देवस्तुति युक्त, देवमाहात्म्य बोधक एव आस्तिक्योत्पादक सुन्दर गीत भक्तजनो को प्रिय है ॥६१॥

अपस्थानयुक्त ताल और पाटो के द्वारा अलक्षित, प्रयोगबहुल तथा रूक्ष एव विषम गीत वादिवल्लभ है ॥६२॥

(गीत-भेद पूर्ण हुए ।)

श्रीमद अभयचन्द मुनीन्द्र के चरण-कमलो मे मधुकरवत् आचरण करने वाले मस्तक मे युक्त महादेव आर्य के शिष्य, स्वर-विद्या से युक्त, सम्यक्त्व चूडामणि, भरतमाण्डीकभाषा प्रवीण, श्रुतिज्ञान चक्रवर्ती, सगीताकर नाम वाले पार्श्वदेव द्वारा विरचित सगीतसमयसार का द्वितीय अधिकरण पूर्ण हुआ ।

(दूसरा अधिकरण समाप्त ।)

तृतीयाधिकरणम्

भाण्डीकभाषयोद्दिष्टा भोजसोमेश्वरादिभिः ।
ठाया[1] लक्षणतः केचिद्[2] वक्ष्यन्ते लक्ष्यसम्भवाः ॥१॥

अथालप्तिर्द्विधा, रागालप्तिः[3] रूपकालप्तिश्च । तत्र रागालप्तिः[4] कथ्यते—

स्वस्थाने प्रथमे कुर्य्यात् स्वरालापादिकं[5] परम् ।
[6]रागाकारन्यस्थाने स्यात्सुरागोऽथ[7] उच्यते ॥२॥

यस्यवशध्वनौ स्निग्धे समीची रक्तिरूर्जिता ।
[8]वाशिक गीततत्वज्ञाः[9] सुरागं कथयन्ति तम् ॥३॥

भोज और सोमेश्वर आदि ने भाण्डीको (गाने-बजाने वालों) की भाषा के अनुसार कुछ प्रचलित 'ठाय' बताये हैं, वे कहे जा रहे है ॥१॥

आलप्ति दो प्रकार की है, रागालप्ति और रूपकालप्ति। उसमें रागालप्ति कही जा रही है।

पहले प्रथम स्वस्थान मे स्वरालाप इत्यादि किया जाना चाहिये, तत्पश्चात् अन्य स्थान में रागालाप होना उचित है। अब 'सुराग' कहा जाता है। ॥२॥

जिसकी स्निग्ध वंशध्वनि मे सम्यक् राग की शोभा हो, उस वांशिक को सुराग कहते हैं ॥३॥

---

१. (क) ठाय (ख) गेय। २ (क) वीक्ष्यन्ते ।

३. (ख) रागलप्तिका रूपतालप्तिश्च ।

४. (ख) रागलप्ति· । ५. सुराङ्गो वांशिक·, (ख) स्वरापापाडिक ।

६. (क), (ख रागाकारमपस्थाने । ७. (क) बाहुरागोऽर्थं ।

८. (क) वांशिके । ९. (क) ज्ञै ।

(शालिनीवृत्तम्)

दिग्धवासो[1] रक्तपीतादिरागैर्ध्वनिस्तद्वच्चित्ररागः[2]स कश्चित् ।
गाने तज्ज्ञा येऽपरं[3]श्लाघमानास्तेषामेव स्वानुभूतिःप्रसिद्धा[4]॥४॥

(इन्द्रवज्रा[5])

छायान्तरकारणम् —

यस्मिन् स्वरे स्थायिनि चारुरागः स्वस्थानकं तत्क्रियते सुखेन ।
अपस्थितिः सौख्यविपर्ययेणच्छायान्तरास्तत्र भवन्ति रागे ॥५॥

सप्तस्वराणां मध्येऽपि स्वरे यस्मिन् सुरागता[6] ।

जीवस्वर —

स जीवस्वर इत्युक्त अंशो वादी च कथ्यते ॥६॥

जीवस्वरस्य सदृशः संवादी[7] स्वर इष्यते ।

संवाद्यनुवादिविवादिनः —

विवादीस्याद् विसदृशः सोऽनुवादी[8] द्वयात्मकः ॥७॥

जिस प्रकार विभिन्न रङ्गों से युक्त वस्त्र रंगबिरंगा होता है उसी प्रकार कोई धुन चित्र (रंगबिरंगे, सङ्कीर्ण) राग से युक्त होती है। गाने में जो ज्ञाता लोग दूसरे की प्रशंसा करते है, उनकी ही स्वानुभूति प्रसिद्ध (समाहृत) है ॥४॥

जिस स्वर के 'स्थायी' होने पर राग सुन्दर रहता है, उसी को सुखपूर्वक स्वस्थानक (राग का आधार) बनाया जाता है। सौख्य (प्रयोक्ता की सुविधा)के विपर्यय से अपस्थिति (उपयुक्तस्थान विहीनता) होती है और ऐसी अवस्था होने पर राग में अन्य रागों की छाया आने लगती है ॥५॥

सातों स्वरों में जो स्वर सुरागता का आधार होता है, वह जीवस्वर, अंश या वादी कहा जाता है ॥६॥

संवादी स्वरजीव स्वर के सदृश (समान श्रुतिक तथा तुल्य श्रुति अनुवादियों से युक्त), विवादी विसदृश (श्रुति संख्या में असमान) और अनुवादी उभयात्मक होता है ॥७॥

---

१. (क) दिग्ध । २ (क) द्वाएनस्त । ३. (क) परं । ४ (क), (ख), प्रसिद्ध ।
५. (क) इन्द्रमाला । ६ (क) स्वरागता । ७ (क) संवादि स्वरमुच्यते ।
८. (क) सोऽनुवादि द्वयात्मक ।

(आर्य्या छन्द)

अनुवादी[1] संवादी[2] जीवस्वरकः[3] कलाविद्भिः ।
बहुतमबहुतरबहवः कार्य्या[4] रागे विलौम्येन ॥८॥
विजानता[5] विवादी सः स्वल्प कार्य्योऽथवा पुनः ।
प्रच्छादनीयो लोप्यो[6] वा मनाक्स्पर्शः स्वरस्य[7] यः ॥९॥

प्रच्छादननिष्कृती—

प्रच्छादनं तदेवाहुर्लोपः[8] सर्वस्य निष्कृति ।

ग्रहन्यासौ —

आदौ यस्मिन् स्वरे रागश्चाल्यते[9] स ग्रहः स्मृतः ॥१०॥
चालयित्वा स्वरे यस्मिन् स[10] न्यास उपवेश्यते ।

अपन्यास :—

रागस्यावयवो यस्मिन् स्वरे समुपवेश्यते ॥११॥

कलामर्मज्ञों को चाहिये कि वे अनुवादी, संवादी और जीव स्वर को विपरीत क्रम से बहुतम, बहुतर और बहुल प्रयुक्त करें ॥८॥

मर्मज्ञ व्यक्ति को विवादी स्वर का अल्प प्रयोग करना चाहिये, किञ्चित् स्पर्श किया जाने वाला स्वर प्रच्छादनीय अथवा लोप्य होना चाहिये। स्वर का किंचित् स्पर्श ही प्रच्छादन है, सर्वथा अभाव निष्कृति है।

जिस स्वर से राग का आरम्भ किया जाता है, वह 'ग्रह' है ॥९,१०॥ आरम्भ के पश्चात् जिस स्वर पर उपवेशन किया जाता है, वह 'न्यास' है, जिस स्वर पर राग के भाग का उपवेशन (ठहराव) होता है, वह गीत लक्षणज्ञों के अनुसार अपन्यास है। ॥११॥

---

१ (क) अनुवादिनि । २ (क) सवादिनि । ३ (क) जीव-वरकेरगविद्भि. ।
(ख) जीवस्वरकेकला वहि । ४ (क) कार्य्या रागा विलोम्येन ।
(ख) कार्य्या रागा वि ··ल्येन । ५ (क) विभु गीता विवादि स । ६ (क) लोप्ये ।
७ (क), (ख) स्वरस्य यः ।
८. (क) लोप सर्वस्य निः कृति ।
९. (क) चालयते ।
१०. (क), (ख) सम्यांश ।

अपन्यासः स विज्ञेयो[१] गीतलक्षणवेदिभिः ।
अवयवावयवो[२] यस्मिन् स्वरे[३] समुपवेश्यते ॥१२॥

संन्यास : –

संन्यासः कथ्यते गानविद्यातत्वविचक्षणैः ।
स मन्द्रस्सुतरांलभ्यः यो रागो मन्द्रसप्तके[४] ॥१३॥

तारमन्द्ररागा :—

यस्तारसप्तके रागः स्वरे तार उदाहृतः ।

षाडवौडुवौ—

उक्त षाडव एकस्मिन् स्वरे[६] लुप्ते विवादिनि ॥१४॥
विवादिनि स्वरद्वन्द्वे लुप्तेत्वौडुवमिष्यते[७] ।
वशे[८] न्यासस्वरं पूर्वं स्थायिन रचयेत् ततः ॥१५॥

रागवक्त्रकम् —

तत्र स्थायिनि रागस्यारोपणं रागवक्त्रकम् ।

स्वस्थानानि--

[९]स्थायिन्येवोपरि[१०] द्व्यर्धादयः[११] कस्मिन्नपि स्वरे ॥१६॥

रागावयव का भी खण्ड जिस स्वर पर उपवेशित हो, उसे गान विद्यामर्मज्ञों ने 'संन्यास कहा है ॥१२॥

जो राग मन्द्र सप्तक में भली-भाँति उपलब्ध होता है, वह मन्द्र है ॥१३॥

जो राग तार सप्तक में भली भाँति प्राप्त होता है, वह तार है। एक विवादी स्वर के लुप्त होने पर 'षाडव' राग होता है। दो विवादी (राग-विवादी) स्वरों के लुप्त होने पर औडुव राग होता है ॥१४॥

'वश' में पहले (राग के) न्यास स्वर को स्थायी बना लिया जाना चाहिये ॥१५॥

उस स्थायी स्वर पर राग का आरोपण रागवक्त्र' (राग का मुंह) है।

---

१ (ख) गति। २ (ख) अवयता अवयवो। ३ (क) स्वरो वद्युपवेश्यते, (ख) स्वरो यद्युपवेश्यते। ४ (क) ण। ५. (ख) मन्त्र। ६. (क) लुप्त। ७ (क) लुप्त। ८. (क) स्यासस्वर। ९. (क) स्थायिन उपरि।
१०. (ख) द्वयर्धात्। ११ (क) तत तस्मिन्नपि स्वरे, (ख) दय कस्मिन्नपि स्वरे।

चालयित्वा पुनारागं स्थायिन्येवोपवेशयेत् ॥१६॥

तदेव प्रथमं स्वस्थानमालप्ते —

आन्यासं[1] द्वयर्धमारभ्य[2] चालयित्वा तु रागकम् ।
कुर्य्यात् द्वितीयं स्वस्थानं राग[3] लक्षणकोविदः ॥१७॥

स्वरस्य स्थायिनो यश्च[4] द्वयर्धस्तुर्य्यः[5] स्वरः स्मृतः ।
स एव[6] देवठायेति तज्ज्ञैस्तु व्यपदिश्यते ॥१८॥

अर्धस्थिते चालयित्वा राग कस्मिन्नपि स्वरे ।
कुर्य्यात् तृतीयसंस्थान न्यासान्त गायकोत्तमः ॥१९॥

द्वयर्धद्विगुणयोर्मध्ये स्वरयोर्ये[8] स्थिता स्वराः ।
अर्धस्थितास्त एवोक्ता अर्धस्थेया[9] इति स्फुटाः ॥२०॥

स्थायी स्वर के ऊपर ही द्वयर्ध इत्यादि स्वर है, किसी भी स्वर तक राग का चालन (विस्तार) करके 'स्थायी' स्वर पर उपवेशन करना चाहिये ॥१६॥

वही आलप्ति का प्रथम स्वस्थान है ।

द्वयर्धस्वर से आरम्भ करके न्यास स्वर तक चालन करने के द्वारा रागलक्षणज्ञ व्यक्ति को राग के द्वितीय स्थान का विस्तार करना चाहिये ॥१७॥

स्थायी स्वर से (आरोह की ओर) चौथा स्वर द्वयर्ध होता है, उसी को मर्मज्ञ लोग 'देवठाय' कहते है ॥१८॥

अर्ध स्थित किसी भी स्वर तक राग का विस्तार करके न्यास स्वर पर अन्त करना तृतीय स्वस्थान है ॥१९॥

द्वयर्ध और द्विगुण स्वर के मध्य में जो स्वर स्थित हैं, ये स्फुट रूप में अर्धस्थेय (स्थान के पश्चार्ध मे स्थित) हैं ॥२०॥

---

१ (क), (ख), अन्यास । २. (क) र्थ । ३. (ख) गान । ४. (क), (ख) यस्य । ५. (क) द्वयर्थस्तुल्या स्वर स्मृत । ६. (क) दे···येति । ७. (क) तस्मिन्नपि । ८. (क) र्ये । ९. (ख) अर्धनीया. ।

द्विगुणात् स्थायिपर्य्यन्तं चालयित्वा तु रागकम्[1] ।
न्यासस्वरोपवेशेन[2] स्वस्थानं[3] स्याच्चतुर्थकम् ॥२१॥
मन्द्रसप्तकमेवैतद् द्विगुणं मध्यसप्तके ।
तन्मध्यसप्तक तारे द्विगुण[4] स्याद्यथाक्रमम् ॥२२॥
स्थानानि प्रसृतैस्त्रीणि स्वरैः कुर्य्यात्तुरीयकम् ।
स्थान[5] समग्रशब्देन सारूढि[6] रचयेत् पुनः ॥२३॥

आरूढि :-

तज्ज्ञैर्वलिवहनिभ्या[7] मारूढिरभिधीयते[8] ।
चतुः स्वस्थानकै शुद्धो[9] रागस्याकार ईरितः ॥२४॥

रागाकारः -

स्थानैः स्थायस्वरै सम्यक्[10] स्थापितैः स्थापितै क्रमात् ।

स्थापना —

जोवस्वर प्रधानैश्च न्यासान्तै[11] बहुधाकृतै ॥२५॥

द्विगुण स्वर से स्थायी स्वर पर्य्यन्त राग का विस्तार करके न्यास स्वर पर समाप्ति चतुर्थ स्वस्थान है ॥२१॥

मध्य सप्तक में मन्द्र सप्तक ही द्विगुण हो जाता है और मध्य सप्तक तार सप्तक मे क्रमश द्विगुण हो जाता है ॥२२॥

स्थान तीन है, पूरे शब्द के साथ, तीनो स्थानो मे प्रसारयुक्त (खुले) स्वरों के द्वारा, आरूढिपूर्वक चौथे स्वस्थान का विस्तार करना चाहिये। विद्वानो ने 'वलि' और 'वहनि' से युक्त क्रिया को आरूढि कहा है। चारो स्वस्थानो से राग का शुद्ध आकार (प्रत्यक्ष) हो जाता है ॥२३,२४॥

स्थाय (रागवाचक स्वर समूह) के स्वरो से युक्त पुन पुनः संस्थापित, जीवस्वर प्रधान न्यासान्त एव प्रसन्न 'स्व स्थानों' से स्थायी स्वर पर

---

१ (क) रागत । २ (क) पदेशेन । ३ (ख) च्च—र्थकम् । ४ (क) द्विगुणो ।
५. (क) नस्थानमग्र । ६ (क) सारूधि । ७ (क) वहणेभ्या, (ख) तज्ञैर्बलवहणीत्या ।
८ (क) माशेदि । ९ (क) शुद्धा, (ख) शुद्ध-रागस्याकार ।
१०. (क) स्वरास्सम्य स्थायगस्यापयेत् । ११. (क) बुधा ।

स्थापना—

प्रसन्नैश्शुद्धरागस्य स्थायिनि स्थापनोच्यते ।
इत्थं रागं स्थिरीकृत्यारोपयेद्[1] वांशिकोत्तमः ॥२६॥
तद्रागनिर्भरामोत्तां[2] धारयेत्[3] समगायनः ।
न्यास[4] स्वरस्थापनेनोच्चारोत्ताभिधीयते ॥२७॥

उच्चारोत्ता—

ततो गायन पूर्वोक्तप्रकारेण रागस्याकारं स्थापनां च विदध्यात् ।[5]
(इति रागाकारस्थापने)

रागालप्तिः—

रागालप्तिः[6] क्षेत्रशुद्धियुक्ता तालविवर्जिता ।
रागस्य शुद्धता[7] क्षेत्रशुद्धिरित्यभिधीयते ॥२८॥

राग की स्थापना होती है। उत्तम वंशवादक को इस प्रकार ठहराव के साथ राग की स्थापना करना चाहिये ॥२६॥

राग से सम्बद्ध 'श्रोत्ता' का धारण करना सहगायक का कर्तव्य है। न्यास स्वर पर स्थापना करने से उच्चारोत्ता होती है ॥२७॥

तत्पश्चात् गायक को पूर्वोक्त प्रकार से राग के आकार और स्थापना का विधान करना चाहिये ।

(ये रागाकार और स्थापना सम्पन्न हुए)

रागालप्ति क्षेत्रशुद्धियुक्त और तालवर्जित होती है। इस प्रकरण में क्षेत्र शुद्धि का अर्थ राग की शुद्धता है ॥२८॥

---

१ रोपणद्वांशिकस्ततः ।
२. (ख) निर्भरा ।
३. (ख) धारयत् ।
४. (ख) न्यासस्वर ।
५ (क) दध्यात् ।
६. (क) रागालिप्ति. ।
७. (क) क्षेत्राशुद्धि, (ख) शुद्धतांक्षेत्रशुद्धि ।

गीतस्योत्पत्तिहेतुत्वात् रागः क्षेत्रमिहोच्यते ।
ततो रूपकगानेन[1] ह्यतालां[2] नातिविस्तराम् ॥२९॥

कृत्वालप्तिं[3] सतालां च तद्रागां[4] द्विजनान्विताम् ।
रूपकं[5] गायनो गायेत् रक्तिना[6] सहितं ततः ॥३०॥

स्थाया या रूपके यस्मिन् तस्या नानाप्रकारतः ।
मुहुर्मुहु. ग्रहो यस्तु[7] प्रतिग्रहणमुच्यते ॥३१॥

यो यथा चालित.[8] स्थायस्त तथैव निवेशयेत् ।
विचित्रस्य तु गीतस्य यथौचित्योपवेशनम्[9] ॥३२॥

गीत की उत्पत्ति का कारण होने से राग को क्षेत्र कहा जाता है। तत्पश्चात् रूपकगान के द्वारा संक्षिप्त अताल आलप्ति करने के पश्चात् सम्बद्ध राग से युक्त, दो गायकों द्वारा सताल आलप्ति किये जाने पर, प्रमुख गायक को रक्तिसहित रूपक का गान करना चाहिये ॥२८,३०॥

जिस रूपक मे जो स्थाय है, भाँति भाँति से उसी का ग्रहण करना प्रतिग्रहण कहलाता है ॥३१॥

जिस स्थाय का चालन जिस प्रकार किया गया है, उसका निवेशन उसी प्रकार उचित है। विचित्र (विविधभङ्गोमय) गीत का उपवेशन औचित्यपूर्वक होना चाहिये ॥३२॥

---

१ (क) रूपकरागेण, (ख) रूप+रागेण ।
२. (क) तत्तालानीति, (ख) तत्तालानीति ।
३. (क) कृत्वालिप्ति सताला (ख) कृत्वालिप्ति सताल ।
४ (क) तद्रागभजान्विताम्, (ख) तद्राग द्विजनान्वितम् ।
५ (क) रूपक यनो गायेत्, (ख) रूपकगायनो गायन ।
६ (ख) तिक्तिना ।
७ (क) यस्तु ।
८. (क) चालित स्थाय , (ख) चालिन ।
९. (क) चितोपवेशनम् ।

(इन्द्रवज्रा[1])

स्थाया विधेया न तु सैकरूपा बहुकारैर्विकृता विभाति ।
विचित्ररूपोऽपि मयूरकण्ठो जगज्जनप्रीतिकरो यथा सः ॥३३॥

स्थायनामानि कथ्यन्ते—जावणा, गति, जायी, अनुजायी, ओयारं वली, बहनी, ढाल, प्रसर, ललितगाढ, प्रोच्चगाढ, अपखल्ल, निस्सरड, लंघित, स्वरलंघित, दुर्वास, पेष्टापेष्टि, फेल्लाफेल्लि, मोडामोडि, गुम्फागुम्फि, खचर, गाणाचेठाय, तरहर, तत्तवण, विदारी, भ्रमरलीलक, कालस्यक, चित्ताचेठाय, करुण, गीताचेठाय, जोडियचेठाय, शारीराचेठाय, नादाचेठाय, कर्तरी, अर्धकर्तरी, नखकर्तरी, कुरला, मृट्टेय, मुकुलित, उच्च, नीच, निक्खायि, उक्खायि, निरत, निकृति, परिवडि, एसृत, उट्टुण्डुल, बहिला, हलुकायि, अधिक, उक्खुड, नपायि, भरण, हरण, सनगिद, निकरड, भजवणा, निजवण, सुभाव, होलाव, रक्ति, रंग, रीति, अनुकरणा, धरणि, धरि, मेल्ली, विबन्धायी, मिट्टायी, गीतज्योति, स्फार, होम्फा, कला, छवि, काकु, छाया, नवणि, अंश, घटना, आक्रमण, बङ्कायि, कलरव, वेदध्वनि, अवतीर्णक, वोकल, सुकराभास, दुष्कराभास, अपस्वराभास, उचिता, बुड्ढायि, वैसिकी ।*

एव मुक्त स्थाय शब्देन कि मभिधीयते—

ठाय—

गत्या गमकयोगेन रागेणान्ये[2] न केनवा ।
स्वैरवृत्ति[3] स्वरावृत्तिष्ठायइत्यभिधीयते ॥३४॥

राग का स्थाय एक ही जैसा नही होता, अनेक प्रकारों से विकृत प्रतीत होता है। जिस प्रकार मोर का रङ्गबिरङ्गा कण्ठ जगन्मोहक होता है ॥३३॥

स्थायों के नाम कहे जाते हैं। (मूल मे स्पष्ट है।)

इस प्रकार पूर्वोक्त स्थाय शब्द का क्या तात्पर्य्य है ?

गमक योग के द्वारा गति से अथवा अन्य किसी भी राग के द्वारा यथेच्छ स्वरावृत्ति 'ठाय' कहलाती है ॥३४॥

---

१. (क) इन्द्रमाला ।

* स्थायनामानि कथयिष्यमाणलक्षणानुसार संशोधितानि ।

२. (क) रागिणानैककेनवा । ३. (ख) स्वरै वृत्तिः स्वर वृत्ति. ।

(इति ठायलक्षणम्)

स्थायाना करणान्याहुश्चत्वारि स्थानतानके ।

गमको मानमेतेषां लक्षणान्यभिदध्महे ।।३५।।

स्थानम् —

तत्र[1] स्थाय्यादिवर्णानामाश्रयः स्वरमण्डलः ।

स्थानमित्युच्यते तस्मादुदाहरणमुच्यते ।।३६।।

यथा वेलावल्यां ध नि स रि ग म प, च्छायानाट्टायां स रि ग म प ध नि इत्यादि । तानोत्तानरागापेक्षया[2] —

स्थानमित्युच्यते तज्ज्ञैः स्वरो यो गमकाश्रयः ।

यथा वेलावल्यामाहतस्थाने धैवतः कम्पितस्थाने षड्ज, छायानाट्टायां कम्पितस्थाने गान्धारनिषादौ । गमकाः[3] कम्पितादयः ।

स्वादुत्वादिगुणा[4] भवन्ति हि यथा शाके रसाः षट् च ते ।

रागव्यक्त्यनुकूलका हि गमका रागेऽपि सञ्चारिण.[5] ।।

(यह ठाय लक्षण हुआ।)

स्थाय तान (राग की आदिम तान) में स्थायो के चार करण होते है, इनका मान गमक है। इनके लक्षण कह रहे है ।।३५।।

स्थायी इत्यादि वर्णो का आश्रय स्वर-मण्डल 'स्थान' है, अतः उदाहरण कहा जाता है ।।३६।।

जिस प्रकार नेलावली मे ध नि स रि ग म प और छाया नाट्टा में स रि ग म प ध नि इत्यादि ।

तानोत्तानराग (आधारतान मे उत्पन्न) राग की अपेक्षा से विशेषज्ञो ने गमकाश्रय स्वर को स्थान कहा है। जैसे बेलावली मे आहत का विषय धैवत और कम्पित का विषय षड्ज है, छायानाट्टा मे कम्पित के स्थान पर गान्धार-निषाद है।

'कम्पित' इत्यादि गमक कहलाते है।

जिस प्रकार शाक में स्वादुत्व इत्यादि से युक्त छः रस होते है, इसी प्रकार राग मे ही रागाभिव्यक्ति के लिए अनुकूलता उत्पन्न करने वाले गमक होते है।

---

१. (क) स्थायादि । २. तालरागातेक्षया । ३. समरा । ४. (क) नि ।
५. (क) सवादिन ।

तन्मात्रा परिमाणमेव[1] सुतरा मानं[2] वदन्त्यादरात् ।
सङ्गीताकरकर्णधारपदवीमाढौकमानाः[3] परम् ॥३७॥
प्रयोगैः कैश्चिदपरैः सरी सा[4] रागचालना ।

जावणा—

अन्यैस्तु सरिसङ्गीत[5] **जावणेति**[6] निगद्यते ॥३८॥

गति :—

माधुर्य्यसहिते गीते श्रुतिमात्रस्तु केवलम् ।
स्वराणां सन्निवेशोयश्चातुर्य्यात्स **गतिर्भवेत्** ॥३९॥

जायी --

स्वरमात्रेण सदृशस्थानान्तरनिवेशनम् ।
इति भेदस्समुद्दिष्टो **जायिनश्चानुजायिनः** ॥४०॥

औयारम्—

स्वरमात्राधिको यस्मात् स्वरावृत्तिर्विधिक्रमात् ।[7]
तदोयारं[8] समुद्दिष्ट प्रायश्चारोहिसश्रयम् ॥४१॥

सङ्गीतार्णव के कर्णधार की (सङ्गीताकर) पदवी धारण करने वाले (पार्श्वदेव) उन गमको के परिमाण का सप्रमाण वर्णन करते है ॥३७॥

प्रयोगों के द्वारा कुछ अन्य लोगो ने उस राग चालना को 'सरी' कहा है। अन्य लोग सरिसगीत को 'जावणा कहने है ॥३८॥

माधुर्य्य युक्त गीत में केवल सुने जाने लायक अर्थात् चतुरतापूर्ण धीमा स्वर-सन्निवेश 'गति' होता है ॥३९॥

स्वर मात्र के द्वारा सदृश अन्य स्थान निवेशन 'जायी' और स्वर मात्र से अधिक 'अनुजायी' होता है, ये दो भेद बताये है ॥४०॥

जिस विधिक्रम से आवृत्ति हो, वह 'ओयार' कहलता है और प्रायः आरोही वर्ण में होता है ॥४१॥

१. (क, देव। २. (क) मौनज्वदन्त्यादरात् । ३. (क) मूढाकमाना ।
४. (क) सरीसा, (ख) सरिसा। ५. (क) सरिसङ्गीते। ६. सवेणेति।
७. (क) विदत्समात् । ८ (ख) तदोर ।

वली—

सुशारीरात्समुद्भूता श्रुतीनामवलिर्यथा ।[1]
[2]चरत्समीरणोद्भूततरङ्गावलिवद् **वली** ॥४२॥

वहनी—

मन्द्रादिस्थानभेदेन[3] प्रवृत्त श्रुतिकम्पनम् ।
उरःस्थानशिरः कण्ठस्था[4] **वहनी** क्रमतो भवेत् ॥४३॥

वहनीर्द्विधा आलप्तिवहनी, गीत[5]वहनी चेति। पुनर्द्विधा, खुत्ता[6] उत्फुल्ला चेति ।

प्रविशन्त[7] इवान्तस्ते स्वरा यस्यां विभान्ति च ।
खुत्ता[8] सा कथ्यते गानविद्यालक्षणकोविदै.[9] ॥४४॥

यस्या स्वरा विराजन्ते निर्गच्छन्त इवोपरि ।
गानलक्षणतत्वज्ञै रुत्फुल्ला परिकोर्त्यते ॥४५॥

एव वलिरपि वहनीवत्[10] वेदितव्या ।

चलते हुए पवन से उद्भूत तरङ्गावलि के समान, अच्छे शारीर से उत्पन्न श्रुतियो की अवलि 'वली' है ॥४२॥

मन्द्र इत्यादि स्थानभेद से प्रवृत्त श्रुतिकम्पन ही उर, शिर और कण्ठ में स्थित 'वहनी' है ॥४३॥

वहनी दो प्रकार की है, आलप्तिवहनी और गीतवहनी। पुन दो प्रकार की हे, खुत्ता और उत्फुल्ला। जिसमे स्वर अन्दर की ओर प्रवेश-से करते हुए प्रतीत होते है, वह खुत्ता और जिसमे स्वर बाहर की ओर निकलते हुए से प्रतीत होते है, वह गीतज्ञो द्वारा उत्फुल्ला कही जाती है ॥४५॥

इस प्रकार वलि भी वहनी के समान समझना चाहिये ।

---

१ (क) श्रुतिनामावलियदि । २. (क) चरेत् समीरणोद्भूत शरगातलिवद्वरि, (ख) चरेत् । ३ (ख) मन्त्रादि । ४. (ख) कण्ठस्थख्या । ५ (ख) शीतवह्णी । ६. (ख)उत्ता । ७ (क) प्रवेशन्त । ८. (क) युत्ता । ९. (क) वेदिभि । १०. (ख) वइनीव ।

ढालम्—

वृत्तमौक्तिकवत्[1] काचभूतले[2] विलसद् ध्वनौ।
श्रुतिः प्रवर्तते क्षिप्रं यत्र **ढालं**[3] तदुच्यते ।।४६।।

प्रसर :—

माधुर्य्ययुक्तो ललितः स्वरो यत्र प्रसार्य्यते ।
स्वरान्तरस्य सयोगात् **प्रसरं**[4] प्रचक्षते ।।४७।।

ललितगाढ :—

लालित्येन यदा नादस्तारस्थाने[5] प्रवर्तते ।
तदा **ललितगाढं** त जगुर्गीत[6] विशारदाः ।।४८।।

प्रोच्चगाढ : —

क्रमेण गाढतां त्यक्त्वा ललितस्वरवर्तनम् ।
[7]**प्रोच्चगाढ**मिति प्रोक्त गीतलक्षणकोविदैः ।।४६।।

अपखल्ल :—

यत्र प्रवर्तते मन्द्रस्थानेऽनि मधुर[8] स्वर ।
अपखल्ल.[9] स विज्ञेयो गीतभाषाविशारदैः ।।५०।।

काच के तल पर गोल मोती के समान ध्वनि पर वेगपूर्वक श्रुति ढलती है, तब यह क्रिया ढाल कहलाती है ।।४६।।

अन्य स्वर के संयोग से जब मधुर स्वर प्रसारित होता है, तो प्रसर गमक होता है ।।४७।।

जब लालित्यपूर्वक नाद तार स्थान मे प्रवृत्त होता है, तब 'ललित गाढ' होता है ।।४८।।

जहाँ गाढता का परित्याग करके क्रमश ललितस्वरो का व्यवहार होता है, उसे गीतज्ञों ने 'प्रोच्चगाढ' कहा है ।।४६।।

जहाँ मन्द्र स्थान मे अत्यन्त मधुर स्वर प्रवृत्त होता है, वहाँ गीतज्ञो को 'अपखल्ल' समझना चाहिये ।।५०।।

---

१. (क) वृत्ति । २ (क) काच । ३. ताल । ४. (क) स्वसरं त, (ख) पसरं च । ५. (क) नाद स्थान स्थाने । ६. (ज्ञानु । ७. (ख) पोच्चगाढ । ८ (क) अतिमधुर स्वरम् ९. (क) अनुवल्ल ।

निस्सरड:—

क्रमेण परम तारं गत्वातिमसृणः[1] स्वरः ।।

[2]पैच्छिल्यात्पतितो मन्द्रे **भवेन्निसरडाभिधः**[3] ।।५१।।

लङ्घितम्—

ईषदाहतसयुक्त स्वरो यत्र विलङ्घयेत् ।

स्वरान्तर क्रमेणैव **लङ्घितं** तत्प्रचक्षते ।।५२।।

स्वरलङ्घितम्—

इदमेवयदेकद्वित्रिस्वरान्तरितं भवेत् ।

तदा गीतकलाभिज्ञै **स्वरलङ्घितमीरितम्** ।।५३।।

दुर्वासः—

तारमन्द्रसमायोगात् प्रयोगो यत्र दुष्करः ।

वर्तते स तु गीतज्ञै **दुर्वासः** परिकीर्तित ।।५४।।

पेष्टापेष्टि—

पुनरावर्तते यत्र प्रयोग· पूर्वमागतः ।

तदानीमेव सा तज्ज्ञै **पेष्टापेष्टीति** गद्यते ।।५५।।

जहाँ अत्यन्त मसृण स्वर परम तार स्थिति तक जाकर फिसलता हुआ मन्द्र में पतित हो जाये, वहा 'निस्सरड' होता है ।।५१।।

कुछ आहत से युक्त स्वर जहाँ क्रमश अन्य स्वर का विलङ्घन करे, वह 'लङ्घित' होता है ।।५२।।

यदि एक, दो और तीन स्वरो का लङ्घन करके किया जाये, तब गीतकलाविदो ने इसे 'स्वरलङ्घित' कहा है ।।५३।।

तार और मन्द्र के योग से जहाँ दुष्कर प्रयोग होता है, उसे गीतज्ञो ने 'दुर्वास' कहा है ।।५४।।

जहाँ पूर्वकृत प्रयोग की पुनः आवृत्ति होती है, वह विद्वानों के द्वारा 'पेष्टापेष्टि' कहा जाता है ।।५५।।

---

१. (क) गत्वा ता भसृण स्वर ।

२. (क) पैंचिलयात्, (ख) पैछल्यात् ।

३. (क) निस्तरदः .

फेल्लोफेल्लि—

गाढत्वेन स्वरः सर्वो नुदेद् यत्र स्वरान्तरम्[1] ।
आरोहिक्रमतस्सोक्ता **फेल्लोफेल्लीतिनामतः** ।।५६।।

मोडामोडि—

समुद्धृत्य स्वरान्[2] यत्र तेषामग्राण्यधः क्रमात् ।
भज्यन्ते सा परिज्ञेया **मोडामोडीति** संज्ञया ।।५७।।

गुम्फागुम्फि -

सप्त प्रयोगा एकत्र वर्तन्ते चेन्निरन्तरम् ।
स्रगिवाभिज्ञरचिता[3] **गुम्फागुम्फीति** सोदिता ।।५८।।

खचरः—

यत्र गाढस्वरः सम्यग्गाने[4] तारे प्रवर्तते ।
खचरस्स समुद्दिष्टो गानविद्याविशारदैः ।।५९।।

गाणाचेठाय—

ठायं गमकसम्मिश्रं वर्तते यन्मनोहरम् ।
गाणाचेठायसंज्ञं[5] तद् गीतविद्भिरुदाहृतम् ।।६०।।

जहाँ प्रगाढतापूर्वक स्वर अन्य स्वर को आरोही क्रम से प्रेरित करे, वहा 'फेल्लाफेल्ली' होता है।।५६।।

जहाँ स्वरो का समुद्धार करके उनके अग्रभागो का नीचे की ओर क्रमश भंजन किया जाता है, वहाँ 'मोडामोडि' होता है ।।५७।।

जहाँ सात प्रयोग निरन्तर एकत्र विद्यमान रहते हैं, चतुरों के द्वारा गूथी हुई माला की भाँति वह गुम्फागुम्फि (गुन्थागुन्थि) कहलाता है।।५८।।

जहाँ तार गाने मे भली भाँति गाढ स्वर प्रवृत्त होता है, उसे गीतज्ञों ने 'खचर' कहा है।।५९।।

जहां गमकसम्मिश्र मनोरम ठाय होता है, उसे गीतज्ञों ने 'गाणा चे ठाय' बताया है ।।६०।।

---

१. (क) सर्वं । २. (ख) स्वोऽन्यत्र । ३. (क) स्नगिवा ।
४. (क) गसु तारे, (ख) म्यनतारे ।
५. (क) राणाचेठाय

तरहरः—

आहत्यारूढया[1] यत्र स्वराणां कम्पन भवेत् ।
ठायं **तरहरं** नाम्ना तमाहुर्गीतवेदिनः ॥६१॥

तवणम्—

[2]गीतस्योपरिगीतज्ञै रालप्तिरतिकोमला ।
तत्तत्प्रमाण[3] रचिता ठाय **तत् तवणं** विदु ॥६२॥

विदारी—

आलप्तिर्विलसत्तालकालाविश्लेषित[4] स्वरा ।
वर्तते चेन्निरालम्बा[5] सा **विदारीति** कथ्यते ॥६३॥

भ्रमरलीलकः—

यस्तारान्मन्द्रसस्पर्शी[6] विचरेत्पुनरूर्ध्वग ।
नादो माधुर्य्यसयुक्त स स्याद् **भ्रमरलीलकः** ॥६४॥

कालस्यकम्—

प्रस्तुतेनैव रागेण वर्तते यत्सुखावहम् ।[7]
तत्तु[8] **कालस्यकं** ठाय कथित गीतकोविदै. ॥६५॥

जहाँ आरूढि के द्वारा आहनन करके स्वरो का कम्पन हो, उसे गीतज्ञो ने 'तरहर' कहा है ॥६१॥

यदि गीत के ऊपर ही गीतज्ञो ने उसके प्रमाण के अनुसार आलप्ति की रचना की हो, तो वह 'तत्तवण' होता है ॥६२॥

यदि अविश्लेषितस्वर आवृत्ति ताल और काल से युक्त एवं निरालम्ब हो, तो उसका नाम 'विदारी' है ॥६३॥

यदि तार स्थान से मन्द्र का स्पर्श करने वाला मधुर नाद पुन: ऊपर जाये, तो 'भ्रमर लीलक' होता है ॥६४॥

जो सुखावह ठाय प्रस्तुत राग के द्वारा ही व्यवहृत होता है, उसे गीतज्ञो ने 'कालस्यक' कहा है ॥६५॥

---

१. (क) आहत्या रूढया, (ख) आहत्या दथया । २ (क) तीरस्योपरि ।
३ (ख) तत्तप्रवणैरचिता । ४. (क) कान्ताद् ।
५ (क) चेन्निरालम्ब स विदारीति गद्यने, (ख) स विदारि ।
६. (क) संस्पर्शि । ७. (क) सुखावहः । ८. (ख) कालसचे ।

चित्ताचेठायः—

ठायं[1] यद्वेधकत्वेन क्रियते तद्विचक्षणैः ।
चित्ताचेठायमुदितं श्रोतुश्चित्तानुवर्तनात् ।।६६।।

करुणः—

करुणारागयोगेन[2] चिन्तादीनतयाथवा[3] ।
करुणाकाकुसंयुक्ताः [4]स्थायास्ते **करुणाभिधा** ।।६७।।

गीताचेठायः—

ठाय[5] यद् वर्तते गीते तदालप्त्या[6] कृतं यदि ।
गीताचेठायमित्याहुस्तज्ज्ञा अन्वर्थसंज्ञकम् ।।६८।।

जोडिय चे ठाय—

प्रयोगो[7] द्विगुणो यत्र पुनर्द्विगुणितो भवेत् ।
सतु **जोडिय चे ठायो**[8] दुष्कर. कथितो बुधैः ।।६९।।

जो ठाय विशेषज्ञो द्वारा वेधकत्वपूर्वक किया जाता है, वह श्रोताओं के चित्त का अनुवर्तन करने के कारण 'चित्ताचेठाय' कहा जाता है ।।६६।।

करुणा और राग के योग से चिन्ता और दीनता का बोध कराने वाले करुणकाकुयुक्त स्थाय 'करुण' कहलाते है ।।६७।।

जो ठाय गीत मे विद्यमान है, यदि वह आलप्ति के द्वारा किया गया हो, तो उसकी 'गीता चे ठाय' अन्वर्थ सज्ञा है ।।६८।।

जहाँ द्विगुण प्रयत्न को पुन. द्विगुण किया जाये, वह दुष्कर प्रयत्न 'जोडियचेठाय' कहलता है ।।६९।।

---

१. थाययद्वेदकत्वेन । २. (क) तरुणा ।

३. (क) चित्तदीनतया, (ख) चित्तहीनतया, (सिंह भूपाल) चिन्तादीनतया ।

४. (क) ठायासकरुणाभिधा, (ख) ठायंस करुणाभिधा:, (सिंहभूपालः) स्थायस्ति करुणाभिधा । ५. (क) ठौय ।

६. (क) तदालप्ति, (ख) तदालप्तो ।

७. (ख) प्रयोगोऽभिगुणो ।

८. (क) जोदिय चारायों ।

शारीरा चे ठायः—

लीलामात्रेण शारीरच्छविर्यत्र प्रवर्तते ।

शारीराचेठाय[1] उक्त सोऽय गीत विशारदै ।।७०।।

नादा चे ठायः—

भवेद्यत्र[2] सुनादोऽन्ते तारस्थानगतस्वनै[3] ।

नादा चे ठाय[4] इत्युक्त. स तु गीतविचक्षणै ।।७१।।

कर्तरी—

अङ्गुलीभिश्चतसृभि प्रत्येक हस्तयोर्द्वयो ।

बहिर्या[5] हन्यतेतत्री द्रुत सा **कर्तरी** मता ।।७२।।

अर्धकर्तरी—

कर्तरीसदृश. पाणिर्दृश्यते यत्र दक्षिण. ।

तथा कोण इतिर्वामपाणिना **सार्धकर्तरी**[6] ।।७३।।

नखकर्तरी—

चतुर्भिर्नखरैर्यत्र दक्षिणेनैव पाणिना ।

आहति क्रियते या तु सा ज्ञेया **नखकर्तरी** ।।७४।।

जहाँ लीलामात्र शारीर की छवि प्रवृत्त होती है, उसे गीतज्ञो ने 'शारीरा चे ठाय' कहा है ।।७०।।

तार स्थानगतस्वरो के द्वारा जहाँ अन्त मे अच्छा नाद होता है, उसे गीतज्ञो ने 'नादा चे ठाय' कहा है ।।७१।।

प्रत्येक हाथ से द्रुत गति में जब चारो अगुलियो से तन्त्री पर बाहर की ओर आहनन किया जाता है, तो 'कर्तरी' कहलाता है ।।७२।।

जब दाहिने हाथ से कर्तरी और बायें हाथ से कोण का प्रयोग होता है, तक अर्धकर्तरी होता है ।।७३।।

जब दाहिने हाथ के द्वारा चारो नखो से आहनन होता है, तब 'नख-कर्तरी' कहलाता है ।।७४।।

---

१. (क) शारीराजेठाय । २. (क) तत्र । ३ (क) नतस्वनै । ४ (ख) सादाचेठाय ।
५. (क) विहितर्यद्वन्यते, (ख) बहिर्याहिन्यते । ६. (क) सार्धकर्तरि ।

लघुदक्कली—

वाद्यते यत्र वेगेन मधुरं लघुदक्कली[1] ।
श्रुतयस्तत्र ज्ञेया कुरलयाख्यया[2] ॥७५॥

मुट्टेयमुकुलिते—

वंशे मुट्टेय[3] मुक्तं तद्गात्रे मुकुलितं मतम् ।
तयोर्गमकबाहुल्यं कर्तुं नैव तु शक्यते ॥७६॥

उच्चनीचौ—

यौ[4] प्रोक्तौ गीतभाषायां तारमन्द्रौ मनीषिभि. ।
तावेव कथितौ[5] लोकेरुच्चनीच समाख्यया ॥७७॥

निक्खायिकोक्खायिके—

स्फुरितादि[6] स्वरो यत्र तारस्थान तु सस्पृशेत् ।
निक्खायिस्ता[7] भवेत्स्थानव्यक्तिश्चोक्खायिका मता ॥७८॥

निरतम्—

विषमप्राञ्जलालप्तौ[8] श्वाससंयमनात्तत[9] ।
ठायस्य[10] गलहीनत्व **निरतं** परिकीर्तितम् ॥७९॥

जहाँ वेगपूर्वक लघुदक्कली का मधुरवादन होता है, वहा श्रुतियां कुरला कहलाती है ॥७५॥ जो वश मे 'मुट्टेय' है वही शारीर में 'मुकुलित है—उन दोनो में गमक बाहुल्य नही किया जा सकता ॥७६॥

मनीषियो ने गीतभाषा मे जिन्हे तार और मन्द्र कहा है, वही लोगों के द्वारा उच्च और नीच कहलाते है ॥७७॥

यदि स्फुरित से आरम्भ होकर स्वर तार स्थान का स्पर्श करे, तो 'निक्खायि' और स्थान व्यक्ति उक्खायि' कहलाती है ॥७८॥

विषमप्राञ्जल आलप्ति मे श्वाससंयम के कारण उत्पन्न गुरुलघु-हीनता 'निरत' कहलाती है ॥७९॥

---

१ (ख) लविथक्कुली । २. (ख) कुरुलया । ३. (क) मुट्टय ।
४. (क) यो प्रोक्ता गीतभाषाया तारमन्द्रामनीषिभि । ५. (क) कथिता ।
६ (क) स्फुरिताधीस्वरो । ७. (क) रिक्खायिस्था । ८. (क) विषविप्रा ।
९. (क) श्वासनं च समत्वत:, (ख) श्वाससंयमनस्वत. । १०. ह्ययेति ।

निकृतिः—

स्थायं[1] विविधमादाय बलात्सस्थापने पुनः ।
अन्यूनाधिकता तज्ज्ञैर्निकृतिः[2] परिगीयते ॥८०॥

वत्तुडः—

प्रयोगो वर्तते यस्तु मन्दगत्या स[3] **वत्तुडः** ।

परिवडिः—

स्यात.[4] **परिवडिर्नाम्ना** स[5] एवान्ते निरन्तर ॥८१॥

एसृतम्—

एसृतं[6] तत्समाख्यातमवशं यत्प्रवर्तते ।

उट्टुण्डुलम्—

ठायमुट्टुण्डुलं ज्ञेय गीते वैसिकि[8]वर्जितम् ॥८२॥

बहिला—

अतिद्रुतगतिगीते **बहिलाख्यां**[9] समादिशेत् ।

हलुकायि—

हलुकायि[10] भवत्येव गतिर्याति विलम्बिता ॥८३॥

विविध स्थायों का ग्रहण करके बलात् संस्थापन में अन्यूनता और अनधिकता मर्मज्ञो के द्वारा 'निकृति' कही जाती है ॥८०॥

जो प्रयोग मन्द गति में बढता जाता है, वह 'वत्तुड' है। यदि यह अन्त में निरन्तर हो, तो 'परिवडि' कहलाता है ॥८१॥

जो अवश होकर प्रवृत्त होता है, वह 'एसृत' है, वैसिकिवर्जित ठाय गीत में 'उट्टुण्डुल' कहलाता है ॥८२॥

गीत में अतिद्रुतगति 'बहिला' कहलाती है, विलम्बित गति हलुकायि कहलाती है ॥८३॥

---

१. (क) ठाय विवन्ध, (ख) ठाय विवर्वमादाय (रत्नाकर मनुसरत्य पाठ: संशोधित:)।
२ (क) निकितिः, (ख) निगीति. । ३ (क) वत्तर ।
४ (क) ख्यातोवरिपधि । ५. (क) स एवातिनिरन्तरम् । ६ (क) दिसतंतत्य,
(ख) एवसंतत । ७. (क) मुट्ठुन्दुलं । ८ (क) जैसिकि । ९ (क) महिलाख्यां ।
१०. (क) हलवायि (ख) हेलयापि।

अधिकम् —

श्रोतृचित्तमतिक्रम्य प्रवृत्त**मधिकं** विदुः ।

उक्खुडम्—

असम्पूर्णस्वरं गानं ठाय[1] **मुक्खुड**मीरितम् ।।८४।।

नवायि—

आलप्तौ रूपके वा स्यादपूर्वोड्डवणा यदि ।

नवायि[2] सा परिज्ञेया गीतभाषाविशारदैः ।।८५।।

भरणहरणे—

यद्रूपकेऽथवालप्तौ वर्तते रागपूरणम्[3] ।

भरणं तत् समुद्दिष्टं **हरणं** तद्विपर्य्ययः ।।८६।।

सनगिदम्—

भवेत्**सनगिदाख्यं** तत्मधुर यत्प्रवर्तते ।

निकरड—

विपरीतमतो ज्ञेयं बुधै**र्निकरडाह्वयम्** ।।८७।।

जो श्रोता का अतिक्रमण करके प्रवृत्त हो, वह 'अधिक' है। अपूर्ण स्वर गान को 'उक्खुड' (उखडा हुआ) कहा गया है ।।८४।।

आलप्ति और रूपक मे यदि अपूर्व उडान हो, तो उसे 'नपायि' (नपाई ?) कहा गया है ।।८५।।

यदि रूपक और आलप्ति मे राग का पूरण हो, तो वह 'भरण' (भरना) और इसके विपरीत हो, तो 'हरण' है ।।८६।।

जो मधुर हो, वह 'सनगिद' (संगीत ?) और उसका विपरीत 'निकरड' है ।।८७।।

---

१. (क) ठयमुक्कुडु ।
२. (क) नबयस्या ।
३. (क) रागपूरणा ।

भजवणा—

रागव्यक्तिर्भजवणा सुशारीरसमुद्भवा ।

निजवणम्—

जितश्वासतया गाने नाम्ना[1] **निजवणं**[2] विदुः ॥८८॥

सुभाव —

सुभावः[3] कथितस्तज्ज्ञैः कोमलस्वरवर्तनम् ।

होलाव.—

होलावश्चित्तसारः स्यात्, भवेत् रागस्यान्दोलन भवेत्॥८६॥

रक्तिरङ्गौ –

रक्ति स्वरूप रागस्य **रङ्ग**[4]श्छाया तदाश्रिता ।

रीति·—

सैव देशाश्रयत्वेन[6] **रीतिर्ज्ञे**या विचक्षणैः ॥६०॥

अनुकरणा -

रागेषु मित्ररागस्यच्छायासंकरता [7]यदि ।

भवेत् गीतकलाभिज्ञैः **सैवानुकरणोच्यते** ॥६१॥

सुष्ठु शारीर से उत्पन्न रागाभिव्यक्ति 'भजवणा' और जितश्वासता के साथ गान 'निजवण' है ॥८८॥

कोमल स्वरो का व्यवहार विशेषज्ञो के अनुसार 'सुभाव' है। चित्त का सार होलाव है ॥८६॥

राग का आन्दोलन 'रक्ति' है, राग का स्वरूप रग' है, 'छाया' उसके आश्रित है। देशाश्रित होने के कारण उसे ही विशेषज्ञो को 'रीति'" समझना चाहिये ॥६०॥

यदि राग मे मित्र राग की छाया का संकर हो, तो वही 'अनुकरणा' है ॥६१॥

---

१. (ख) यान । २ (क) नामानिज्जवण । ३ (क) सुहावः । ४. (क) चौलाव ।
५. (क) रङ्गछाया, (ख) रागारया । ६ (क) देवाश्रय ।
७ (ख) मिश्र ।

धरणिः —

अनुतारात् परश्रुत्या हीना[1] चापसरत्स्वरा ।
ध्वनेस्सुगाढता[2] तज्ज्ञैर्धरणिः[3] समुदाहृतः ॥६२॥

धरिमेल्ली—

धरिमेल्लीति[4]विज्ञेयौ ग्रहमोक्षौ ध्वनेरिह ।

निबन्धायि—

ध्वनिर्वैचित्र्यमुदिष्ट निबन्धायीति[5] नामतः ॥६३॥

मिट्ठायी—

ध्वनेरत्यन्तमाधुर्य्य मिट्ठायीति निगद्यते ।

गीतज्योतिः—

स्फुटनादोज्ज्वलत्वं तु गीतज्योतिरुदाहृतम् ॥६४॥

स्फारहोम्फे—

हकारानुकृतिः स्फारो होम्फा वायुध्वनिः स्मृता ।

कला छविश्च—

कला सूक्ष्मीकृतः शब्द छविः कोमलरुग्मती ॥६५॥

तार स्थान से नीचे अन्य राग की श्रुतियों से हीन और स्वरों में विद्यमान ध्वनि की सुगाढता धरणि' है ॥६२॥

ध्वनि का ग्रह 'धरि' और मोक्ष 'मेल्ली' है, ध्वनि-वैचित्र्य 'निबन्धायी' है ॥६३॥

ध्वनि का अत्यन्त माधुर्य 'मिट्ठायी, कहा जाता है। स्फुटनाद की उज्ज्वलता 'गीतज्योति' है ॥६४॥

हकार की अनुकृति 'स्फार' और वायु की ध्वनि 'होम्फा है।' सूक्ष्मीकृत शब्द 'कला' है, कोमलकान्तिमती 'छवि है' ॥६५॥

---

१. (क) हीनश्चापसरस्वरः । २. (ख) घनं ।
३. (क) धरणी ।
४. (क) दरवेल्ली ।
५. (क) विबन्ध इति ।

काकुश्छाया च—

काकुश्च भावना भाषा छायारक्तिः समर्थवान् ।
रागकाकुः क्षेत्रकाकुर्यन्त्रकाकुः स्वरोद्भवः ॥९६॥

काकुश्च देशकाकुश्च काकुः स्यादन्यरागजः ।
गीतविद्याविशेषज्ञैः षोढा काकुरुदाहृतः ॥९७॥

रागकाकु :—

रागस्य या निजच्छाया **रागकाकुरि**तीरिता ॥
सा मुख्या प्रोच्यते भाषा गीतलक्षणवेदिभिः ॥९८॥

स्वरकाकुः—

स्वरस्य कस्यचिच्छायाविशेषः कश्चिदीक्ष्यते ।
स्वरकाकुरिति प्रोक्तो गानलक्षण[1] कोविदैः ॥९९॥

देशकाकु —

देशाख्या देशकाकुश्च रागच्छाया निगद्यते ।

अन्यरागकाकु :—

रागे रागान्तरच्छाया काकुः स्यादन्यरागजः ॥१००॥

भावना और भाषा (राग रूप) समर्थवान् 'काकु' है, रक्ति 'छाया' है। गीतविद्याविशेषज्ञो ने छ प्रकार का काकु, रागकाकु, क्षेत्रकाकु, यन्त्रकाकु, स्वरोद्भवकाकु, देशकाकु और अन्यरागजकाकु बताया है ॥९६,९७॥

राग की अपनी छाया 'रागकाकु' कही गई है, गीतज्ञो ने उसे (राग की) 'भाषा' कहा है ॥९८॥

किसी स्वर-विशेष की विशेष छाया गीतज्ञो ने 'स्वर-काकु' बतलाई है ॥९९॥

किसी विशिष्ट देश की काकु देशकाकु कहलाती है, एक राग में अन्य राग की छाया अन्यरागजकाकु है ॥१००॥

---

१. (क) साव ।

सैवोपरागभाषाख्यायते, इयमेव लोके ठायेति प्रसिद्धा ।

क्षेत्रकाकुः—

कस्यचिद्गायनस्यैषा रागे कस्मिश्चिदीक्ष्यते ।
रक्तिस्वभावतस्तज्ज्ञैः क्षेत्रकाकुर्महीयते[1] ॥१०१॥

यंत्रकाकुः—

किन्नरीवंशवीणासु रागच्छायैव दृश्यते ।
कथ्यते यंत्रकाकुस्सः गानलक्षणकोविदैः[2] ॥१०२॥

नवणि—

स्निग्धकोमलशब्दस्य विना यत्नेन कम्पनम् ।
लघुत्वेन सहोक्तं तन्नवणिः गानकोविदैः ॥१०३॥

अंशभेदाः—

रागस्यावयवो रागे[4] योऽन्यस्यांशः स उच्यते ।
कारणांशश्च कार्य्यांश. सजातीयांश इत्यपि ॥१०४॥

वही उपरागभाषा कही जाती है, यही लोक में ठाय नाम से प्रसिद्ध है ।

यदि किसी गायक की छाया किसी राग मे दिखाई देती है, तो रञ्जक स्वभाव के कारण 'क्षेत्रकाकु' कहलाती है ॥१०१॥

किन्नरी वंश और वीणा में रागछाया ही दिखाई देती है, गीतज्ञों ने उसे यंत्रकाकु कहा है ॥१०२॥

स्निग्ध और कोमल शब्द का 'लघुत्वपूर्वक, विना यत्न के कम्पन, गीतज्ञों ने 'नवणि' कहा है ॥१०३॥

किसी राग में अन्य राग का अवयव 'अंश' कहलाता है। वह सात प्रकार का है, कारणांश, कार्य्यांश, सजातीयांश, सदृशरागांश, असदृश-रागांश, मध्यस्थरागांश और अशांश ॥१०५॥

---

१. (क) महीतले ।
२. (क) सा ।
३ (क) नमनं ।
४. (क) यातो ।

तत. सदृशरागाशोंऽशोऽविसदृशरागज· ।
अंशो मध्यस्थरागस्यस्यांदशाशश्च सप्तधा ।।१०५।।

कारणांश –

अशो जनकरागस्य **कारणांश** इतीरित· ।
श्रीरागजनिते गौडे श्रीरागस्यांशको यथा ।।१०६।।

कार्य्यांशः—

अशस्तु[1] जन्यरागस्य **कार्य्यांश** इति कथ्यते ।
यथा भैरवजातायां[2] भैरव्या अशकः पुनः ।।१०७।।
भैरवे यदि वर्तेत कार्य्यांश इति कथ्यते ।

सजातीयांशः—

अंशोऽवान्तरभेदस्य **सजातीयांश** इष्यते ।।१०८।।
यथा कर्णाटगौडांशो गौडेमालवनामनि ।

सदृशांश —

सदृशांशो यथा शुद्धवराट्याअशक पुन· ।१०६।।
दृश्यते शुद्धनाट्टाया[3] सवादी स च कथ्यते ।

जनकराग का अश कारणाश कहलाता है, जैसे श्रीरागोत्पन्न गौड में श्रीराग का अश । जनक राग मे जन्यराग का अंश कार्य्यांश कहलाता है, जैसे भैरवजातभैरवी का अश भैरव मे । अवान्तर भेद का अश सजातीयाश कहलाता है, जैसे मालवगौड में कर्णाटगौड का अश ।

सदृशाश, जैसे शुद्धनाट्टा में दिखाई देने वाला शुद्धवराटी का अवयव है, वह सवादी कहलाता है । वेलावली मे दिखाई देने वाला गुर्जरी विसदृशाश का उदाहरण है, वह विकृनाश विवादी कहलाता है और दूर ही रहता है। जो राग न तो सदृश है और न विसदृश वह मध्यस्थरागाश कहलाता है, जैसे वेलावली मे देशाख्य का अ श, वह अनुवादी कहलाता है ।।१०६-११२।।

---

१ (क) अशोन्यरागस्य ।

२. (क) जाताया ।

३. (क) नाद्याया ।

विसदृशांश :—

यथा **विसदृशांशश्च** वेलावल्यांच गूर्जरी ॥११०॥
विकृतांशो विवादी च दूरान्तरित एव स. ।

मध्यस्थरागांशः—

रागो[1] नो यो विसदृश सदृशो न च तस्य य ॥१११॥
अंशो मध्यस्थरागांशो देशाख्याशो यथा भवेत् ।
वेलावल्यां गानविद्भिरनुवादी[2] स चोच्यते ॥११२॥

अंशांशः—

अंशान्तरं चांशमध्ये कथ्यतेऽशांश एव सः ।
रागोमहानल्प[3] अश इति न्याय[4] क्वचित् पुन ११३॥
रागांशयो.[5] समानत्व दृश्यते गीतवेदिभि. ।
रूपके क्वचिदंशोऽपि स्फुट रागायते पुन ॥११४॥
क्वचिदशायते[6] रागो न क्वचिन्नियमस्तयो. ।

घटना—

शिल्पिभिर्घटिता यद्वत् ते स्थाया[7] **घटना** मता· ॥११५॥

आक्रमणम्—

श्रूयमाणमभिक्रम्य[8] प्रतिग्राह्यो ध्वनिर्यतः ।
[9]**तदाक्रमण**मित्युक्त गीतलक्षणकोविदै ॥११६॥

अश में अन्य का अश अशाश कहलाता है। (प्रमुख) राग महान् (अधिक) और 'अश' (राग) अल्प होता है, यह नियम है ॥११३॥

कही-कही राग और अंश मे समानता देखी जाती हैं, रूपक में कभी अश राग जैसा हो जाता है और राग अश जैसा दिखाई देता है, इन दोनों मे कोई नियम नही है। जो स्थाय शिल्पी के द्वारा गढ़े हुए जैसे प्रतीत होते हैं, वे 'घटना' कहलाते है ॥११५॥

---

१. (क) रागो यो । २. (क) अनुवादि ३. (ख) रोगोपरागानल्यांश: । ४. (ख) न्यास: ।
५. (क) रागांशोयो । ६. (क) क्वचिच्छाण्टायते । ७. (क) स्थाय ।
८. (क) अतिक्रम्य । ९. (क) तदोक्रमण ।

बङ्कायिः–

यत्र शब्दस्य वलनं कुटिल विद्युतो यथा ।
वक्रता सैव गीतज्ञै **र्बङ्कायिरिति कथ्यते** ॥११७॥

कलरवः–

स यत्र मधुरश्शब्दः भूयान् **कलरवः**[1] स्मृतः ।

वेदध्वनिः–

वेदध्वनिरिवाभाति यत्र **वेदध्वनि** स्मृत ॥११८॥

त्रिविध आहतः—

[2]आहतस्त्रिविध प्रोक्तस्तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ।

अवतीर्णकः–

य [3]घण्टानादवत् तारान्मन्द्रं यातोऽ**वतीर्णक** ॥११९॥

वोकलः—

स्थाय.[4] स्वल्पपरीमाण **वोकल** स हि कथ्यते ॥१२०॥

जो ध्वनि श्रूयमाण का अतिक्रमण करके प्रतिगृहीत हो, वह 'आक्रमण है। जहाँ शब्द मे बिजली की भाँति बल पडते हो वह वक्रता 'बङ्कायि' है ॥११६-११७॥

जहाँ अधिक मधुर शब्द हो, वह कलरव है, जो वेदध्वनि जैसा प्रतीत हो, वह वेदध्वनि है ॥११८॥

'आहत' तीन प्रकार का है, तिर्यक्, उच्च और नीच, जो घण्टा नाद की भाँति तार से मन्द्र की ओर जाये, वह अवतीर्णक है ॥११९॥

अल्पपरिमाण स्थाय वोकल कहलाता है ॥१२०॥

---

१. (क) भूयानलख ।
२. (क) आहतं ।
३. (ख) कण्ठनादवत् ।
४. (क) स्थायास्वल्परीमाणा ।

सुकराभासः—

दुष्करोऽपि[1] हि यः श्रोतुर्भासते[2] सुकरो यथा ।
गीतलक्षणतत्वज्ञैः **सुकराभास** ईरितः ॥१२१॥

दुष्कराभास —

सुकरोऽपि यः श्रोतुर्भासते दुष्करो यथा ।
गीतलक्षणतत्वज्ञैः **दुष्कराभास** उच्यते ॥१२२॥

अपस्वराभासः —

सुस्वरोऽपि यः श्रोतुर्भासतेऽपस्वरो यथा ।
उच्यतेऽ**पस्वराभासो** गीतविद्याविशारदैः ॥१२३॥

उचिता —

यस्मादनन्तरं या[3] च शोभते [4]**सोचिता** स्मृता ।

बुड्ढायिः—

बुड्ढायिशिथिला गाढा वृद्धालप्तिश्च कथ्यते ॥१२४॥

जो दुष्कर होने पर भी श्रोताओ को सुकर प्रतीत होता है, उसे गीतज्ञो ने 'सुकराभास' कहा है ॥१२१॥

जो सुकर होने पर भी श्रोताओ को दुष्कर प्रतीत हो, वह दुष्कराभास कहलाता है ॥१२२॥

सुस्वर होने पर भी श्रोताओं को अपस्वर जैसा प्रतीत होता है, वह अपस्वराभास है ॥१२३॥

जिसके पश्चात् जो शोभित हो, वह 'उचित' है । बूढों की शिथिल और गाढ आलप्ति 'बुड्ढायि' कहलाती है ॥१२४॥

---

१. (क) दु' करोऽपि ।
२. (क) श्रोत्र ।
३. (क) त्वाच ।
४. (क) शोभिता ।

वैसिकी —

अकम्पा चार्धकम्पा[1] च कम्पाढ्या वैसिकी[2] त्रिधा ।
रागस्य यत्स्वरावृत्तेः यथौचित्योपवेशनम् ॥१२५॥

इति श्रीमदभयचन्द्रमुनीन्द्रचरणकमलमधुरायितमस्तक
महादेवार्यशिष्यस्वरविमलविद्यापुत्रसम्यक्त्व
चूडामणि भरतभाण्डीकभाषाप्रवीणश्रुतिज्ञान
चक्रवर्ति संगीताकर नामधेय पार्श्वदेव
विरचिते सगीतसमयसारे
तृतीयाधिकरणम् ।

स्वरावृत्ति से राग का यथोचित उपवेशन वैसिकी है, उसके तीन प्रकार अकम्पा, अर्धकम्पा और कम्पाढ्या है ॥१२५॥

श्रीमद् अभयचन्द्र मुनीन्द्र के चरण कमलो में मधुकरवत् आचरण करने वाले मस्तक से युक्त महादेव आर्य के शिष्य, स्वर विद्या सयुक्त, सम्यकत्वचूडामणि भरतभाण्डीकभाषाप्रवीण, श्रुतिज्ञानचक्रवर्ती, सगीताकर नाम वाले पाश्र्वदेव द्वारा विरचित संगीतसमयसार का तृतीय अधिकरण पूर्ण हुआ ।

(तीसरा अधिकरण समाप्त हुआ)

---

१. (क) चार्थ ।
२. (क) जैसिकी ।

चतुर्थाधिकरणम्

अथ प्रबन्धसमुचितबहुविधदेशिरागान्, षाडवौडुवसम्पूर्णभेदेन नाम च कथयामि। तत्र कानिचन रागाङ्गानि कथ्यन्ते–

रागच्छायानुकारित्वात् रागाङ्गानि विदुर्बुधाः।
भाषाङ्गानि तथैव स्युः भाषाच्छायानुकारितः[1] ॥१॥

अङ्गच्छायानुकारित्वादुपाङ्गं कथ्यते बुधैः।
तानानां करणं तंत्र्यां क्रियाभेदेन कथ्यते ॥२॥

क्रियाया यद्भवेदङ्गं क्रियाङ्गतदुदाहृतम्।

(इतिरागाङ्गभाषाङ्गोपाङ्गक्रियाङ्गलक्षणम्)

अथ स्वराः—

षड्जर्षभश्च[2] गान्धारो मध्यमः पञ्चमस्तथा ॥३॥

इसके पश्चात् प्रबन्ध के लिए उपयुक्त अनेक राग, षाडव, और औडुव सम्पूर्ण भेद से उनके नाम कहता हूं। कुछ उनमे रागाग कहे जाते हैं।

विद्वानो ने रागच्छाया के अनुकारी होने के कारण रागांग बताये हैं। भाषा और छाया के अनुकारी होने के कारण भाषाङ्ग होते हैं ॥१॥

अंग की छाया का अनुकरण करने से उपाङ्ग होते है। तत्री पर तानो का करण क्रियाभेद के द्वारा कहा जाता है ॥२॥

जो क्रिया का अग हो, वह क्रियाग कहलाता है। (यह रागाङ्ग) भाषाङ्ग, उपाङ्ग, क्रियाङ्ग के लक्षण हुए।)

(अब स्वर कहे जाते है)

षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत तथा निषाद ये सात स्वर कहे गये हैं ॥३,४॥

---

१. (ख) नु कारवः। २. (ख) भौ च।

धैवतश्च निषादश्च स्वरास्सप्तैव कीर्तिताः ।

अथ स्वरव्यवस्था—

द्वौ द्वौ निषाद गान्धारौ त्रिस्त्रिश्चर्षभधैवतौ ॥४॥

चतुश्चतुश्च विज्ञेयाः षड्जमध्यमपञ्चमाः ।*

अथ रागाङ्गरागा —

मध्यमादि, शकराभरण, तोड्डिः[1] देशीहिन्दोल, शुद्धबङ्गाल, आम्रपञ्चम, घण्टारव.,[2] गूर्जरी,[3] सोमराग, मालवश्री, दीपराग. वराटी इति द्वादश रागाङ्ग सम्पूर्णरागा । गौडी देशी च पहीनौ,[4] धन्यासि देशाख्या च रिहीने[5] इति चत्वारो रागाङ्गषाडवरागाः । भैरवश्रीरागौ परिहीनौ, मार्गहिन्दोलगुण्डक्री धरिहीने इति चत्वारो रागाङ्गौडवरागाः ।

(इति विंशति रागाङ्गरागा)

यह स्वरव्यवस्था है –

निषाद-गान्धार द्विश्रुतिक, ऋषभ-धैवत त्रिश्रुतिक और षड्ज, मध्यम, पञ्चम, चतु श्रुतिक है ॥४,५॥

अब रागाङ्ग राग ये है --

मध्यमादि, शंकराभरण, तोड्डि, देशीहिन्दोल, शुद्धबगाल, आम्र-पचम, घण्टारव, गुर्जरी, सोमराग, मालवश्री, दीपराग और वराटी ये बारह सम्पूर्ण रागाङ्ग राग है। गौडी और देशी पचम हीन, धन्यासी और देशाख्य, ऋषभ हीन ये चार षाडवरागाङ्ग राग है। भैरव और श्रीराग ऋषभपञ्चमहीन तथा मार्गहिन्दोल और गुण्डक्री धैवतऋषभहीन ये चार औडुवरागाङ्गराग है।

(ये बीस रागाङ्ग राग है।)

---

१ (क) तोन्दि । २ (क) घण्टाराग ।

३ (क) घूर्जरी । (ख) पहिगौ ।

४ (क) न्यासि । ५. (क) चरिहिनौ ।

* आदर्शद्वयेऽपिस्वरव्यवस्था सहिता स्वरा अत्रैवोपलभ्यन्ते । स्वरप्रकरणएवैताभिक्षेप उचित ।

कैशिकी, बेलावलिः शुद्धवराटी, आदिकामोदः, नाट्टा, आभीरी,[1] बृहद्दाक्षिणात्या, लघ्वीदाक्षिणात्या,[2] पौराली, भिन्नपौराली, मधुकरी, रगन्ती,[3] वेरञ्जि, प्रथममञ्जरी, सालवाहनी, नट्टनारायण,[4] उत्पली,[5] वेगरञ्जी, तरङ्गिणी, ध्वनिः,[6] नादान्तरी इति भाषाङ्ग सम्पूर्णरागा एकविंशतिः ।

अथ भाषाङ्गषाडवाः ।

कर्णाट बङ्गाल[7] सावेरिश्च[8] पहीनौ । अन्धाली, श्रीकण्ठी, उत्पली[9] इति त्रयो गहीनाः[10] । गौडी, शुद्धा, सौराष्ट्री, भम्माणी इति चत्वारो रागा परिहीनाः[11] सैन्धवीरागो गहीनः[12] छायारागस्सहीन. इत्येकादश रागा. भाषाङ्गषाडवाः । नागध्वनि[13] पधहीन । [14]आहीरिर्गरिहीन । काम्भोजिर्धरिहीनः । पुलिन्दी गपहीना । कच्छेल्लि. गधहीनः[15] । चाहारि[16] गौल्ली गनिहीनौ । गान्धारगति[17] सपहीन । ललिता त्रावणि, सैन्धव, डोम्बकि,[18] कालिन्दिखसको[19]इतिसप्त रागा. परिहीनः।इति पचदश रागा भाषाङ्गौडुवाः।

(इति सप्तचत्वारिशत् रागाः भाषाङ्गा)

कैंशिकी, बेलावलि, शुद्धवराटी, आदिकामोद, नाट्टा, आभीरी, वृद्दाक्षिणत्या, लघुदाक्षिणात्या, पौराली, भिन्नपौराली, मधुकरी, रगन्ती, वेरञ्जि, प्रथममजरी, सालवाहनी, नट्टनारायण, उत्पली, वेगरञ्जी, तरङ्गिणी, ध्वनि और नादान्तरी ये इक्कीस भाषाङ्ग सम्पूर्ण राग हैं ।

अब भाषाङ्ग षाडव (ग्यारह) है । कर्णाटबङ्गाल और सावेरी पचञ्महीन; अन्धाली, श्रीकण्ठी और उत्पली ये तीनो गान्धारहीन, गौडी, शुद्धा, सौराष्ट्री और भम्माणी ये चार ऋषभहीन, सैन्धवी गान्धारहीन, छाया षड्जहीन, है । (ये भाषाङ्ग षाडव राग है ।)

नागध्वनि, पञ्चमधैवतहीन, आहीरी ऋषभगान्धारहीन, काम्भोजी ऋषभधैवतहीन, पुलिन्दी गान्धारपञ्चमहीन, कच्छेल्लिगान्धारधैवतहीन, चाहारि (!) और गौल्ली गान्धार-निषादहीन, गान्धारगति षड्जपञ्चमहीन, ललिता, त्रावणि, सैन्धव, डोम्बक्री, सैन्धवी, कालिन्दी और खसक यह सात राग पञ्चम-ऋषभ हीन है । ये पन्द्रह औडुव भाषाङ्ग राग हैं । इस प्रकार ये सैतालीस भाषाङ्ग राग हैं ।)

---

१. (क) आरभि । २. (क) अष्टिदाक्षिणात्या । ३. (क) सेरञ्जि ।
४. (क) नर नारायणी । ५. (क) उत्पल । ६. (क) दनि । ७ बिम्बाहाल ।
८. (क) सौवीरश्च । ९. नोलोत्पली । १०. (क) सहीना. । ११. परिहोनाः ।
१२. (क) निहीनः । १३. (क) नार ध्वनिः । १४. (क) आहुरि । १५. (क) कच्चल्लि ।
१६. (क) चोहारी । १७. (क) दतिः । १८. (क) दोम्बनि । १९. (क) खसिरो ।

अथ उपाङ्गरागाः—

सैन्धववराटी, कुन्तलवराटी, अपस्थानवराटी, द्राविडवराटी, प्रतापवराटो, हतस्वरवराटी, तुरुष्कतोडी, सौराष्ट्रगुर्जरी, दक्षिण गुर्जरो, द्राविडगुर्जरो, कर्णाटगौड, द्राविडगौड, छायावेलाउली (!) भैरवी, सिहलकामोद, देवाल, महुरि, छायानाट्टा इत्यष्टादशोपाङ्ग सम्पूर्णरागा ।

अथोपाङ्गेषाडवा ।

महाराष्ट्र गूर्जरी, खम्भाइति, कुरुञ्जि, रामक्री एते चत्वारो रागा रिहीना[1] हुञ्जी[2] महीना । मल्लारिर्गहीन । भल्लाति रिहीनः इति सप्त रागा उपाङ्गषाडवा ।

अथ उपाङ्गा औडुवा ।

छायातोड्डि, देशालगौड, तुरुष्कगौड, प्रतापवेलाउलि, पूर्णाट एते पञ्चरागा परिहीना । मल्लार गनिहीन षडेते उपाङ्गा औडुवा । इत्युपाङ्गरागा एकत्रिंशत् ।

अब (अठारह) उपाङ्ग राग (सम्पूर्ण) है। ये है सैन्धववराटी, कुन्तलवराटी, अपस्थानवराटी, द्राविडवराटी, प्रतापवराटी, हतस्वर वराटी, तुरुष्कतोडी, सौराष्ट्रगुर्जरी, दक्षिणगुर्जरी, द्राविडगुर्जरी, कर्णाट गौड, द्राविडगौड, छायाबेलाउली, भैरवी, सिहलकामोद, देवाल, महुरि छायानाट्टा ।

ये अठारह उपागराग सम्पूर्ण है ।

षाडव उपाङ्गराग (सात) है, महाराष्ट्रगुर्जरी, खम्भाइति, कुरुञ्जि, और रामक्री ये चारो ऋषभहीन, हुञ्जी मध्यमहीन, मल्लारि गान्धारहीन और भल्लाति ऋषभहीन है। (ये सात षाडव उपागराग है।)

औडुव उपाङ्गराग (छ) है, छायातोडी, देशालगौड, तुरुष्क गौड, प्रतापवेलावली और पूर्णाट ये पाँच ऋषभ-पञ्चम हीन है और मल्लार-निषाद हीन है। ये छ औडुव उपाग राग है। ये इकतीस उपाङ्ग राग है।

---

१. (क) पहीन ।

२. भुञ्जे ।

अथ क्रियाङ्गरागाः—

देवक्री, त्रिनेत्रक्री एतौ सम्पूर्ण रागौ, स्वभावक्री धैवतहीनः षाडव, एते त्रय क्रियाङ्गरागा ।

इत्येकोत्तरशतसंख्यापरिगणितरागमध्ये लोकव्यवहारसिद्धानां केषांचिद्रागाणां लक्षण वक्ष्ये ।

मध्यमादिश्च तोड्डी च वसन्तो भैरवस्तथा ॥५॥

श्रीराग शुद्धबङ्गालो मालवश्रीस्तथैव च ।
वराटो गौडधन्यासी गुण्डक्रो गुर्जरो तथा ॥६॥

देशाख्या देशिरित्येते रागाङ्गानि विदुर्बुधाः ।
वेलाउलिस्तथान्धाली शाम्बरी कलमञ्जरी ॥७॥

ललिता खसिका नाट्टा तथा शुद्धवराटिका ।
श्रीकण्ठीति चेति भाषाङ्गा नव रागा प्रकीर्तिताः ॥८॥

षड्वराटयश्च रामक्रीः खम्मातिर्मल्हरस्तथा ।
चतुश्चतुश्च विज्ञेया गौड गुर्जर्य एव च ॥९॥

अब क्रियाङ्ग (तीन) है। देवक्री और त्रिनेत्रकी ये सम्पूर्ण राग हैं, स्वभावक्री धैवतहीन षाडव है। ये तीन कियाङ्ग राग हैं।

इन गिनाये हुए एक सौ एक रागों में लोकव्यवहारसिद्ध कुछ रागों के लक्षण कहूंगा।

मध्यमादि, तोडी, वसन्त, भैरव, श्रीराग, शुद्धबङ्गाल, मालवश्री, वराटी, गौड, धन्यासी, गुण्डक्री, गुर्जरी, देशाख्या और देशी ये विद्वानों ने रागाङ्ग राग बताए हैं।

बेलाउलि, आन्धाली, शाम्बरी, कलमञ्जरी, ललिता, खसिका, नाट्टा, शुद्धवराटिका, और श्रीकण्ठी ये नौ राग भाषाङ्ग हैं।

छः वराटियाँ, रामक्री, खम्भाति, मल्हर, चार गौड, चार गुर्जरी,

छाया नाट्टा[1] च मल्हारिः[2] भलात[3]श्चैव[4] भैरवी ।
अमीरागा निगद्यन्त उपाङ्गानीति कोविदैः ॥१०॥
देवक्री सा च विज्ञेया क्रियाङ्गमिति कोविदैः ।
मध्यम ग्राम सम्भूता मध्यमांशग्रहान्विता ॥११॥
मध्यमादिरितिख्याता शृङ्गीर विनियुज्यते ।
एतामेव प्रयुज्यादौ वैणिका वांशिकास्तथा ॥१२॥
पश्चादभिमत राग प्रकुर्वन्ति विचक्षणाः ।
॥इति मध्यमादिः ॥*
अङ्गं षाडव रागस्य सम्पूर्णश्च समस्वरः ।
षड्जतारश्च मन्द्रश्च न्यासांश ग्रहमध्यमः ।
तोडि नाम प्रसिद्धोऽय रागो हर्षे प्रयुज्यते ॥१४॥
॥ इति तोडी ॥*

छाया नाट्टा, मल्हारि, भलात और भैरवी ये विद्वानो ने उपाङ्ग राग कहे है ।।५,१०॥

विद्वानों ने देवक्री को क्रियाङ्ग कहा है ।

मध्यमादि राग मध्यमग्रामज है, इसका अंश, ग्रह, न्यास, मध्यम है. इसका विनियोग शृङ्गार मे होता है । बीणावादक और वंशीवादक आरम्भ में इसी का प्रयोग करने के पश्चात् अभिमत राग का प्रयोग करते है ॥११,१२॥

॥ मध्यमादि सम्पूर्ण हुए ॥

तोडीराग षाडवराग का अङ्ग है। सम्पूर्ण है, इसमें प्रयोज्य स्वरों का समान प्रयोग होता है, तारावधि षड्ज और मन्द्रावधि षड्ज है। इसका न्यास अंश और ग्रह स्वर मध्यम है इसका प्रयोग हर्ष में होता है ॥१३,१४॥

॥ तोडी का निरूपण समाप्त ॥

---

१ (क) नारि । २ (क) मलहरि । ३ (क) तुलात । ४ श्वैद ।

* पार्श्वदेवेन जगदेक कृतानि रागलक्षणानि प्रत्यक्षरं तथैव गृहीतानि, भरतकोषे कविमहोदयेन समुद्धृतानि च । तान्यवलोक्यैवास्माभिस्तेषा पाठ संशोधित. । परत्रापि ताराङ्कितानि सर्वाणि रागलक्षणानि जगदेक कृतानीत्यवगन्तव्यम् ।

मार्गहिन्दोलरागाङ्गं हिन्दोलो वेति संज्ञितः ॥१५॥
अंशे न्यासे ग्रहे षड्जः तस्य तारे तु मध्यमः ।
षड्जस्वरो भवेन्मन्द्रे ताडितोरिधवर्जितः ॥१६॥
सपयोः कम्पितश्चैव शृङ्गारे विनियुज्यते ।
अयमेव वसन्ताख्यः प्रोक्तो रागविचक्षणैः ॥१७॥
॥ इति वसन्तः ॥*

भिन्नषड्जसमुद्भूतो मन्यासो धांशभूषितः ।
समस्वरो रिपत्यक्तः प्रार्थने भैरवः स्मृतः ॥१८॥
॥ इति भैरव ॥*

श्रीरागष्टक्करागाङ्गं मतारो मन्द्रगस्तथा ।
रिपञ्चमविहीनोऽयं समशेषस्वराश्रयः ॥१९॥
षड्जन्यासग्रहांशश्च रसे वीरे प्रयुज्यते ।
॥ इति श्रीराग ॥*

वसन्त या हिन्दोल मार्गहिन्दोल राग का अङ्ग है। इसका अंश, न्यास, ग्रह स्वर षड्ज है। तारावधि मध्यम है और मन्द्रावधि षड्ज है। जो ताडित है। यह ऋषभ-धैवतहीन है। षड्ज-पंचम कम्पित है। इसका विनियोग शृङ्गार में होता है ॥१५, १७॥

॥ वसन्त का निरूपण समाप्त ॥

भैरव का जन्म भिन्न षड्ज से हुआ है, इसका न्यास स्वर मध्यम तथा अंश स्वर धैवत है। ऋषभ-पञ्चम वर्जित है। प्रार्थना में इसका विनियोग होता है। ॥१८॥

॥भैरव का निरूपण समाप्त ॥

श्रीराग टक्कराग का अङ्ग है, इसकी तारावधि मध्यम और मन्द्र, गान्धार रिषभ व पञ्चमहीन है। इसमें अन्य स्वरों का प्रयोग समान है ॥१९॥

इसका न्यास, ग्रह स्वर षड्ज है। इसका विनियोग वीर में होता है।

श्रीराग का निरूपण समाप्त ॥

(ख) पुस्तके प्राय एतादृश एवपाठः। (क) पुस्तकस्य पाठ एतादृशोऽपि बहुत्र लेखक प्रमाद दूषित इति।

शुद्धषाडवरागाङ्गं शुद्धबंगालसञ्ज्ञकः ॥२०॥
न्यासांशो मध्यमेनास्य प्रहर्षे विनियोजनम् ।
(इति शुद्धबङ्गालः)*
मालवादेर्भवेदङ्गं कैशिकस्य समस्वरा ॥२१॥
सम्पूर्णतारमन्द्रस्था[1] षड्जस्वरविराजिता ।
षड्जांशन्याससम्पन्ना मालवश्रीरियमता ॥२२॥
मूर्च्छना शुद्धमध्या चेत्सैव हर्षपुरी मता ।
शृङ्गारे विनियोगः स्यादनयोरुभयोरपि[2] ॥२३॥
(इति मालव श्री हर्षपुर्यौ)*
विभाषा रागराजस्य[3] पञ्चमस्य वराटिका ।
धांशा षड्जग्रहन्यासा धतारा मन्द्रमध्यमा ॥२४॥
समशेषस्वरा[4] पूर्णा शृङ्गारे याष्टिकोदिता ।
(इति वराटी)*

शुद्धबङ्गाल राग शुद्धषाडव का अङ्ग है। मध्यम इसका अंश और न्यास है, इसका विनियोग हर्ष में है।

(शुद्ध बङ्गाल का निरूपण समाप्त)

मालवश्री मालव कैशिक का अङ्ग है ॥२१॥

इसमें स्वर समान है। षड्ज स्वर से विराजित है। षड्ज इसका अंश और न्यास है और मन्द्रतारावधि सम्पूर्ण है ॥२२॥

(मालवश्री का निरूपण समाप्त)

यदि मालवश्री की मूर्च्छना शुद्धमध्या हो जाये, तो वही हर्षपुरी हो जाती है, इन दोनो का विनियोग शृङ्गार मे होता है ॥२३॥

(हर्षपुरी का निरूपण समाप्त)

याष्टिक के अनुसार वराटिका रागों के राजा पञ्चम की विभाषा है, इसका अंश स्वर धैवत तथा ग्रह और न्यास षड्ज है, तारावधि धैवत और मन्द्रावधि मध्यम है, यह पूर्ण है और इसमे अन्य स्वरो का प्रयोग समान है।

(वराटिका का निरूपण समाप्त)

---

१. (ख) मन्नस्था। २. एषा पंक्ति (ख) पुस्तके नास्ति। ३. (ख) रागजस्य।
४. (क) समश्लेषस्वरा।

गौडः स्याट्टक्करागाङ्गं निन्यासांशग्रहान्वितः ॥२५॥
वर्जितः पञ्चमेनैष रसे वीरे नियुज्यते ।
जातेश्चाङ्गं[1] निषादिन्या वदन्ति न तु मे मतम् ॥२६॥
(इति गौड.)*

अङ्गं धन्नासिका प्रोक्ता शुद्धकैशिकमध्यमे ।
षड्जांशग्रहमन्यासा षाडवर्षभवर्जिता ॥२७॥
गान्धारमध्यमस्वल्पा रसे वीरे नियुज्यते ।
देशीहिन्दोलराङ्गं[2] षड्जांशन्याससयुता ॥२८॥
रिधत्यक्ता गतारा च शेषैरान्दोलिता स्वरैः ।
पमन्द्रा हास्यशृङ्गारे गेया गुण्डकृतिर्भवेत् ॥२९॥

(इति गुण्ड कृतिः)*

गौड राग टक्क का अङ्ग है, इसका न्यास, अंश और ग्रह स्वर निषाद है, पंचम वर्जित है, वीर रस में इसका विनियोग है। कुछ लोग इसे निषादिनी जाति का अङ्ग कहते है, मैं उनसे असहमत हूं ॥२४-२६॥

(गौड का निरूपण समाप्त)

धन्नासिका को शुद्धकैशिकमध्यम का अङ्ग कहा गया है, इसका अंश, ग्रह षड्ज और न्यास मध्यम है, यह ऋषभवर्जित षाडव है, गान्धार और मध्यम इसमे अल्प है, वीररस में इसका विनियोग होता है।

(धनासिका का निरूपण समाप्त)

गुण्डकृति देशीहिन्दोलराग का अङ्ग है. इसमें अंश और न्यास स्वर षड्ज है। ऋषभ-धैवत इसमें वर्जित है। इसकी तारावधि गान्धार और मन्द्रावधि पञ्चम है, शेष स्वर आन्दोलित है, हास्य और शृङ्गार में इसका विनियोग होता है ॥२९॥

(गुण्डकृति का निरूपण समाप्त)

---

१. (ख) रागेरङ्गनिषादिन्या ।
२. (ख) देशि ।

रिग्रहांशा च मन्यासा जाता पञ्चमषाडवात् ।
ममन्द्रा च नितारा च रिधाभ्यामपि भूयसी ॥३०॥
गुर्जरी ताडिता पूर्णा शृङ्गारे विनियुज्यते ।
(इति गुर्जरी)*
गान्धारपञ्चमाज्जाता देशाख्या चर्षमोज्झिता[1] ॥३१॥
ग्रहांशन्याससम्बद्धगान्धारा[2] च समस्वरा ।
निषादमन्द्रा गान्धारस्फुरितेन विराजिता ॥३२॥
षाडवा यदि रागाङ्गं वंशे पूर्णेव दृश्यते ।
(इतिदेशाख्या)*
स्यादङ्ग रेवगुप्तस्य गमन्द्रा पञ्चमोज्झिता ॥३३॥
ऋषभांशग्रहन्यासा तथा समनिभूयसी ।
देशी नाम प्रयोक्तव्यो[3] रागोऽय करुणे रसे ॥३४॥
(इति देशी)*
॥ इति रागाङ्गानि ॥

गुर्जरी का जन्म पञ्चमषाडव राग से हुआ है, इसका ग्रह और अश ऋषभ है, न्यास मध्यम है, मन्द्रावधि मध्यम और तारावधि निषाद, है, ऋषभ-धैवत इसमें बहुल है, यह ताडिता और पूर्ण है शृङ्गार में इसका विनियोग होता है।

(गुर्जरी का निरूपण समाप्त)

देशाख्या का जनक राग गान्धारपञ्चम है। इसमें ऋषभ नही है। ग्रह, न्यास और अश स्वर गान्धार है। समस्त स्वरो का समान प्रयोग है। इसकी मन्द्रावधि निषाद गान्धार स्फुरित है। यह षाडव है, परन्तु वंश मे पूर्ण जैसी दिखाई देती है ॥३०,३२॥

(देशाख्या का निरूपण समाप्त)

देशी रेवगुप्त का अङ्ग है। इसकी मन्द्रावधि गान्धार है। इसमें पञ्चम नही है। इसका अश, ग्रह और न्यास ऋषभ है। इसमें षड्ज, मध्यम और निषाद बहुल है,करुण रस में यह प्रयोज्य है।

(देशी का निरूपण समाप्त ।)

(ये रागाङ्ग हुए)

---

१. (ख) ऋषभेण विवर्जिता। २ (ख) सम्बन्ध। ३. प्रयोक्तव्या।

(अथ भाषाङ्गाः)

ककुभप्रभवा भाषा या प्रोक्ता भोगवर्द्धनी ।
वेलाउली तदङ्गं स्यात्परिपूर्णसमस्वरा ॥३५॥

धैवतांशग्रहन्यासा धतारा मन्द्रमध्यमा ।
षड्जेन कम्पिता सेयं विप्रलम्भे प्रयुज्यते ॥३६॥

(इति वेलाउली)*

विभाषान्धालिका प्रोक्ता जाता मालवपञ्चमात् ।
बृहती दाक्षिणात्योत्था गहीना मध्यमांशका ॥३७॥
षाडवा षड्जमन्द्रा च निधाल्पा मन्द्रमध्यभाक् ।
पचमन्याससंयुक्ता रसे[1] वीरे नियुज्यते ॥३८॥

(इत्यान्धालिका)*

ककुभोत्थरगन्त्यङ्गं धान्ता मध्यग्रहांशका ।
गतारा स्वल्पषड्जा च पञ्चमेन विवर्जिता ॥३९॥

अब भाषाङ्गों का वर्णन करते हैं। वेलाउली ककुभोत्पन्न भाषा भोग वर्द्धनी का अङ्ग है। यह सम्पूर्ण और समस्वर है। इसमें षड्ज कम्पित है, धैवत इसका अंश ग्रह और न्यास है, तारावधि धैवत और मन्द्रावधि मध्यम है, विप्रलम्भ (शृङ्गार) में यह प्रयोज्य है।

(वेलाउलि का निरूपण समाप्त।)

आन्धालिका मालवपञ्चम की विभाषा है, बृहती दाक्षिणात्या से उत्थित है। गान्धार-वर्जित षाडव और मध्यमांश है। इसका संचार मन्द्र और मध्य स्थान में है, मन्द्रावधि षड्ज है और निषाद-धैवत अल्प हैं, न्यास स्वर पञ्चम है, वीर रस में इसका विनियोग होता है।

(आन्धालिका का निरूपण समाप्त)

शाम्बरी ककुभ से उत्पन्न रगन्ती का अङ्ग है। अंश और मध्यम तथा न्यास स्वर धैवत है। तारावधि गान्धार और मन्द्रावधि

---

१. शृङ्गारे।

ममन्द्रा शाम्बरी[1] ज्ञेया कर्तव्या करुणे रसे ।
(इति शाम्बरी) *
गमन्द्रा धरितारा च ग्रहांशन्यास[2]पञ्चमा ॥४०॥
गमाढ्या चाल्पशेषा च प्रोक्ता प्रथममञ्जरी ।
पञ्चमादिर्यतस्तस्मादुत्सवे विनियुज्यते ॥४१॥
(प्रथम मञ्जरी)*
ललिता टक्करागात्तु तदङ्ग[3] ललिता मता ।
षड्जांशन्याससंयुक्ता ज्ञेया वीरे रिपोज्झिता ॥४२॥
(इति ललिता)*
मग्रहन्याससंयुक्ता सांशा तारेण वर्जिता ।
समस्वरा रिपत्यक्ता समन्द्रा खसिका भवेत् ॥४३॥
गान्धारादिर्यतस्तस्मात् सङ्कीर्णा करुणे भवेत् ।
(इति खसिका)[4]*

मध्यम है। षड्ज अल्प तथा पञ्चम वर्जित है, करुण रस में प्रयोज्य है।
(शाम्बरी का निरूपण समाप्त)

प्रथममञ्जरी मे मन्द्रावधि गान्धार,तारावधिधैवत या ऋषभ, ग्रह, अंश और न्यास पञ्चम, गान्धार-मध्यम का बाहुल्य तथा अवशिष्ट स्वरों की अल्पता है। पञ्चम ग्रह होने के कारण उत्सव आदि मे इसका विनियोग है ॥३५-४१॥

(प्रथम मजरी का निरूपण समाप्त)

ललिता टक्क रागसे उत्पन्न (रागाङ्ग) ललिता का अङ्ग है। ऋषभ-पंचम वर्जित है, अश और न्यास षडज है, वीररस में प्रयोज्य है ॥४२॥

(ललिता का निरूपण समाप्त)

खसिका में ग्रह और न्यास मध्यम, अंश षड्ज, तारस्थानहीनता, समस्वरता, ऋषभ-पञ्चम का वर्जन, मन्द्रावधि षड्ज है ॥४३॥

गान्धारादि (!) होने के कारण यह करुण रस में विनियोज्य है।

(खसिका का निरूपण समाप्त।)

---

१ सावधि, (ख) सायरी ।२. (ख) ग्रहांशस्य सपंचमा । ३. रङ्गं तु । ४. (क) खशिखा
५. (क) कौशिकी ।

षड्जांशा सग्रहन्यासा[1] सम्पूर्णा च समस्वरा ॥४४॥
तथा तारा चमन्द्रा च यावद् गान्धारपञ्चमौ ।
भाषा या[2] पिञ्जरी तस्या अङ्गं नाट्टाभिधीयते ॥४५॥
(इति नाट्टा)*

सौवीरकस्य सौवीरी[3] मुख्यभाषा च या स्मृता ।
तदङ्गं मोदकी नाम्ना सैव शुद्धा वराटिका ॥४६॥
अस्याः न्यासांशयोः षड्जः प्रचुरा धनिपास्तथा ।
सम्पूर्णेयं[4] रसे शान्ते प्रयोगोऽस्याः प्रदर्श्यते ॥४७॥
(इति शुद्धवराटी)*

श्रीकण्ठी भिन्नषड्जोत्था गहीना षाडवा भवेत् ।
धांशन्यासग्रहोपेता तथा धैवतभूयसी ॥४८॥
गुर्वाज्ञा करणे यस्या विनियोग. प्रकीर्तित· ।
(इति श्रीकण्ठी)*

॥ इति भाषाङ्ग रागा ॥

नाट्टा पिञ्जरी भाषा का अङ्ग है, इसमें अंश, ग्रह और न्यास षड्ज है, यह सम्पूर्ण और समस्वर है, तारावधि गान्धार और मन्द्रावधि पञ्चम है ॥४४,४५॥

(नाट्टा का निरूपण समाप्त ।)

शुद्धवराटी सौवीर की मुख्य भाषा मोदकी ही है। इसका अंश और न्यास षड्ज है और इसमें धैवत, निषाद और पञ्चम की प्रमुखता है, यह सम्पूर्ण है, और शान्त रस में प्रयोज्य है।

(शुद्ध वराटी का निरूपण समाप्त ।)

श्रीकण्ठी का जन्म भिन्न षड्ज से हुआ है, यह गान्धारहीन षाडव है, इसका अंश, ग्रह और न्यास धैवत है और धैवत इसमें बहुल है, गुरु की आज्ञा के पालन में यह प्रयोज्य है।

(श्रीकण्ठी का निरूपण समाप्त ।)

॥ ये भाषाङ्ग राग हुए ॥

---

१. (ख) च ग्रहन्यासा । २. (ख) यः । ३. (ख) सौवीर ।
४. सम्पूर्णोऽयं ।

अथोपाङ्गरागाः —

भाषा स्यात्सैन्धवीनामा जाता मालवकैशिकात् ॥४६॥
तदङ्गं गायकैर्ज्ञेया सैन्धवीय वराटिका ।
षड्जांशन्याससंयुक्ता ममन्द्रा सधकम्पिता ॥५०॥
गान्धारबहुला तज्ज्ञै. शृङ्गारे विनियुज्यते ।

(इति सैन्धववराटी)*

निषादबहुला पूर्णा षड्जमन्द्रा च ताडिता ॥५१॥
पूर्वोक्तविनियोगा च[1] स्यात् कुन्तलवराटिका ।

(इति कुन्तलवराटी)

मनिधेषु भवेन्मन्द्रा षड्जाशन्यासराजिता ॥५२॥
परिपूर्णा स्वरैस्सर्वैरवस्थानवराटिका ।

(इत्यवस्थानवराटी)*

(अब उपाङ्ग राग ये है) —

सैन्धववराटी मालवकैशिक की भाषा सैन्धवी का अङ्ग है. इसमें अंश और न्यास षड्ज. मन्द्रावधि मध्यम, षड्ज-धैवत कम्पित, गान्धार बहुल है और यह शृङ्गार रस में प्रयोज्य है ॥४६-५०॥

(सैन्धववराटी का निरूपण समाप्त)

कुन्तलवराटी पूर्ण है, इसमें निषाद बहुल है, मन्द्रावधि षड्ज तथा ताडित गमक से युक्त है । पूर्ववत् (शृङ्गार मे) प्रयोज्य है ॥५१॥

(कुन्तलवराटी का निरूपण समाप्त)

अवस्थान वराटी सम्पूर्ण है, इसकी मन्द्रावधि मध्यम, निषाद या धैवत है, अंश और न्यास षड्ज है ॥५२॥

(अवस्थानवराटी का निरूपण समाप्त)

---

१. (क) विनियोगे च ।

कम्पिता पञ्चमे षड्जे धमन्द्रा भूरिपञ्चमा ॥५३॥
षड्जांशन्याससम्पन्ना[1] स्यात्प्रतापवराटिका ।
(इति प्रतापवराटी)*
मन्द्रधैवतसंयुक्ता पञ्चमाहतकम्पिता ॥५४॥
षड्जांशन्याससम्पन्ना हतस्वरवराटिका ।
(इति हतस्वरवराटी)*
ऋषभे स्फुरिता पूर्णा[2] निमन्द्रेण विराजिता ॥५५॥
षड्जांशन्याससंयुक्ता द्राविडीयं वराटिका ।
(इति द्राविडवराटी)
टक्क[3]रागोद्भवा भाषा योक्ता कोलाहलाख्यया ॥५६॥
तदुपाङ्गं रामकृतिः षड्जन्यासोपशोभिता ।
मध्यमांशपहीनाच रसे वीरे[4] नियुज्यते ॥५७॥
(इति रामकृति.)*

प्रतापवराटी का अंश और न्यास षड्ज है, पञ्चम और षड्ज इसमे कम्पित है, मन्द्रावधिषड्ज, पञ्चम का बाहुल्य है ॥५३॥

(प्रतापवराटी का निरूपण समाप्त)

हतस्वरवराटी का अश और न्यास षड्ज है, धैवत मन्द्रावधि है, पञ्चम आहत और कम्पित है ॥५४॥

(हतस्वर वराटी का निरूपण समाप्त)

द्राविडवराटी में अंश और न्यास षड्ज है, इसमे स्फुरित ऋषभ है, यह पूर्ण है और इसकी मन्द्रावधि निषाद है ॥५५॥

(द्राविडवराटी का निरूपण समाप्त)

रामकृति टक्क राग से उत्पन्न कोलाहलभाषा का अङ्ग है। इसका अशस्वर मध्यम और न्यासस्वर षड्ज है। इसमें पचमस्वर वर्जित है और वीररस में इसका विनियोग होता है ॥५६-५७॥

(रामकृति का निरूपण समाप्त)

---

१. (क) षड्जन्यासमुत्पन्ना । २. (क) भूरि, (ख) भूरि । ३. (क) ठक्क ।
४. (क) वीर्य्ये ।

षाडवा ककुभोद्भूता धांश[1] न्याससवर्जिता[2] ।
मध्यमेन निषादेन विहितान्दोलन[3] क्रमा ॥५८॥
शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये गेया कम्भातिका मता ।
(इति कम्भाती)*
लक्षण विनियोगश्च भवेन्मल्लारिकासमम् ॥५९॥
मल्हारे च गनित्याग. पंचमस्फुरणं भवेत् ।
(इति मल्हार·)
स्वस्थाने ताडितः पूर्णः षड्जांशन्याससंयुत. ॥६०॥
प्रोक्तः कर्णाटगौडोऽय प्रतापपृथिवीभुजा ।
(इति कर्णाट गौड)*
षड्जेनान्दोलितः सांश.[4] पञ्चमर्षभवर्जितः ॥६१॥
देशवालाख्यगौडोऽयमौडुवः परिकीर्तितः ।
(इति देशवालगौड.)

कम्भातिका का जन्म ककुभ से हुआ है, इसका अंश और न्यास धैवत है और इसमे षड्ज वर्जित है, मध्यम और निषाद आन्दोलित है। विप्रलम्भ (शृङ्गार) में विनियोग होता है ॥५८॥

(कम्भातिका का निरूपण समाप्त)

मल्हार का लक्षण और विनियोग मल्हारी के समान है। मल्हार में गान्धार और निषाद का परित्याग और पचम स्फुरित है ॥५९॥

(मल्हार का निरूपण समाप्त)

कर्णाटगौड स्वस्थान में ताडित और पूर्ण है। इसका अश और न्यास षड्ज है, यह लक्षण प्रतापचक्रवर्ती (जगदेकमल्ल) ने किया है ॥६०॥

(कर्णाटगौड का निरूपण समाप्त ।)

देशवालगौड औडुव है ऋषभ-पचम वर्जित हैं, अंश स्वरषड्ज है जो आन्दोलित है ॥६१॥

(देशवालगौड का निरूपण समाप्त)

---

१. (ख) ककुबोद्भूता । २ (ख) धाशा सपविर्जिता । ३. (ख) निहितान्दोलनक्रमा । ४. (ख) साङ्ग ।

स्फुरितः पञ्चमे षड्जे गान्धारे तिरिपुस्तथा ॥६२॥
[1]निम्यासांशसमायुक्तो द्राविडोगौड उच्यते ।
(इति द्राविडगौडः)*
रिपहीनो निषादान्तो गान्धारबहुलस्तथा ॥६३॥
मन्द्रेण ताडितः प्रोक्तस्तुरुष्को[2] गौड ईरितः ।
(इति तुरुष्कगौडः)*
गुर्जरी[3] स्यान्महाराष्ट्री रिन्यांसाशताडिता ॥६४॥
निमन्द्रा च पहीनेयमुत्सवे विनियुज्यते ।
(इति महाराष्ट्रगुर्जरी)*
मतङ्गस्य मते प्रोक्ता भाषा मालवपञ्चमे ॥६५॥
सौराष्ट्रिका तदङ्गस्यात् पन्यासाँशा च षाडवा ।
ख्यातासौराष्ट्रिकालोके ऋषभेण विवर्जिता ॥६६॥
ऋषभेण कम्पिता पूर्णा सौराष्ट्रीगुर्जरी भवेत्[4] ।
(इति सौराष्ट्रगुर्जरी)*

द्राविडगौड में अंश और न्यास निषाद, पंचम तथा षड्ज स्फुरित, गान्धार तिरिपुयुक्त है ॥६२॥

(द्राविडगौड का निरूपण समाप्त)

तुरूष्कगौड मे न्यासस्वर निषाद, ऋषभ-पंचम का वर्जन, गान्धार का बाहुल्य, तथा मन्द्र में ताडित है ॥६३॥

(तुरूष्कगौड का निरूपण समाप्त)

महाराष्ट्रगुर्जरी में अश और न्यास ऋषभ है, जो ताडित है, मन्द्रावधि निषाद है और पचम वर्जित है ।।६४॥

(महाराष्ट्रगुर्जरी का निरूपण समाप्त)

मतङ्ग के मत के अनुसार सौराष्ट्रगुर्जरी मालवपंचम की भाषा सौराष्ट्रिका का अङ्ग है । सौराष्ट्रिका में ऋषभ वर्जित है । किन्तु सौराष्ट्र गुर्जरी में ऋषभ कम्पित है और यह पूर्ण है ॥६५ ६६ ॥

(सौराष्ट्रगुर्जरी का निरूपण समाप्त ।)

---

१. निस्यासांश । २. (क) तौरुष्को ।
३. घूर्जरी । ४. एषैव पक्तिः (क), (ख) पुस्तकयोः ।

मध्यमे कम्पिता पूर्णा स्वरेष्वन्येषु[1] ताडिता ॥६७॥
सुरीतिर्गूर्जरी गाने रम्या दक्षिणदेशजा ।
(इति दक्षिण गुर्जरी)*
ऋषभे मन्द्रताराभ्यां स्फुरिता द्राविडी भवेत् ॥६८॥
गुर्जरी[2] परिपूर्णेयं प्रहर्षे विनियुज्यते ।
(इति द्राविडगुर्जरी)*
उपाङ्गत्वेन नाट्टाया[3] छायानाट्टा समीरिता ॥६९॥
षड्जाशन्याससम्पन्ना गनिभ्यां कम्पिता तथा ।
पमन्द्रा परिपूर्णा च रसे वीरे नियुज्यते ॥७०॥
(इति छायानाट्टा)*
आन्धालिकाङ्गं मल्हारी मध्यमांशग्रहान्विता ।
रिमन्द्रा च गशून्या च शृङ्गारे ताडितस्वरा॥७१॥
(इति मल्हारी)*

दक्षिणगुर्जरी पूर्ण है, इसमे मध्यम कम्पित तथा अन्य स्वर ताडित है, गाने में दक्षिणगुर्जरी सुरीतिमय और मनोहर है ॥६७॥
(दक्षिण गुर्जरी का निरूपण समाप्त ।)

द्राविडगुर्जरी सम्पूर्ण है, मन्द्र और तार ऋषभ स्फुरित है । इसका विनियोग हर्ष मे होता है ॥६८॥
(द्राविडगुर्जरी का निरूपण समाप्त)

छायानाट्टा नाट्टा का उपाङ्ग है, इसमें अंश और न्यास षड्ज है, मन्द्रावधि पचम, गान्धार-निषाद कम्पित है, यह पूर्ण है और वीर रस में इसका विनियोग होता है ॥६९-७०॥

(छायानाट्टा का निरूपण समाप्त)

मल्हारी आन्धालिका का अङ्ग है, इसका अंश और ग्रह मध्यम है, मन्द्रावधि ऋषभ है । इसमे गान्धार वर्जित है, प्रयोज्य स्वर ताडित गमक से युक्त हैं और इसका विनियोग शृङ्गार मे होता है ॥७१॥
(मल्हारी का निरूपण समाप्त)

---

१. शून्येषु । २. (क) घूर्जरी । ३. (क) नष्टाया ।

हिन्दोलकस्यच्छेवाटी[1]भाषा भल्लातिका भवेत् ।
षड्जांशकग्रहन्यासा रिहीना षाडवा भवेत् ॥७२॥
धमन्द्रोपाङ्गरूपा च शृंगारे विनियुज्यते ।
(इति भल्लातिका)*

भिन्नषड्जसमुद्भूता धांशन्यासग्रहान्विता ॥७३॥
समशेषस्वरा पूर्णा गान्चिता[2] तारमन्द्रयोः ।
देवादिप्रार्थनायां तु भैरवी विनियुज्यते ॥७४॥
(इति भैरवी)*

(इत्युपाङ्गरागाः ॥
(अथ देवक्री क्रियाङ्गराग:[3])

समन्द्रा मध्यमव्याप्ता षड्ज न्यासांशधग्रहा ।
समस्वरा निमन्द्रा च वीरे देवकृति र्भवेत् ॥७५॥
(इति देवक्रीक्रियाङ्गराग)*

छेवाटी हिन्दोल की भाषा है, यही भल्लातिका है । यह उपांग है । इसमें अंश, ग्रह और न्यास षड्ज है ऋषभ वर्जित है, षाडव है, धैवत मन्द्रावधि है, शृङ्गार मे विनियोग है ॥७२॥

(भल्लातिका का निरूपण समाप्त)

भैरवी का जन्म भिन्न षड्ज से हुआ है, इसका अंश, न्यास, ग्रह धैवत है, अन्य स्वर समपरिमाण है, पूर्ण है, मन्द्रावधि और तारावधि गान्धार है, इसका विनियोग देवता इत्यादि की प्रार्थना मे होता है ॥७३, ७४॥

(भैरवी का निरूपण समाप्त ।)

(ये उपाङ्ग राग हुए)

अब क्रियाङ्ग राग देवक्री का निरूपण किया जाता है—

इसमें न्यास और अंश षड्ज, ग्रहस्वर धैवत, मन्द्रावधि षड्ज, तारावधि मध्यम है, सभी स्वर समान हैं, वीर रस में विनियोग है, मन्द्रावधि निषाद भी है ॥७५॥

(देवक्री का निरूपण समाप्त)

१. (क) देवाटि । २ (ख) गान्विता ।

३. रागसूच्यां पठित एष रागः, लक्षणमस्यादर्श द्वये नास्ति, भरतकोषे जगदेकोक्तोऽत्र समुद्धृतः ।

सामान्यञ्च विशेषच द्विविञ्धं रागलक्षणम् ।
चतुर्विधं च सामान्यं विशेष चांशकादिकम् ॥७६॥

(अथाशलक्षणम्)

यस्मिन् वसति रागश्च यस्माच्चैव प्रवर्तते ।
नेता च तारमन्द्राणां योऽत्यर्थमुपलभ्यते ॥७७॥
ग्रहापन्यासविन्याससंन्यासन्यासगोचरः ।
परिवार्य्य स्थितो[1] यश्च सोऽशः स्याद्दश लक्षण ॥७८॥

(इत्यशलक्षणम्)

इति श्रीमदभयचन्द्रमुनीन्द्रचरणकमलमधुकरायितमस्तक
महादेवार्य्यशिष्यस्वरविमलविद्यापुत्रसम्य-
क्त्व चूडामणि भरतभाण्डीक भाषाप्रवीण
श्रुतिज्ञानचक्रवर्तिसङ्गीतरत्नाकर
नामधेय पार्श्वदेवविरचिते
सङ्गीत समयसारे
चतुर्थाधिकरणम् ।

राग का लक्षण दो प्रकार का है, सामान्य और विशेष। सामान्य चार प्रकार का है और अश इत्यादि विशेष लक्षण है ॥७६॥

अंश लक्षण यह है

जिसमें राग का निवास हो, राग जिससे प्रवृत्त होता है, जो तार एव मन्द्र अवधि का नियामक है, जो बहुलतम रूप में उपलब्ध होता है, ग्रह, अपन्यास, विन्यास, सन्यास और न्यास के साथ जिसकी सगति है, जो राग को घेर कर स्थित होता है, वह 'अंश' स्वर है ॥७७-७८॥

(अंश लक्षण समाप्त)

श्रीमद् अभयचन्द्र मुनीन्द्र के चरणकमलों मे मधुकरवत् आचरण करने वाले मस्तक से युक्त महादेव आर्य के शिष्य, स्वरविद्या से युक्त, सम्यक्त्वचूडामणि, भरतभाण्डीक भाषाप्रवीण, श्रुतिज्ञानचक्रवर्ती, सङ्गीताकर नाम वाले पार्श्वदेव द्वारा विरचित सङ्गीतसमयसार का चतुर्थ अधिकरण पूर्ण हुआ।

(चतुर्थ अधिकरण समाप्त हुआ)

---

१. (ख) मितो ।

पंचममधिकरणम्

अथ निबद्धप्रबन्धा :—

अथ वक्ष्ये निबद्धञ्च[1] विभागेन समासतः ।
प्रबन्धं रूपकं वस्तु निबद्धस्याभिधात्रयम्[2] ॥१॥

प्रबन्धः—

चतुर्भिर्धातुभिः षड्भिश्चाङ्गै[3]र्यस्मात् प्रबध्यते ।
तस्मात् प्रबन्धः कथितो गीतलक्षणकोविदैः ॥२॥
रागाद्यारोपणे[4] हेतुः स्यादस्मिन् रूपकाभिधा ।
उद्ग्राहाद्यास्तु चत्वारः स्वरादीनि च षट् तथा ॥३॥
वसन्ति यत्र स[5] ज्ञेयः प्रबन्धो वस्तु संज्ञया ।

उद्ग्राह —

आदावुद्ग्राह्यते गीतं येनोद्ग्राहः प्रकीर्तितः[6] ॥४॥

अब निबद्धप्रबन्ध कहते है ।

अब मैं विभागानुसार संक्षेप पूर्वक निबद्धप्रबन्ध कहूंगा । इसके तीन नाम है, प्रबन्ध, रूपक और वस्तु । चार धातुओं और छः अङ्गों से प्रबद्ध होने के कारण इसे 'प्रबन्ध' कहा जाता है ॥ १,२॥

राग इत्यादि के आरोपण में हेतु होने के कारण इसका नाम 'रूपक' है । उद्ग्राह इत्यादि चार (धातु) और स्वर इत्यादि छः (अङ्गों) का वासस्थान होने के कारण इसे 'वस्तु' कहते हैं । आरम्भ में गीत के उद्ग्रहण (उठाकर ग्रहण करने) के कारण उद्ग्राह का नाम 'उद्ग्राह' है ॥३, ४॥

---

१. (ख) निषिध्यं च । २ (क) भिधाश्रयम् । ३. (क) भागै ।
४. (क) रोमाआरोपणान्नेतु., (ख) रामान्वारोकणा ।
५. (क) संज्ञेय. । ६.(क) सकीर्तित ।

मेलापकः—

प्रोक्तो मेलापकस्तज्ज्ञैरुद्ग्राहध्रुवमेलनात् ।

ध्रुव —

प्रबन्धेषु ध्रुवत्वेन ध्रुव इत्यभिधीयते ॥५॥

आभोगः—

स्वयं यत्र प्रबन्धे स्यादनेनैव[1] च पूरणा ।
आभोगः कथितस्तेन गीतविद्याविशारदैः ॥६॥
ध्रुवस्याभोगकरणादाभोग इति केचन ।

वर्ज्यधातव —

वर्ज्यौ मेलापका भोगौ प्रबन्धेषु द्विधातुषु ॥७॥
त्रिधातुकप्रबन्धेषूतयोरेकं विवर्जयेत् ।
एलाया[2] ढेङ्किकायां च स्यादन्ते नियमादिमौ ॥८॥*
अन्येषु च प्रबन्धेषु स्यातां गीतानुसारत ।
अङ्गत्वमेषां केनापि यदुक्त तन्न साम्प्रतम् ॥९॥

उद्ग्राह और ध्रुव को मिलाने वाला होने के कारण 'मेलापक' अन्वर्थ है। प्रबन्धो मे ध्रुव (अविलोपी) होने के कारण 'ध्रुव' की अन्वर्थता है, प्रबन्ध में पूर्णता का कारण होने के कारण आभोग का नाम 'आभोग' है ॥५-६॥

कुछ लोगों के अनुसार ध्रुव की परिसमाप्ति या परिपूर्णता के कारण इसे आभोग कहा जाता है।

द्विधातु प्रबन्धों में मेलापक और आभोग और त्रिधातु प्रबन्धों में इन दोनो में से एक वर्जित कर देना चाहिये। एला और ढेङ्किका में इन दोनों का अस्तित्व अनिवार्य्य है ॥७, ८॥

अन्य प्रबन्धों में ये गीतानुसार होना चाहिये। कुछ लोगो ने उद्ग्राह, मेलापक, ध्रुव और आभोग इन को अङ्ग कहा है, परन्तु यह ठीक नही ॥८, ९॥

---

१ (क) यदनेनैव पूरणा, (ख) अनेनैव प्रपूरणम् ।
२ (ख) येलाया ढेंकिकाया ।
* अष्टावेते श्लोकास्सिहभूपालोद्धृत पाठानुसारं । संशोधिता. ।

देहस्यैवं निबद्धस्य धारणाद् धातवस्त्विमे ।

त्रिविध प्रबन्धा. —

द्विधातुर्वा त्रिधातुर्वा चतुर्धातुरथापि वा ॥१०॥
प्रबन्धास्त्रिविधा ज्ञेया गीतविद्याविशारदैः ।
अङ्गानि तु प्रबन्धानां वदामः साम्प्रतं क्रमात् ॥११॥

अङ्गानि —

नेत्रे[1] करौ च पादौ च षडङ्गानि यथा तनोः ।
स्वरः पदञ्च विरुदं पाटतेनौ[2] तथा परौ ॥१२॥
तालश्चेति प्रबन्धानां षडङ्गानि विदुर्बुधाः ।
मङ्गलद्योतकस्तेनः पदमर्थप्रकाशकम् ॥१३॥
तस्मादङ्गत्वमनयोर्नेत्रवत्प्रतिपादितम् ।
कराभ्यामुदयो यस्मात् पाटस्य[3] विरुदस्य च ॥१४॥
तेन कार्य्ये कारणवदुपचारो निरूपितः ।
स्याद् गतिः[4] स्वरतालाभ्यां पादाभ्यामिव देहिनः ॥१५॥
प्रबन्धस्य यतस्तस्मादुक्त पादात्वमेतयोः ।

'निबद्ध' के देह को इस प्रकार धारण करने के कारण ये 'धातु' हैं।

गीतविद्याविशारदों को वे निबद्ध प्रबन्ध द्विधातु, त्रिधातु अथवा चतुर्धातु समझने चाहिये ॥१०॥

अब प्रबन्धों के अङ्ग क्रम से कहते हैं ॥११॥

जिस प्रकार मानव शरीर में नेत्र, हाथ और चरण, ये छ अङ्ग हैं, उसी प्रकार, स्वर, पद, विरुद, पाट, तेन और ताल, ये प्रबन्धों के छः अङ्ग बुद्धिमान् लोग जानते है। 'तेन' मङ्गलवाची है, 'पद' (सार्थक शब्द) अर्थ का प्रकाशक है, इसीलिए 'तेन' और 'पद' प्रबन्ध के नेत्र की तरह अङ्ग हैं। 'पाट' और 'विरुद' का उदय हाथों से होता है, इसीलिए ये प्रबन्ध के हाथ हैं, यह संज्ञा कार्य्य अर्थ में कारण के प्रयोग की भाँति औपचारिक है। जिस प्रकार मनुष्य की गति चरणों के द्वारा होती है, उसी प्रकार 'प्रबन्ध' की गति का कारण होने के कारण 'स्वर' और 'ताल' प्रबन्ध के चरण हैं।

---

१. (क) नेत्राकरौ च । २. (क) पाठ । ३. (क), (ख) पादस्य ।
४. (क) स्यादगतस्वर ।

एतेषां लक्षणमभिधीयते—

स्वयं यो राजते नादः स्वरः स परिकीर्तितः ॥१६॥

पदं[1] स्वराधिकरणमर्थस्य प्रतिपादकम् ।
संस्कृतं प्राकृतञ्चैवमपभ्रंशमिति त्रिधा ॥१७॥

विरुशब्दो[2] विरुद्धार्थो महाराष्ट्रे प्रसिद्धितः ।
परेभ्यस्तत्प्रदानेन विरुद[3] सूरिभि. स्मृतम् ॥१८॥

तद्वीररससयुक्त द्विषामुद्वेगदायकम् ।
रसान्तरेण[4] यद् युक्तं तत्पद विरुद स्मृतम् ॥१९॥

सन्दोहो[5] वाद्यवर्णानां पाटस्तालानुगो भवेत् ।
तेन्नतेन्नेति यो[6] वर्णो गीतेऽसौ तेन्नको मत ॥२०॥

ताल. कालक्रियामानं ज्ञेय संगीतसगत. ।

(इति प्रबन्धाङ्गानि)

अब इनका लक्षण कहा जाता है ।

जो स्वय राजित (शोभित) होता है, यह नाद 'स्वर' है ॥१२-१६॥

'पद' अर्थ का प्रतिपादक और स्वर का आधार है । वह 'पद' तीन प्रकार का है, संस्कृत, प्राकृत और अपभ्र श ॥१७॥

विरुद्ध के अर्थ मे 'विरु' शब्द महाराष्ट्र में प्रसिद्ध है, शत्रुओं को (विरोध) प्रदान करने के कारण विद्वानो ने उसे विरुद' कहा है ॥१८॥

वह वीर रस सयुक्त होने पर शत्रुओं को उद्वेग देता है । अन्य रस से युक्त पद भी 'विरुद' कहलाता है ॥१९॥

वाद्याक्षरों का समूह 'पाट' तालानुवर्ती होता है ।

'तेन्न, तेन्न' इत्यादि वर्ण गीत मे तेन्नक कहलाता है, सङ्गीत के सङ्ग से काल और क्रिया नाम ताल है ॥२०॥

ये प्रबन्ध के अंग हुए ।

---

१. (क) परं । २ (क) विदुं शब्दाविरुद्धार्थो । ३. (क) विरुदस्सूरिभिः स्मृतः ।
४. (क) पादन्तरे यद्युक्तं । ५. (क) सन्देहो । ६. (ख) ये वर्णा ।

अथ प्रबन्धजातयः—

चम्पूश्च कविता सेना[1] नीतिश्चैव[2] तथा[3] श्रुतिः ॥२१॥
द्व्यङ्गादीनां प्रबन्धानां जातयः पञ्च कीर्तिताः ।

गद्यपद्यमयी चम्पू[4], शक्तिव्युत्पत्तिरभ्यासः कविता, हस्त्यश्वरथपदातयः सेना । भेदः परीक्षा विश्वासो वचनं[5] मित्रकार्य्याणि नीतिः, शिक्षाज्यौतिषनिरुक्तनिघण्टुश्छन्दोव्याकरणानि श्रुतिः ।

तारावल्यादयः[6] संज्ञा जातीनां कैश्चिदीरिताः ॥२२॥*
अंगसंख्यावियोगात्तु नैवैताः सम्मता मम ।

(इति प्रबन्धजातयः)

त्रिविधप्रबन्धाः—

अनिर्युक्ताश्च निर्युक्ता तथा चैवोभयात्मकाः[7] ॥२३॥
प्रबन्धास्त्रिविधास्ते[8] च प्रोक्ता गीतविशारदैः ।
अंगमात्रेण[9] विहिता अनिर्युक्ता इतीरिताः ।
छन्दस्तालादि[10] नियमान्निर्युक्तास्ते निरूपिताः ॥२४॥

(ये प्रबन्ध अंग हुए)

अब प्रबन्ध-जातियो का निरूपण करते है—चम्पू, कविता, सेना, नीति और श्रुति, द्व्यङ्ग आदि प्रबन्धों की ये पाँच जातियाँ है ।

चम्पू गद्य और पद्य से युक्त होती है, कविता के तीन अङ्ग शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास है, सेना के चार अङ्ग हाथी, घोड़े, रथ और पैदल है, नीति के पाँच अङ्ग भेद, परीक्षा, विश्वास, वचन और मित्र-कार्य्य हैं, श्रुति के छः अङ्ग शिक्षा, ज्योतिष, निरुक्त, निघण्टु, छन्द और व्याकरण हैं ।

कुछ लोगो ने प्रबन्धजातियो के 'तारावली' इत्यादि नाम कहे हैं, परन्तु जातियो से अङ्गसख्या का सम्बन्ध नही, इसीलिये मैं उनसे असहमत हूं ।

(ये प्रबन्धों की जातियाँ हुईं ।)

गीतज्ञों ने तीन प्रकार के प्रबन्ध, अनिर्युक्त, निर्युक्त और उभयात्मक बताये हैं, जिनमें अङ्गमात्र हों, वे अनिर्युक्त हैं ॥२०-२४॥

---

१. (क) गेना । २. (ख) श्चेति । ३. (ख) यथा । ४. (ख) म्बू: । ५. (क) वञ्चनमिति कार्य्याणि । ६. (क) वश्यादयः । ७. (क) चैतोभयात्मिकाः । ८. (क) प्रभेदा ।
९. (क) भागमात्रेण । १०. (क) छन्दास्तौस्तौलादि । * संज्ञा एताश्चाङ्ग देवेनोक्ताः ।

क्वचिदङ्गं क्वचिच्छन्दो गीतं यस्मिन् विराजते ॥२५॥
उभयात्मकमित्याहुर्गीतं गीतविशारदाः ।

अनिर्युक्तप्रबन्धाः—

तालार्णवो विचित्रञ्च मण्डनं राहडी तथा ॥२६॥
लोली,[1] ढोल्लरि, दंती स्यादनिर्युक्ता पतायुताः ।

निर्युक्तप्रबन्धा –

धवलश्चच्चरी चैव वदन झम्पटस्तथाः ॥२७॥
चर्य्या[2] च त्रिपदी[3] चैव सिंहपादस्तथैव च ।
पदतालसमायुक्ता : मङ्गलं स्तवमञ्जरी ॥२८॥
अमी सर्वप्रबन्धाश्च निर्युक्ताः परिकीर्तिताः ।
तालतेन्नकयोर्वापि[4] निर्युक्तः परिकीर्तित. ॥२९॥
सविता[5] सहितो वर्णो नन्दनस्तेवितायुतः ।
पतेता सहितस्सोऽयमभिनन्दन[6] उच्यते ॥३०॥
पतावै[7] हंसलीला च विपातै.[8] रणरङ्गकः[9] ।

छन्दताल इत्यादि के नियम से युक्त निर्युक्त है । जिस गीत में कही अंग और कही छन्द हो, वह उभयात्मक है ।

तालार्णव, विचित्र, मण्डन, राहडी, लोली, ढोल्लरि और दन्ती, पद-ताल से युक्त अनिर्युक्त प्रबन्ध है ।

धवल, चच्चरी, वदन, झम्पट, चर्य्या, त्रिपदी सिंहपाद, मङ्गल और स्तवमञ्जरी ये पदतालयुक्त प्रबन्ध निर्युक्त है ।

अथवा ताल और तेन्न से युक्त प्रबन्ध भी निर्युक्त है ॥२५-२९॥

वर्ण स्वर, विरुद, तालयुक्त, नन्दन तेनविरुदतालन्वित है और अभिनन्दन पदतेनतालयुक्त है ॥३०॥

---

१. (क) तोलडोल्लरिदन्ती, (ख) लील्लीठोम्लरिदन्ती । २ (क), (ख), चरिजा ।
३. (ख) त्रिपदी । ४ (क) ताले । ५ (क) पवि । ६. (ख) महिनन्दन ।
७. (क) पातावैं । ८ (क) वितातैं । ९. (क) रणलङ्कृत ।

[1]पास्वतैर्नर्तनं चैव ह्यनिर्युक्ता भवन्त्यमी ॥३१॥
तापसैर्मङ्गलाचारो गद्यं चैवोभयात्मकौ[2] ।
तापास्वरैश्शुकचञ्चुः शुकसारी च तैः स्मृतः ॥३२॥
आमोदः स्यात् [3]सपातेतैस्तेवितापैस्सुदर्शनः ।
पाताविपैः कन्दुकश्च तैः स्मृतो हर्षवर्द्धनः ॥३३॥
पपातेतैः[4] प्रमोदश्च पावितेतैर्मनोरमः ।
अङ्कध्वनिस्तापतेतैरनिर्युक्ता[5] अमीस्मृताः ॥३४॥
[6]ताविस्वतैस्त्रिपथकस्तापाविस्वैश्च[7] पद्धडी[8] ।
निर्युक्तौ कथितावेतौ गीतविद्याविशारदैः ॥३५॥
सपावितेतायुक्तोऽसौ सिंहलीलेतिनामतः ।
अनिर्युक्तो भवेद्देश[9] गीतलक्षणकोविदैः ॥३६॥
[10]पदतालस्वरैस्तेन्न विरुदाभ्याञ्च गीयते ।
निर्युक्तः शरभलीलः[11] प्रबन्धः कथ्यते बुधैः ॥३७॥

हंसलीला पदतालविरुदयुक्त, रणरङ्ग विरुदपाटतालयुक्त और नर्तन पाटस्वरतेनयुक्त है, ये अनिर्युक्त है ॥३१॥

मङ्गलाचार तालपदस्वरयुक्त, गद्य उभयात्मक, शुकचञ्चु तालपाटस्वरयुक्त और शुकसारी भी इन्हीं से युक्त है ॥३२॥

आमोद स्वरपाटतेनतालयुक्त, सुदर्शन तेनविरुदतालपदयुक्त, कन्दुक पाटतालविरुदपदयुक्त और हर्षवर्द्धन भी इन्ही से युक्त है ॥३३॥

प्रमोद पदपाटतेनतालयुक्त, मनोरम पाटविरुदतेनतालयुक्त, और अङ्कध्वनि तालपदतेनतालयुक्त है, ये अनिर्युक्त कहे गये है ॥३४॥

त्रिपथक तालविरुदस्वरतेनयुक्त, पद्धडी तालपादविरुदस्वरयुक्त है, इन्हे गीतज्ञो ने निर्युक्त कहा है । सिंहलील स्वरपाटविरुदतेनतालयुक्त है, इसे गीतज्ञो ने अनिर्युक्त कहा है ॥३५, ३६॥

शरभलील पदतालस्वरतेन्नविरुदयुक्त और निर्युक्त प्रबन्ध कहा जाता है ॥३७॥

---

१. (क) पार्श्वकै । २ (क) चैवोभयात्मिका । ३. (क) सपातेनै. । ४ प्रपातेतै । ५ (क) तापतेसै. । ६. (क) ताविस्वकै । ७. (क) तापविश्वैश्च (ख) तापाविश्वैश्च ८. (क) पद्धति, (ख) बर्द्धटी । ९. (ख) भवेदेष । १० (क) पन्द । ११. (क) शरभो लील. ।

प्रतापवर्द्धनस्तस्मादुमातिलकसंज्ञकः ।
पञ्चाननः पञ्चभङ्गी[1] श्रीरङ्ग. श्रीविलासकः[2] ॥३८॥
अनिर्युक्ता अमीसर्वे षडङ्गा[3] इति कीर्तिताः ।
इति द्विधातुकास्सर्वे कथितास्तदनन्तरम् ॥३९॥
त्रिधातुकानहं वक्ष्ये द्वयङ्गादि क्रमभेदतः ।
लम्भको[4] रससन्दोहो हसपादस्तथैव च ॥४०॥
हरिविजयसञ्ज्ञः स्यादेकताली तथैव च ।
ध्वनिकुट्टनि नामापि पदताल[5] समायुता[6] ॥४१॥
वितायुतोऽङ्कचारी[7] स्यादनिर्युक्तास्समीरिताः[8] ।
द्विपदी[9] च पता युक्ता कन्दश्चैव विपायुतः ॥४२॥
निर्युक्तौ कथितावेतौ गीतज्ञानविचक्षणैः ।
जयमाला चक्रवालौ तथा रागकदम्बक.[10] ॥४३॥
कालार्णवो[11] झोम्बडश्च रासकश्चोभयात्मका ।
गीयन्ते[12] पदतालाभ्याममी गीतविशारदैः ॥४४॥

प्रतापवर्द्धन उमातिलक, पञ्चानन, पञ्चभङ्गी, श्रीरङ्ग, श्रीविलासक, ये सभी षडङ्ग और अनिर्युक्त है । ये द्विधातुक प्रबन्ध कहे गये, अब द्वयङ्ग आदि लक्ष्य भेद से त्रिधातु प्रबन्ध कहूगा ।

लम्भक, रससन्दोह, हसपाद, हरिविजय, एकताली और ध्वनिकुट्टनी पदतालयुक्त है ॥३८-४१॥

अङ्कचारी विरुदतालयुक्त है ये अनिर्युक्त कहे गये है । द्विपदी पदताल-युक्त, कन्द विरुदपाटयुक्त है, ये दोनो गीतज्ञो ने निर्युक्त बताये है । जयमाला, चक्रवाल, रागकदम्ब, कालार्णव, झोम्बड, रासक गीतज्ञों द्वारा पदतालयुक्त उभयात्मक रूप में गाये जाते है ॥४२-४४॥

---

१ (क) पञ्चभङ्गि । २. (क) प्रविलासक । ३. (ख) षडङ्गानीति ।
४. (क) लञ्चको । ५. (क) पथ । ६. (ख) त । ७. (क) विनायुक्तोऽन्तजाति. ।
८. (क) थनिर्युक्ता ९. (क) द्विपरि, (ख) विपदी । १०. (क) रागकदम्बकम् ।
११. (क) तालोर्णवो । १२. (क) गीयन्ते पाद-तालाभ्या ।

स्वरार्थस्तापसैर्ज्ञेयः स्यात्तथासिंहविक्रमः[1] ।
कैवाड[2] पाटकरणौ ताविपा सहिता वुभौ ॥४५॥
ताविसे:[3] स्वरकरणं पतेता ललिता तथा ।
[4]तेपासैर्मिश्रकरणमनिर्युक्ता अमी स्मृताः ॥४६॥
आर्यावृत्तद्विपथका[5] ये गाथा[6] दण्डकादयः ।
एते स्युः स्वपतायुक्ता मातृकाः पवितायुताः ॥४७॥
दण्डः[7] पतेता सहितो निर्युक्ता कथिता अमो ।
पपाता सहितो ज्ञेयः सिंहविक्रमनामक[8] ॥४८॥
कलहसः क्रौञ्चपदः स्वपतासहितावुभौ ।
गीतविद्याविशेषज्ञै. कथिता उभयात्मका. ॥४९॥
श्रीवर्द्धन इति ख्यात· पाताविपतितो[9] बुधै. ।
विरुदस्वरपदतालैः स्वरपदकरणस्वराङ्कश्च ।
ज्ञेया सा गजलीला वर्तनिविवर्तनी च पञ्चापि ॥५०॥

स्वरार्थ तालपदस्वरयुक्त है और सिंहविक्रम भी । कैवाड और पाटकरण दोनों तालविरुदपाटयुक्त है ॥४५॥

स्वरकरण तालविरुदस्वरयुक्त, ललित पदतेनतालयुक्त और मिश्रकरण तेनपाटस्वरयुक्त है, ये अनिर्युक्त कहे गये है ॥४६॥

आर्या, वृत्त, द्विपथक, गाथा, दण्डक इत्यादि स्वरपदतालयुक्त है और मातृकाएँ विरुदपदतालयुक्त ॥४७॥

दण्ड पदतेनतालयुक्त है, ये निर्युक्त कहे गये है । सिंहविक्रम पदपाटतालयुक्त है ॥४८॥

कलहस और क्रौञ्चपद स्वरपदतालयुक्त है और गीतज्ञों द्वारा उभयात्मक बताये गये है ॥४९॥

श्रीवर्द्धन पाटतालविरुदतेनतालयुक्त है, स्वरपदकरण, स्वराङ्क, गजलीला, वर्तनी और विवर्तनी विरुदस्वरपदतालयुक्त हैं ॥५०॥

१. (क) हिंसविक्रम. । २. (क) कैवावादपालकठणा । ३. (क) ताविपै ।
४. (क) पेतारौ. । ५ (क) द्विपदुका । ६. (क) गाथा दण्डकाविला-
(ख) दण्डकाद्विलाः । ७. (ख) धडा । ८. (ख) सिंहविक्रान्त । ९. (क) पाताभिपयुतो ।

विज्ञेयंबन्धकरण[1] सविपातायुतं बुधै ।
प्रबन्धस्तेन्नकरणं स्वतेतावियुत. स्मृतः ॥५१॥

तेपासपयुतः प्राज्ञैश्चतुरङ्ग इतीरित. ।
अनिर्युक्ता अमी प्रोक्ता गीतशास्त्रविशारदैः ॥५२॥

तातेपसयुता तज्ज्ञैर्नियुक्ता सा चतुष्पदी ।
सवितापयुता तज्ज्ञैर्हयलीला निगद्यते ॥५३॥

पपातास्वयुता ज्ञेया त्रिभङ्गी चोभयात्मिका ।
स्वतावितेपसहितो जयश्रीरिति कीर्तित ॥५४॥

स्याद्वस्तु विजयश्रीश्च वर्णस्वरचतुर्मुखौ ।
स्वपापतातेसहिता विज्ञेया गीत कोविदैः ॥५५॥

प्रबन्धो बर्धनानन्दस्तथा हरविलासक[3] ।
कथ्येते[4] पविपातेता सहिताविति कोविदै ॥५६॥

बन्धकरण स्वरविरुदपाटतालयुक्त और तेन्नकरण स्वरतेननालविरुद-युक्त कहा गया है ॥५१॥

चतुरङ्ग तेनपाटस्वरपदयुक्त है. ये प्रबन्ध गीतज्ञो द्वारा अनिर्युक्त कहे गये है ॥५२॥

चतुष्पदी नालतेनपदस्वरयुक्त और हयलीला स्वरविरुदतालपदयुक्त कही जाती है ॥५३॥

उभयात्मक त्रिभङ्गी पदपाटनालस्वरयुक्त है जयश्री स्वरतालविरुद-तेनपदयुक्त है ॥५४॥

वस्तु, विजयश्री, वर्णस्वर और चतुर्मुख, गीतज्ञो को स्वरपाटपदताल-तेनयुक्त समझना चाहिये ॥५५॥

वर्द्धनानन्द और हरविलासक विद्वानो के द्वारा पदविरुदपाटतेनताल सहित कहा है ॥५६॥

१ (क) लब्धकरण । २ (क) स्वपताकेऽपि सहिता । ३ (क) परविलासकः ।
४. (क) कथ्यते पविपातेता ।

अनिर्युक्ता अमी सर्वे निर्युक्तो वस्तुसंज्ञकः[1] ।

(इति त्रिधातुप्रबन्धाः)

पतायुक्ता[2] ढेङ्किका च एला सपवितायुता[3] ॥५७॥

गीतविद्याविशेषज्ञैः स्मृतौ[4] तावुभयात्मकौ ।

प्रोक्ताविमौ चतुर्धातू[5] क्वचिज्झोम्बड[6] रासकौ ॥५८॥

पुनः प्रबन्धास्त्रिविधास्ते[7] कथ्यन्ते यथाक्रमम् ।

पुनस्त्रिविधाः प्रबन्धाः—

सूडक्रमगता केचित् केचिदालिक्रमस्थिताः ॥५९॥

[8]तथान्येविप्रकीर्णाख्या मुनिभिः प्रतिपादिताः ।

तत्र[9] सूडक्रमः प्रोक्त. पञ्चधा[10] गीतवेदिभिः ॥६०॥

[11]आदावतिजघन्यः स्याज्जघन्यस्तदनन्तरम् ।

ततोऽपि मध्यमाख्य स्यादुत्तमाख्यस्ततः[12] परम् ॥६१॥

ये सब अनिर्युक्त और वस्तु निर्युक्त है ।

(ये त्रिधातु प्रबध हुए)

ढेङ्किका पदतालयुक्त और एला स्वरपदविरुदतालयुक्त है ॥५७॥

गीतज्ञों ने इन दोनो को उभयात्मक कहा है। ये चतुर्धातु कहे गये है और कही कही झोम्बड और रासक भी ।

(एक अन्य दृष्टि से भी त्रबन्ध त्रिविध होता है)

कुछ प्रबन्ध सूडक्रमगत है और कुछ आलिक्रमगत। मुनियो ने कुछ प्रबन्ध विप्रकीर्णनामक कहे है ।

गीतज्ञो ने सूडक्रम को पञ्चविध कहा है ॥५८-६०॥

एक अतिजघन्य और दूसराजघन्य है। उनमें भी एक मध्यम और दूसरा उत्तम है। और एक अत्युत्तम है, उनका लक्षण कहा जाता है। ॥६१॥

---

१. [क] पदसञक । २. [क] डिङ्कता च । ३ [कब] सापवितायुता ।
४. [क] श्रुतौता । ५ चतुर्धातु,[ख] चतुर्धात्र । ६ [क] क्वचिच्चेम्बडरासकौ ।
७. [क] प्रबलदा । ८. [क] ताथानै । ९. (क) तत्प्रसूदुक्रम. ।
१०. (क) पञ्चवा । ११. (क) आधारविजघन्यस्या । १२. (क) दुत्तमाद्य ।

अत्युत्तमस्ततो ज्ञेयस्तेषां लक्षणमुच्यते ।
झोम्बडो[1] मण्ठतालेन[2] ततोनिस्सारु[3] झोम्बडः ॥६२॥
कुडुक्केन ततो लम्भो[4] लम्भो[5] निस्सारुकेण च ।
झम्पतालेन लम्भश्च[6] रासकश्चैक[7] तालिका ॥६३॥
[8]असावतिजघन्याख्यः [9]सूडो गायकसम्मतः ।
[10]ढेङ्की ततो द्वितीयेन भवेत्तालेन झोम्बड ॥६४॥
मण्ठेन झोम्बडश्चाथ ततो निस्सारुझोम्बड ।
([11]लम्भकोऽथ कुडुक्केन ततो निस्सारु लम्भकः ॥६५॥
झम्पतालेन लम्भश्च [12]रासकश्चैकतालिका ।)
सूडो जघन्यनामायं गीतज्ञैस्समुदाहृतः ॥६६॥
एलापूर्व ततो ढेङ्की तस्माद्गारुगिझोम्बड ।
द्वितीयझोम्बडश्चाथ ततो मट्टेन झोम्बड. ॥६७॥
झोम्बडोऽद्य[13] तृतीयेन ततो निस्सारुझोम्बड ।
झोम्बडो [14]द्रुतनिस्सारो लम्भको झम्पया तत ॥६८॥
रासकश्चैकताली च सूडोऽय मध्यम. स्मृत ।
करणं [15]प्रागथैलास्याद्ढेङ्किकातदनन्तरम्[16] ॥६९॥

मण्ठ ताल मे गाया जाने वाला झोम्बड, निसारु ताल मे झोम्बड, कुडुक्कताल में लम्भ, निस्सारुताल मे लम्भ, झम्पताल में लम्भ तथा एकताली गायको की दृष्टि मे ये सूड अतिजघन्य है ।

द्वितीय ताल मे ढेङ्की, मण्ठमें झोम्बड, निस्सारु में झोम्बड, इन्हे गीतज्ञो ने जघन्य सूड कहा है ॥६६॥

एला, ढेङ्की, गारुगि मे झोम्बड, द्वितीय ताल में झोम्बड, मट्टताल में झोम्बड, तृतीय ताल मे झोम्बड, निस्सारुताल मे झोम्बड, द्रुतनिस्सारु मे झोम्वड, झम्पा मे लम्भ, रासक और एकताली यह मध्यम सूड है ॥६७-६९॥

---

१. (क) झोऽन्धो । २. (क) मट्ट । ३ (क) निस्सार । ४. (क) लम्बो ।
५. (क) अम्भो । ६ (क) लाभश्च । ७ (क) श्चैककालिका । ८. (क) आयसाव ।
९. (क) सुन्दो । १०. (क) ढिङ्की । ११ (क) लम्बकोड । १२. (क) कासक ।
१३ (क) थकृतिर्येन । १४ (क) कृतानिस्सारो । १५.(क) प्रागचैला ।१६.(क) डेङ्किका
*कोष्ठक स्थित पक्ती द्वय पुनरावृत प्रतीयते ।

[1]गारुग्या झोम्बडश्चाथ द्वितीयेनापि झोम्बड़ः ।
तृतीये झोम्बडश्चाथ ततो निस्सारुझोम्बडः ॥७०॥
झोम्बडश्चैकतालेन ततो मट्टेन झोम्बडः ।
तृतीयझोम्बडश्चाथ ततो निस्सारुझोम्बडः ॥७१॥
झोम्बडोऽथ कुडुक्केन झम्पातालेन लम्भकः ।
[2]रासकश्चैकताली च सूड स्यादुत्तमाभिधः ॥७२॥
गद्य ततश्च करण वर्तन्येला[3] च ढेङ्किका ।
[4]गारुग्या झोम्बडश्चाथ द्वितीयेनापि झोम्बडः ॥७३॥
झोम्बडश्चैकतालेन प्रतिमट्टेन झोम्बड. ।
झोम्बडोऽथ तृतीयेन ततो निस्सारु[5]झोम्बडः ॥७४॥
झोम्बडो [6]द्रुतनिस्सारो झम्पातालेन लम्भकः ।
रासकश्चैकताली च [7]सूडः स्यादुत्तमोत्तमः ॥७५॥

करण, एला, ढेङ्किका, गारुगि में झोम्बड, द्वितीयताल में झोम्बड, तृतीय ताल मे झोम्बड, निस्सारुताल में झोम्बड, एकताल में झोम्बड, मट्ट में झोम्बड, तृतीय, निस्सारु तथा कुडुक्क ताल में झोम्बड, झम्पा में लम्भक, रासक और एकताली ये सूड उत्तम कहा गया है ॥७०, ७१॥

गद्य, तदनन्तर करण, वर्तनी, एला, ढेङ्किका गारुगी में झोम्बड, द्वितीय मे झोम्बड, एकताल में झोम्बड, प्रतिमट्ट और तृतीय में झोम्बड, निस्सारु और द्रुतनिस्सारु में झोम्बड, झम्पाताल में लम्भक, रासक और एकताली ये उत्तमोत्तम सूड कहे गये हैं ॥७२-७५॥

१ (क) गारुगो ।
२. (क) सारक ।
३. (क) न्येडा ।
४ (क) गारुग्यो ।
५. (क) निस्सार ।
६ (क) धृतनिस्सारो ।
७. (क) सूड ।

उत्तमोत्तमः सूडान्तर्गतैलागानमादृतम् ।
रागस्य नियमाद् [1]धातुः नैति रागान्तरेण यत् ॥७६॥
तदुक्तंरसरागाभ्यामौचित्यात्सैव गीयते ।
प्रौढ्या तेनैव रागेण सूडोऽपि परिगीयते ॥७७॥
[2]अत उत्तमसूडे तु रागस्य नियम विना ।
छन्दस्वती सङ्करैला मात्रैला परिगीयते ॥७८॥
मध्ये मध्ये मङ्कुडस्य (!) रागस्यानियमेन तु ।
[3]वर्णैला, वर्णमात्रैला देशाख्यैला च गीयते ॥७९॥
उत्तमोत्तमसूडे तु प्रथम [4]मातृका भवेत् ।
[5]पञ्चतालेश्वरो यद् वा हृद्यं गद्यमथापि वा ॥८०॥
आलिक्रमोऽयमेवोक्त प्रतापपृथिवीभुजा ।
अस्मिन्नेला च [6]ढेङ्की च [7]ततो गारुगितालत ॥८१॥

उत्तम सूडो के अन्तर्गत एलागान सम्माननीय है। राग के नियम के कारण उसका धातु (गेय पक्ष) दूसरे राग मे नही जाता। इसीलिए कहा गया है कि एला रस-राग के औचित्य के अनुसार ही गाई जाती है। सूड भी प्रौढतापूर्वक राग के द्वारा ही गाया जाता है ॥७६, ७७॥

अत उत्तमसूड मे राग के नियम के बिना छन्दोयुक्त सङ्कर एला मात्रानिर्मित एला गाई जाती है ॥७८॥

बीच बीच मे मङ्कुड (?) और राग के नियम के बिना वर्णैला, वर्णमात्रैला और देशाख्या एला गाई जाती है ॥७९॥

उत्तमोत्तम सूड मे पहले मातृका होना चाहिये। पञ्चतालेश्वर अथवा सुन्दर गद्य भी गाया जाता है ॥८०॥

प्रतापचक्रवर्ती (जगदेकमल्ल) ने यह आलिक्रम कहा है। इसमे एला, ढेङ्की तथा गारुगि, द्वितीय प्रतिमट्ट और निस्सारुताल में झोम्बड, लम्भक,

---

१. (ख) गातु । २. (क) अन्तरुत्तम । ३. (क) वर्तैला वर्तमानैला ।
४. (क) मातृको । ५. पञ्चताले स्वरो । ६. (क) ढेङ्कीच ।
७. (क) तरोगातुगि ।

द्वितीयेन च तालेन प्रतिमट्टाभिधेन[1] च ।
ततो निस्सारुतालेन झोम्बडो लम्भकस्तथा[2] ।।८२।।

रासकश्चैकताली[3] च स्थायिनो नवकीर्तिताः ।
शेषा सञ्चारिणः षट् च परिवृत्तिसहिष्णवः[4] ।।८३।।

[5]उत्तमे प्राक् स्वरार्थं स्यात् [6]स्वराङ्को वा घटोऽथवा ।
करण वा[7] त्रिभङ्गिर्वा यद्वा क्रौञ्चपदाभिधः[8] ।।८४।।

[9]भवेच्छरभलीलो वा पञ्चभङ्गिरथापि वा ।
तत्रैला ढेङ्किका चैव ततो गारुगितालतः ।।८५।।

द्वितीयेन च तालेन [10]ततो निस्सारुतालत ।
झोम्बडो लम्भको [11]रासश्चैकतालीति कीर्तिता. ।।८६।।

स्थायिनोऽष्टापि[12] हीने तु पञ्च सञ्चारिणः स्मृताः ।
एला स्थान्मध्यमे पूर्वं ढेङ्किकातदनन्तरम् ।।८७।।

गारुग्याख्येनतालेन द्वितीयेन च झोम्बडः ।
ततो निस्सारुलम्भश्च रासकश्चैकतालिका[13] ।।८८।।

रासक और एकताली ये नौ स्थायी कहे जाते है, शेष परिवर्तनशील और सञ्चारी है ।।८१-८३।।

उत्तम मे स्वरार्थ, स्वराङ्क, घट, करण, त्रिभङ्गि, क्रौञ्चपद, शरभलील, पञ्चभङ्गी, एला और ढेकिका, गारुगि, द्वितीय और निस्सारुताल में झोम्बड, लम्भक, रासक और एकताली कहे गये है। आठ स्थायी हैं और पाँच सञ्चारी।

मध्यम सूड मे एला, ढेंकिका, गारुगि और द्वितीय ताल में झोम्बड,

---

१. (क) प्रति बट्टा। २. (क) लम्बक । ३. (क) श्चैकतालेच ।
४. (क) रीतिस्साहिष्णव । ५. (क) षत्तम. । ६ (क) साराङ्को पाठदोऽवा ।
७. (क) धा । ८. (क) भिद. । ९. (क) मेवच्छरभलीलो ।
१०. (क) झोम्बडो लम्बकस्तत. । ११. (क) रागश्चैकताली । १२. (क) ष्टाविन्येतु ।
१३. चैकतालिकः ।

इति सप्त समुद्दिष्टाः प्रबन्धाः स्थायिनो बुधैः ।
क्रमे शेषाश्च चत्वारो यथारुचि समीरिताः ॥८९॥
जघन्ये [1]प्रथमं ढेङ्की द्वितीयेन तु झोम्बडः ।
निस्सारुणापि तालेन लम्भो रासैकतालिका ॥९०॥
षडेते स्थायिन प्रोक्तास्त्रयोऽन्ये तु [2]यथारुचि ।
[3]भवन्त्यतिजघन्ये तु मट्टतालेन झोम्बडः ॥९१॥
निस्सारुझोम्बडो लम्भो रासकश्चैक तालिका ।
पञ्चैते स्थायिनो ज्ञेया द्वावन्यौ तु यथारुचि ॥९२॥
त्यक्त्वा कुडुक्कनिस्सारुलम्भावादौ ध्रुव न्यसेत् ।
अन्तरे चण्डनिस्सारुर्मट्टादि [4]स्याद् ध्रुवादिकः ॥९३॥
एक एव प्रबन्धश्चेन्मूलरूपेण[5] गीयते ।
तालेनैकेन नानार्थ स [6]सूडो विप्रकीर्णक. ॥९४॥
एकैकशोऽपि गातव्य प्रबन्धो विनियोगत ।

निस्सारु में लम्भ, रासक और एकताली ये सात स्थायी प्रबन्ध है, शेष चारों का प्रयोग यथारुचि है ॥८४-८९॥

जघन्य मे ढेङ्की, द्वितीयताल मे झोम्बड, निस्सारुताल मे झोम्बड निस्सारुताल में लम्भ, रासक और एकताली ये छ स्थायी कहे गये है, अवशिष्ट यथारुचि प्रयोज्य है।

अति जघन्य सूड के अन्तर्गत मट्टताल मे झोम्बड, निस्सारुझोम्बड, लम्भ, रासक और एकताली ये पॉच स्थायी और शेष दो यथारुचि प्रयोज्य हैं ॥९०-९२॥

कुडुक्क और निसारुताल मे गेय लम्भक के अतिरिक्त अन्य प्रबन्धो के आरम्भ मे ध्रुव रखना चाहिये, अन्तर मे चण्ड (खण्ड ?) निस्सारु होना उचित है। ध्रुव इत्यादि का आरम्भ मट्टताल से होता है ॥९३॥

यदि एक ही नानार्थक प्रबन्ध (मूलरूप से) एक ही ताल मे गाया जाता है, तो वह विप्रकीर्ण सूड कहलाता है। प्रबन्ध विनियोगपूर्वक एक एक करके भी गाना चाहिये ॥९४॥

१. (क) प्रथमे। २ (क) नैतु। ३. (क) भवतेती।
४. (क) वठाद्विस्याद्ध्रुवादिक। ५. (क) नालारूपेण। ६. (क) ससूद्र।

अथ सूडक्रमाश्रितप्रबन्धलक्षणं वक्ष्ये—

उदग्राहः प्रथमार्धे यः ढेङ्किकायां[1] विधीयते ॥९५॥
आवृत्यासौ च गातव्यः समे वा विषमग्रहे ।
द्वितीयार्द्धं तु तेनैव सकृद्गीतेन गीयते ॥९६॥
मेलापकस्ततस्तालयुक्तो गेयो विकल्पतः ।
उद्ग्राहे चैव मेलापे ढेङ्कितालो भवेद्यतः ॥९७॥
तस्मादस्य प्रबन्धस्य नाम ढेङ्कीति[2] कीर्तितम् ।
तालोऽत्रान्यो लयश्चान्यस्ततो वारद्वयं बुधैः ॥९८॥
एकगीतध्रुवस्याद्यं सानुप्रासं पदद्वयम् ।
अन्यगीतेन गातव्यस्तृतीयोंऽघ्रिर्ध्रुवाश्रयः[3] ॥९९॥
आभोगं च सकृद्गीत्वा [4]ध्रुवं गीत्वा ततः पुनः ।
उद्ग्राहतालमानेन तस्य न्यासो विधीयते ॥१००॥

अब सूडक्रमाश्रित प्रबन्ध कहूंगा ।

ढेंकिका मे प्रथमार्ध के अन्तर्गत उद्ग्राह एक आवृत्ति के द्वारा समग्रह अथवा विषमग्रह का आश्रय लेकर गाना चाहिये । द्वितीयार्द्ध उसीको एक बार गाने पर गाना चाहिये । तत्पश्चात् मेलापक तालयुक्त अलाप युक्त गाया जाता है । उद्ग्राह और मेलापक मे ढेङ्कीताल के प्रयोग के कारण इस प्रबन्ध का नाम ढेङ्की है ।

यदि ताल अन्य हो लय अन्य हो, तथा एक ही ढङ्ग से गाये हुए ध्रुव के आदिम दो पद सानुप्रास हो और दो बार गाये गये हों, ध्रुवाश्रित तीसरा चरण अन्य धातु के द्वारा गाया हो, तत्पश्चात् एक बार आभोग और एक-बार ध्रुव गाकर उद्ग्राहसम्बन्धी तालमान से यदि न्यास किया जाये ॥९३-१००॥

तो दो तालों से युक्त यह ढेंकी स्वहल (बहुल ?) नाद होती है ।

---

१. (क) देङ्कितायान् ।
२. (क) दैङ्किति ।
३. (क) स्मृतिर्यस्तु ध्रुवाश्रयम् ।
४. (क) सकृद्वित्वा ।

एवं स्वहलनादेषा ढेङ्की तालद्वयान्विता ।
(इति ढेङ्कीसामान्य लक्षणम्)
उद्ग्राहस्यादिम भागं गायेद् वारद्वयं[1] ततः ॥१०१॥
सकृदेव द्वितीयार्द्धं ततोऽपि गमकैर्युतम् ।
[2]मेलापकं विकल्पेन ततो वारद्वयं ध्रुवम्[3] ॥१०२
आभोगं च सकृद्गीत्वा [4]ध्रुवेण न्यास इष्यते ।
[5]भागोऽपि झोम्बडे कार्य्य इति केचित्प्रचक्षते ॥१०३
गीतेन प्राक्तनेनैव[6] [7]यत्रोद्ग्राहः पदान्तरैः ।
विवक्षितार्थशेषस्य पूर्णत्वापादनाय च ॥१०४॥
[8]अपरः क्रियते योऽसौ स भागः[9]परिकीर्तितः ।
शरीरस्य यथा [10]छाया भवत्यव्यभिचारिणी ॥१०५॥
[11]ह्रासवृद्धियुता चैव झोम्बडे गमकस्थितिः ।
(इति तारजो झोम्बड)

(यह ढेङ्कीसामान्य का लक्षण हुआ)

उद्ग्राह का आदिम भाग दो बार गाना चाहिये ॥१०१॥

द्वितीयार्द्ध एक बार गाने के पश्चात् विकल्पपूर्वक गमकयुक्त मेलापक गाना चाहिये ॥१०२॥

तत्पश्चात् एक बार आभोग गाकर ध्रुव के द्वारा न्यास उचित है। कुछ लोगो का कथन है कि झोम्बड मे भाग भी करना चाहिए ॥१०३॥

विवक्षित शेष अर्थ का प्रतिपादन करने के तथा पूर्णता का आपादन करने के लिए, पुराने स्वरसन्निवेश के द्वारा अन्य पदो से किया जाने वाला उद्ग्राह ही 'भाग' कहलाता है। जिस प्रकार (ह्रास-वृद्धियुक्त) छाया सदैव शरीर के साथ रहती है, वैसी ही गमक की स्थिति झोम्बड में है।

(यह झोम्बडसामान्य का लक्षण हुआ)

---

१. (क) वारत्रय । २. (क) मेलापि कान्तिकत्वेन । ३. (क) द्रुतम् ।
४ (क) ध्रुवेन्यासस्स (ख) स्त्रविण न्यास । ५. (क) भोगोऽपि ।
६. (क) प्रोक्तने । ७ (क) मन्त्रोद् ग्राह्य. । ८ (क) अपर । ९. (क) भार ।
१०. (क) रामा । ११. (क). ह्रास वृद्धि यथा ।

वारजोऽतारजश्चेति[1] झोम्बडो जातियुग्मकम् ।।१०६।।
तारध्वनिस्समुद्दिष्टो गायकैः स्थानकाख्यया ।
तेन तारेण संयुक्तो झोम्बडस्तारजः स्मृतः ।।१०७।।
[2]तारजस्य परिज्ञेयं तत्र भेदचतुष्टयम् ।
तच्च [3]दुष्करमेवोक्तं गीतविद्याविशारदैः ।।११८।।
आदौ प्रतापतिलको भवेत्प्रतापसङ्गमः ।
ततोऽचलप्रतापः स्यात् ततः प्रतापवर्द्धनः[4] ।।१०९।।
उद्ग्राहे स्थानकस्थित्या प्रतापतिलको भवेत् ।
प्रतापसङ्गो मेलापे स्थानकस्य निवेशनात् ।।११०।।
[5]स्मृतोऽचलप्रतापोऽसौ ध्रुवे स्थानकनिर्मिते ।
प्रतापवर्द्धनो ज्ञेयः आभोगे स्थानकान्वयात् ।।१११।।
(इति तारजो झोम्बड)

(यह झोम्बडसामान्य का लक्षण हुआ)

झोम्बड की दो जातियाँ तारज और अतारज है। गायकों ने तार ध्वनि को 'स्थानक' कहा है। उस तार से युक्त झोम्बड 'तारज' कहा गया है ।।१०४-१०७।।

तारज झोम्बड के चार भेद है, जो गीतज्ञो की दृष्टि में दुष्कर है ।।१०८।।

प्रतापतिलक, प्रतापसङ्गम, अचलप्रताप और प्रतापवर्द्धन ये चार तारज झोम्बड है ।।१०९।।

उद्ग्राह में 'स्थानक' की स्थिति से प्रतापतिलक, मेलापक में स्थानक के निवेश से प्रतापसङ्ग, ध्रुव में स्थानक के प्रयोग से अचलप्रताप और आभोग में स्थानक सम्मिलित करने से प्रतापवर्द्धन होता है ।।११०-१११।।

(यह तारज झोम्बड हुआ)

१. (क) झारज । २. (क) तारजस्य । ३. (क) दुर्भर ।
४. (क) प्रतापवर्द्धनम् । ५. (क) स्मृतौ चलत्प्रतापो ।

ततः प्रभूतगमकस्ततोऽल्पगमकाभिधः ।
त्रिधातुकतृतीयः स्यादतारजभिदा त्रयम् ॥११२॥
अनेकगमकत्वेन विपुलायासयोगतः ।
प्रभूतगमकोनाम झोम्बडो दुष्करः[1] स्मृतः ॥११३॥
अल्पैस्तु गमकैः क्लृप्तः स्यादल्पगमकाभिधः ।
गमकानामबाहुल्यादक्लेशेन च गानतः ॥११४॥
त्रिधातुकः परिज्ञेयो मेलापेन च वर्जितः ।
त्रिधातुकाल्पगमकौ[2] सुकरौ परिकीर्तितौ ॥११५॥
सप्तैते कथिता भेदास्ताले गारुगिनामनि ।
एव द्वितीयतालेऽपि सप्तभेदा भवन्ति ये ॥११६॥
उद्यत्प्रताप प्रथमं भवेत्स· प्रतापयोगस्तदनन्तरस्स्यात् ।
स्थिरप्रतापश्च भवेत्प्रताप सशेखरो दुष्कर[3]नामधेय ॥११७॥
उद्यत्प्रतापमुद्ग्राहे स्थानकस्य निवेशनात् ।[4]
प्रतापयोग मेलापे वदन्ति स्थानकस्थिते ॥११८॥

अतारज के तीन भेद 'प्रभूतगमक', 'अल्पगमक' और 'त्रिधातुक' है ॥११२॥ 'प्रभूतगमक' झोम्बड अत्यन्त परिश्रमसाध्य होने के कारण दुष्कर कहा गया है ॥११३॥ 'अल्पगमक' में अधिक गमक नही होते, अत गाने में कष्टसाध्य नहीं है । त्रिधातुक मेलापकहीन होता है, अल्पगमक और त्रिधातुक सुकर है ॥११४-११५॥

ये सात भेद गारुगिताल मे और सात भेद द्वितीय ताल मे भी होते है ॥११६॥ उद्यत्प्रताप आरम्भ मे तदनन्तर प्रतापयोग, उसके पश्चात् स्थिरप्रताप और उसके पश्चात् दुष्करप्रतापशेखर होता है ॥११७॥

उद्यत्प्रताप उद्ग्राह में, प्रतापयोग मेलापक मे, स्थिरप्रताप ध्रुव में तथा प्रतापशेखर आभोग मे स्थानक के प्रयोग से होता है ॥११८॥

१. (क) दुःकर ।
२. (क) गमक ।
३. (क) दु कर ।
४ (क) विशेषणात् ।

ध्रुवे स्थिरप्रतापं च स्थानकस्य निवेशनात् ।
प्रतापशेखरं प्राहुराभोगे स्थानकान्वयात् ॥११६॥
अन्योऽपि भूरिगमको गमकः सूक्ष्मपूर्वकः ।
त्रिधातुकाश्च विज्ञेया दुष्कराः सुकरास्त्रयः ॥१२०॥
प्रभूतगमकाद्येषु त्रिषु यल्लक्षणं कृतम् ।
तदेव भूरिगमकप्रभृतिष्ववगम्यताम् ॥१२१॥
केवलं तालभेदेन [1]नामभेदः प्रकीर्तितः ।
अन्येऽपि भेदा विद्यन्ते झोम्बडस्य पुनस्त्रयः[2] ॥१२२॥
गद्यजः पद्यजश्चैव गद्यपद्यमयस्तथा ।
क्रमेण लक्षणं तेषां [3]यथावत्प्रतिपाद्यते ॥१२३॥
संस्कृतैर्देशजैर्वापि सानुप्रासैः पदैर्भवेत् ।
गीतविद्भिः स विज्ञेयो झोम्बडो गद्यजाह्वयः ॥१२४॥

भूरिगमक (प्रभूतगमक,) सूक्ष्मगमक, (अल्पगमक) और त्रिधातुक तीनों दुष्कर एवं सुकर होते हैं ॥११६-१२०॥

प्रभूतगमक इत्यादि तीनों में जो लक्षण किया है, वह भूरिगमक इत्यादि में भी समझना चाहिये ॥१२१॥

केवल तालभेद से नामभेद हो जाता है ।
झोम्बड के अन्य तीन भेद भी होते हैं ॥,१२२॥

प्रबन्ध के अन्य तीन भेद, गद्यज, पद्यज और गद्यपद्यमय हैं, इनका क्रमशः यथावत् लक्षण प्रतिपादित किया जाता है ॥१२३॥

गद्यज झोम्बड में अनुप्रासयुक्त संस्कृत या देशज पद होते हैं

किसी भी छन्द में निबद्ध झोम्बड पद्यमय होता है और गद्यपद्यमय (उभयात्मक) होता है ॥१२४॥

---

१. (क) दुःखेदः परिकीर्तितः ।
२. (क) पुनः स्त्रयम् ।
३. (क) यथाव; ।

छन्दसा येन केनापि निबद्धः पद्यजः स्मृतः ।
झोम्बडो गद्यपद्याभ्यां गद्यपद्यमयो[1]भवेत् ॥१२५॥

झोम्बडं[2] दुष्करं त्यक्त्वा प्रभूतगमकं तथा ।
गद्यजं पद्यजञ्चैव गद्यपद्यमयं तथा ॥१२६॥

लघुशेखरताले स्युरन्येऽल्पगमकादयः ।
[3]प्रतिमट्टे तृतीये च मट्टे निस्सारुके तथा ॥१२७॥

[4]चण्डनिस्सारुके चैव चण्डपूर्वतृतीयके ।
एतेषु झोम्बडा (प्रोक्ता) ये प्रोक्ता लघुशेखरे ॥१२८॥

कुडुक्काख्येन तालेन झोम्बडो गीयते यदा ।
[5]पदैरपि विना कार्य्या तदाभोगस्य कल्पना ॥१२९॥

एवमष्टादश प्रोक्ता झोम्बडा गीतवेदिभिः ।
(इति झोम्बडा)

उद्ग्राहेऽङ्घ्रि [6]द्वय प्रासे प्रतिपाद गणाश्च षट् ॥१३०॥

प्रभूतगमक और दुष्कर झोम्बड को छोडकर गद्यज, पद्यज तथा गद्यपद्यमय अल्पगमक इत्यादि झोम्बड लघुशेखर ताल में होना चाहिये। प्रतिमट्ट, तृतीय मट्ट, निस्सारुक, चण्ड निस्सारुक, और चण्ड तृतीय ताल में वे झोम्बड उचित है, जो लघुशेखर में बताये गये हैं ॥१२५-१२८॥

जब झोम्बड कुडुक्क ताल में गाया जाये, तो आभोग पदहीन उचित है ॥१२९॥

गीतज्ञों ने इस प्रकार अठारह झोम्बड बताये है ।
(ये झोम्बड हुए)

उद्ग्राह में दोनों चरण प्रासयुक्त हों, प्रत्येक पाद में छ गण हों, पाद के अन्त में 'प्रयोग' हो, तत्पश्चात् 'पल्लव' पद हो—

---

१. (क) मतो । २. (क) झोम्बडो दु करं । ३ (क) प्रतिमटे · येच ।
४. (क) छन्द । ५. (क) उदैरपि । ६. (क) त्रयं ।

पादस्यान्ते प्रयोगः स्यात् पल्लवाख्यं पदं ततः ।
पल्लवाख्ये पदे नास्ति [1]नियमो गणवर्णयोः ।।१३१।।
अनेनैव प्रकारेण द्वितीयाङ्घ्रेः प्रकल्पना ।
[2]गीत्वा ततस्तृतीयाङ्घ्रिर्गेयो मेलापको भवेत् ।।१३२।।
[3]एलापादत्रये गीतमेकमेव विधीयते ।
सप्रासोऽथ ध्रुवो गेयः गातुर्नाम्ना विराजितः ।।१३३।।
ध्रुवं गीत्वा ततो न्यासः सर्वैलासु [4]प्रशस्यते ।
(इत्येला)
स्वराख्यं करणं पूर्वं [5]पाटाख्यं करणं तथा ।।१३४।।
तृतीयं बन्धकरणं तुर्यं स्वरपदात्मकम् ।
पञ्चमं चित्रकरणं षष्ठं तेन्नकपूर्वकम् ।।१३५।।
सप्तमं मिश्रकरणं तेषां लक्षणमुच्यते ।
धातुद्वयं स्वरैरेव नैरन्तर्य्येण गीयते ।।१३६।।
[6]द्रुतशेखरतालेन करणे स्वरपूर्वके ।
करणं करणाख्येन तालेन किल गीयते ।।१३७।।

पल्लव मे गणों और वर्णों का नियम नही है, इसी प्रकार से दूसरा चरण हो, तत्पश्चात् तीसरे चरण मे मेलापक हो, तब एला प्रबन्ध होता है ।।१३२।।

एला के तीनों चरणो में गेय पक्ष सदृश होता है, ध्रुव में गायक का नाम और अनुप्रास उचित है, ध्रुव गाने के पश्चात् न्यास सभी एलाओं में प्रशंसनीय होता है ।

स्वराख्य, पाटाख्य, बन्ध, स्वरपदात्मक, चित्रक, तेन्नक और मिश्र ये सात करण है, उनका लक्षण कहा जा रहा है ।।१३३।।

'स्वर करण' में दो 'धातु' द्रुतशेखर ताल में निरन्तर गाये जाते हैं ।।१३४-१३६।।

करण 'करण' नामक ताल में गाया जाता है, परन्तु ऐसा प्रचार में दिखाई नही देता ।

---

१. (क) वास्ति । २. (क) विस्वा । ३. (क) येला । ४ (क) प्रवर्त्यते ।
५. (क) पाठाख्य । ६. (क) ध्रुवशेखर ।

दृश्यते तन्न लक्ष्येषु युक्तिर्युक्ता तु टिप्पणे[1] ।
इष्टस्वरो ग्रहस्तस्मिन्नंशेन न्यास इष्यते ॥१३८॥
आभोगे वर्णनीयस्य नाम गातुश्च निक्षिपेत् ।
[2]द्विर्गायेदादिमं त्वंशं सकृदेव द्वितीयकम् ॥१३९॥
तृतीयं तु सकृद्गीत्वा ध्रुवं गायेदनन्तरम् ।
उद्ग्राहेण ततो न्यासः करणे स्वरपूर्वके ॥१४०॥
गानप्रकारो यस्यैव मङ्गलारम्भकं हि तत् ।
गीत्वा पूर्वं द्विरुद्ग्राहं सकृत् गायेत् ध्रुवं ततः ॥१४१॥
[3]उद्ग्राहेणस्यान्तरं भागं गीत्वाभोग ध्रुवं ततः ।
उद्ग्राहे पुनर्न्यासः क्रियते यत्र तद्भवेत् ॥१४२॥
[4]करणं कीर्तिलहरीसंज्ञं श्रुतिसुखावहम् ।
उद्ग्राहध्रुवयोर्गान पूर्ववद् यत्र दृश्यते ॥१४३॥
ध्रुवकार्धं ततो गेयमाभोगाद्यपि पूर्ववत् ।
आनन्दवर्द्धन नाम तदेतत्करण मतम् ॥१४४॥

अत इस सम्बन्ध में युक्ति देना उचित है। इसमे इष्ट स्वर के द्वारा ग्रहण करके अशस्वर के द्वारा न्यास वाञ्छनीय है ॥१३७, १३८॥

आभोग में 'वर्णनीय' और गायक का नाम रखा जाना चाहिये। आदिम अश को दो बार और द्वितीय अश को एक बार गाना उचित है तृतीय अंश एक बार गाने के पश्चात् ध्रुव का गान होना चाहिये तथा इस स्वरकरण में न्यास उद्ग्राह के द्वारा होना उचित है। जिसका गान ऐसा है, वह करण मङ्गलारम्भ है। दो बार उद्ग्राह, एक बार ध्रुव, उद्ग्राह का आन्तर भाग, आभोग और ध्रुव का गान जिसमे हो, वह श्रुतिसुखद 'कीर्तिलहरी' है ॥१३९-१४३॥

उद्ग्राह और ध्रुव का गान पूर्ववत् जिसमें हो, तत्पश्चात् ध्रुवक का अर्द्ध हो, आभोग इत्यादि भी पूर्ववत् हो तो आनन्दवर्द्धन नामक करण होता है ॥१४४॥

---

१. (क) त्रपिप्पणे । २. (क) दीर्घाये ।
३. (क) उद्ग्रहस्यन्तिमं भोग गीतवोग ध्रुवंतत । ४. (क) करणा ।

संज्ञात्रितयमुक्तं[1] यद्मङ्गलारम्भपूर्वकम् ।
स्वराख्ये करणे स्पष्टं तत्स्यादन्येषु षट्स्वपि ॥१४५॥
स्वरैः सहस्तपाटैश्च[2] व्यत्यासरचितैरपि ।
तदुक्तं गीततत्वज्ञैः करणं पदपूर्वकम् ॥१४६॥
(इति पदकरणम्[3])
स्वराश्च हस्तपाटाश्च समं स्युः मुरजाक्षरैः ।
धातुद्वये परिज्ञेयं तत्पाटकरणं द्विधा ॥१४७॥
(इति चित्रकरणम्)
स्वरा. मुरजपाटाश्च यत्रस्युर्धातुयुग्मके ।
तद्बन्धकरणं नाम विज्ञेयं गीतकोविदैः ॥१४८॥
(इति बन्धकरणम्)
धातुद्वयं भवेद्यत्र स्वरैरथ पदैरपि ।
तदुक्तं गीततत्वज्ञैः करणं पदपूर्वकम् ॥१४९॥
(इति स्वरपदकरणम्)
स्वरास्सतेन्नका यत्र दृश्यन्ते धातुयुग्मके ।
तदुक्तं तेन्नकरणं चालुक्यवसुधाभुजा ॥१५०॥
(इति तेन्नकरणम्)

मङ्गलारम्भ इत्यादि जो तीन नाम स्वरकरण मे स्पष्ट किये गये हैं, वे अन्य छहों में भी होगे । जो व्यत्यस्त स्वरों और हस्त पाटों से विरचित हो, उसे गीतज्ञों ने 'पदकरण' कहा है ॥१४५,१४६॥

जहा दोनों धातुओ में स्वर और हस्तपाट समान हों, वह पाट करण द्विविध (चित्रकरण) है ॥१४७॥

जहां दोनों धातुओं मे स्वर और मुरजपाट हों, वह बन्धकरण है ।

जहां दोनों धातुओं मे स्वर और पद हों, वह स्वरपदकरण है ॥१४९॥

जहा दोनों धातुओं मे तेनक युक्त स्वर हों, उसे चालुक्य नरेश (जगदेक) ने तेन्नकरण कहा है ॥१५०॥

---

१. (क) मुक्त्वा । २. (क)पादै । ३. (क) स्वरपदकरणम् ।

स्वरैः पाटैस्तथा तेन्नैर्यत्र धातुद्वयं भवेत् ।
तन्मिश्रकरणं ज्ञेयं प्रान्ते विरुदसंयुतम् ॥१५१॥
(इति मिश्रकरणम्)
(इति करणम्)

गीत्वा द्विवारमुद्ग्राह ध्रुवाभोगावनन्तरम् ।
ध्रुवकेण पुनर्मुक्तिर्वर्तन्यां सूत्रयेद् बुधः[1] ॥१५२॥

[2]प्रतितालो द्रुतो मट्ट. कङ्कालश्च कुडुक्कक ।
[3]वर्तन्यां न भवन्त्येते तालास्त्वन्ये भवन्ति हि ॥१५३॥

[4]स्वराख्यकरणाद् भेदो वर्तन्यामयमेव तत् ।
विलम्बितो लयस्तस्यां करणे तु द्रुतो लय ॥१५४॥
(इति वर्तनी)

प्रतितालादयः पञ्च वर्तन्यां[5] ये निवारिता ।
तैरेव गीयते या सा वर्तन्येव विवर्तनी ॥१५५॥

जहाँ दोनों धातुओ मे स्वर, पाट तथा तेन्न हो, वह अन्त में विरुद सयुक्त मिश्रकरण है ॥१४४-१५१॥

दो बार उद्ग्राह गाने के पश्चात् ध्रुव और आभोग का गान और ध्रुव से समाप्ति वर्तनी मे उचित है। वर्तनी मे प्रतिताल, द्रुत, मट्ट, कङ्काल और कुडुक्कक तालों का प्रयोग न होकर अन्य तालो का प्रयोग होता है। स्वराख्य मे लय द्रुत होती है और वर्तनी मे बिलम्बित, दोनों में यही भेद है ॥१५४॥

(यह वर्तनी प्रबन्ध हुआ)

वर्तनी मे जो प्रतिताल आदि पाँच ताल वर्जित हैं, जो उन ही में गाई जाये, वह विवर्तनी है विवर्तनी में पहले तालवर्जित स्वरालाप होता है ॥१५५-१५६॥

---

१. (क) बुधै । २. (क) इति प्रालो घृतो । ३ (क) वर्तन्यानि ।
४. (क) स्वराज्य ।
५. (क) वर्तन्यां विदारिताः ।

आदौ यत्र स्वरालापः क्रियते तालवर्जितः ।
[1]विवर्तनी समाख्याता सा स्यादालापपूर्विका ॥१५६॥
(इति विवर्तनी)
स्वरैरभीष्टो यत्रार्थः सप्तभिः प्रतिपाद्यते ।
स्वरार्थोऽसौ द्विधा ज्ञेयः शुद्धमिश्रविभेदतः[2] ॥१५७॥
क्रमेण व्युत्क्रमेणेति प्रत्येक तौ द्विधा मतौ ।
[3]शुद्ध्या रागश्रुतिस्थानकृतया तस्य सम्भव. ।
शुद्धः स्वरार्थो विज्ञेयः केवलैस्सप्तभिः स्वरैः ॥१५८॥
यत्र स्वराणां सप्तानामेकैकं प्रथमाक्षरम् ।
अक्षरान्तरसम्मिश्र गीयते स तु मिश्रकः ॥१५९॥
[4]शशिस्तनाग्निवेदेषुरसाश्चेतिहिता भिदः[5] ।
एकादिस्वरभेदेन स्वरार्थः सप्तधा स्मृत ॥१६०॥

(यह विवर्तनी हुई)

जिसमें सात स्वरों के द्वारा ही अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन होता है, वह 'स्वरार्थ' प्रबन्ध शुद्ध और मिश्र दो प्रकार का है ॥१५७॥

वे दोनों भी क्रम और व्युत्क्रम से दो प्रकार के होते हैं ।

राग और श्रुतिस्थान की शुद्धि से 'स्वरार्थ' का जन्म होता है । शुद्ध स्वरार्थ केवल सात स्वरो के द्वारा होता है, जहाँ एक एक स्वर के पश्चात् एक एक अन्य अक्षर होता है, वह 'मिश्र' कहलाता है ॥१५८-१५९॥

उसके भेद (८७६५४३२१) हैं । एकस्वर इत्यादि भेद से स्वरार्थ सात प्रकार का है ॥१६०॥

---

१. (क) वर्तन्या वा वितंन्या ।
२. (क) विभेदकः ।
३. (क) श्रुत्वा ।
४. (क) शशिस्कान्वाग्नि देवेषु ।
५. (क) श्चैर्विहिताभिदः (ख) चेति हितामिधाः ।

आभोगो[1]ऽन्यपदैश्चास्य ग्रहेणैव प्रमुच्यते ।
(इति स्वरार्थः)
अपादः पदसन्दोहो गद्यं षोढा तदिष्यते ॥१६१॥
वृत्तगन्धि तथा चूर्णमन्यदुत्कलिकाभिधम्[2] ।
ललितं च तथा खण्ड चित्रं तल्लक्ष्म कथ्यते ॥१६२॥
पद्यभागान्वितं गद्यं वृत्तगन्धि निगद्यते ।
असमस्तैः समस्तैर्वा द्वित्रैस्त्रिचतुरैः[3] पदैः ॥१६३॥
रचितं[4] चूर्णमाख्यातं गद्यं गद्यविशारदैः ।
गौडरीत्यायुतंगद्यं प्रोक्तमुत्कलिकाभिधम् ॥१६४॥
[5]समस्तैः पञ्चषैर्बद्धं [6]पदैर्ललितमीरितम् ।
[7]प्रक्रान्तरीतिभङ्गेन बृहल्लघुपदैर्युतम् ॥१६५॥
गद्यं खण्डमिति प्राहुर्गद्यभेदविशारदाः ।
गद्यं चित्रमिति प्रोक्तं नानारीतिसमन्वितम् ॥१६६॥

अन्य पदों के द्वारा इसका आभोग होता है और ग्रह से ही न्यास ।
(यह स्वरार्थ हुआ)

पादसहित शब्द समूह गद्य है, यह वृत्तगन्धि, चूर्ण, उत्कलिका, ललित, खण्ड तथा चित्र, इन छ प्रकारो का होता है, इनका लक्षण कहा जा रहा है ॥१६१,१६२॥

पद्यभागयुक्त गद्य वृत्तगन्धि कहा जाता है, असमस्त या समस्त तीन चार पदों से रचित गद्य 'चूर्ण' कहा गया है, गौडरीति से युक्त गद्य उत्कलिका' है ॥१६३-१६४॥

समस्त पांच छः पदों से बद्ध गद्य 'ललित' कहा गया है, प्रक्रान्त रीति शैली से तथा बड़े छोटे पदो से युक्त गद्य 'खण्ड' कहलाता है, विविध रीतियो से युक्त गद्य 'चित्र' है ॥१६५-१६६॥

---

१. (क) आभोगोपपदै । २. (क) दुक्कलिका । ३ (क) स्तैः ।
४. (क) रञ्जितं । ५. (क) समस्तः पञ्चषैर्वर्यं । ६. (क) लालित ।
७. (क) प्रक्रान्ति ।

वृत्तगन्धिनि पाञ्चाली रीतिश्शान्तो रसो भवेत् ।
वृत्तिश्च भारती[1]ज्ञेया सामवेदसमुद्भवे ॥१६७॥
[2]चूर्णेस्यात् सात्वती वृत्तिः वैदर्भी रीतिरुत्तमा ।
शान्तो रसो विजानीयाद् [3]गद्यविद्याविशारदैः ॥१६८॥
उत्कलिकाह्वये रीतिर्गौडी[4] वीररसो भवेत् ।
वृत्तिरारभटी ज्ञेया गीततत्वविचक्षणैः ॥१६९॥
ललिते पाञ्चालरीतिः स्यात् कैशिकी वृत्तिरुत्तमा ।
रसः शृङ्गारनामायमादिशास्त्रार्थ सम्मतः[5] ॥१७०॥
खण्डगद्ये रसो हास्यो वैदर्भी रीतिरिष्यते[6] ।
सात्वती वृत्तिरिष्टा मे पूर्वशास्त्राविरोधतः ॥१७१॥
चित्रगद्ये[7] च वैदर्भी रीतिर्वृत्तिश्च कैशिकी ।
रसः शृङ्गारसंज्ञोऽय[8] गीतज्ञैस्समुदाहृतः ॥१७२॥

सामवेदोत्पन्न वृत्तगन्धि में पाञ्चालीरीति, शान्तरस, भारती वृत्ति होती है ॥१६७॥

चूर्ण में सात्वतीवृत्ति, उत्तम वैदर्भी रीति और शान्त रस होता है ॥१६८॥

उत्कलिका में गौडी रीति, वीर रस, आरभटी वृति होती है ॥१६८॥

'ललित' में पाञ्चाल रीति, कैशिकी वृत्ति और आदिमशास्त्र-सम्मत शृंगार रस होता है ॥१७०॥

खण्डगद्य में हास्य रस, वैदर्भीरीति और सात्वती वृत्ति मुझे प्राचीन शास्त्रों से अविरुद्ध होने के कारण अभीष्ट है ॥१७१॥

चित्र गद्य में वैदर्भी रीति, कैशिकी वृत्ति और शृङ्गार रस गीतज्ञों ने बताया है ॥१७२॥

---

१. (क) भारते । २. (क) पूर्णे । ३. (क) गद्य पद्य विशारदा. ।
४. (क) गौड । ५. (क) शास्त्रार्थं । ६. (क) सज्ञता । ७. (क) गद्यं ।
८. (क) भरतज्ञैः ।

प्रणवाद्यं भवेद् गद्यं गेयं [1]तालविवर्जितम् ।
मिथस्स यमकैः षड्भिरष्टभिर्वा समन्वितम् ॥१७३॥
पदान्येतानि [2]मेधावी गायेद् गीतानुसारतः ।
गद्येऽनुयायिनः कार्य्यो गीतस्य नियमो बुधैः ॥१७४॥
मध्ये मध्येऽत्र गमकाः सर्वे वर्णाश्च युक्तितः ।
गद्यरीत्या विधातव्या अविलम्बिविलम्बिताः ॥१७५॥
[3]अतालपदपर्य्यन्ते स्वरा ज्ञेया विचक्षणैः ।
मध्ये मध्ये तु गद्यस्य स्वराः प्रान्तेऽथवा मताः ॥१७६॥
ततः प्रबन्धनामाङ्कं सतालपदयुग्मकम् ।
प्रत्येकं द्विः प्रगातव्यं तदेतत्पद युग्मकम् ॥१७७॥
अथालम्बविलम्बाभ्या गीतमक्षरवर्जितम् ।
अनुयायि सतालञ्च [4]धातु गायन् ततः परम् ॥१७८॥
शुभं तालविलम्बेनाशस्य[5] नामाङ्कित पदम् ।
ततो विलम्बताल च धृत्वा पूर्वं यतिः कृतः ॥१७९॥

गद्य के आरम्भ में प्रणव होता है, वह तालरहित और छ या आठ यमको से युक्त होता है ॥१७३॥

मेधावी व्यक्ति को ये पद गीतानुसार गाने चाहिये, इस गद्य में बुद्धिमानो को अनुवर्ती गीत का नियम रखना चाहिये ॥१७४॥

मध्य मध्य मे युक्तिपूर्वक सभी गमको और वर्णों का अविलम्बित और बिलम्बित रूप मे गद्य की रीति से रखा जाना उचित है ॥१७५॥

तालरहित पद अन्त मे तथा गद्य के मध्य मध्य मे या प्रान्त मे स्वर होना उचित है ॥१७६॥

तत्पश्चात् दो पद ताल सहित होना चाहिये, जिसमे प्रबन्ध का नाम हो, उन दोनो पदो मे प्रत्येक पद दो बार गाना चाहिये ॥१७७॥

अब विलम्बित का आश्रय लेकर पूर्व किये हुए विराम के अनुसार जिस भाग के द्वारा 'यति' किया गया हो, उसी से विराम उचित है। सस्कृतमिश्रित गद्य 'सस्कृत' कहा गया है ॥१७८-१८०॥

१. (क) गाल । २. (क) वेदानि । ३. (क) आताल पदपर्य्यन्ता ।
४. (क) गातु गवि । ५. (क) नामस्य नामाङ्कित ।

[1]भागेन येन तेनैव गद्ये न्यासो विधीयते ।
दैविकात् संस्कृतं प्रोक्तं गद्यं संस्कृतमिश्रितम् ।।१८०।।
[2]षट्प्रकारा गतिर्गद्ये [3]द्रुता चैव [4]विलम्बिता ।
[5]मध्या, द्रुतविलम्बा च द्रुतमध्या तथापरा ।।१८१।।
द्रुतमध्या[6] विलम्बा च तासां लक्षणमुच्यते ।
[7]द्रुता लघूनां बाहुल्यादल्पत्वेन विलम्बिता ।।१८२।।
लघूनां च गुरूणां च समत्वे मध्यमा मता ।
गुर्वक्षराणां प्राचुर्य्यात् भवेद्द्रुतविलम्बिता ।।१८३।।
गुर्वक्षणामल्पत्वे द्रुतमध्या प्रकीर्तिता ।
गुरुर्भिर्लघुभिर्मिश्रैः ज्ञेया मध्यविलम्बिता ।।१८४।।
प्रत्येक षड्विधे गद्ये षट्प्रकारा गतिर्भवेत् ।
अथ षट्त्रिशदेवस्युर्भेदा गद्य[8]समाश्रया. ।।१८५।।
(गद्यम्)

'गद्य' में छः प्रकार की गति है, द्रुता, बिलम्बिता, मध्या, द्रुतबिलम्बा तथा द्रुतमध्या ।।१८१।।

उनका लक्षण कहा जाता है ।

लघुओं के बाहुल्य से द्रुत, अल्पत्व से विलम्बित, लघुओं और गुरुओ की समानता से मध्यम, गुरुओ की अधिकता से द्रुतविलम्बिता, गुरु अक्षरों की अल्पता से द्रुतमध्या, तथा गुरुओं और लघुओ के मिश्रण से मध्यविलम्बिता गति होती है ।

इस प्रकार छः प्रकार के गद्य में प्रत्येक प्रकार के अन्तर्गत छः प्रकार की गति होती है । इस प्रकार गद्याश्रित भेद छत्तीस होते हैं ।।१८२-१८५।।
(यह गद्य हुआ)

१. (क) नागेन । २. (क) सप्रकारा । ३. (क) धृता । ४. (क) चेद बिलम्बिता ।
५. (क) मध्यावृत बिलम्बा च । ६. ततो मध्या । ७. (क) धृता ।
८. (क) गत्य ।

लम्भकश्चोपलम्भश्च विलम्भश्चाथ[1] लक्षणम् ।
पदमेकं पदे द्वे वा किंचिद्गमकसंयुते ॥१८६॥
सकृद् गीत्वा ततो गेयं द्वौ वारौ ध्रुवकाभिधम् ।
आभोग च ततो गीत्वा ध्रुवेण न्यास इष्यते ॥१८७॥
इत्येष लम्भकः प्रोक्तः भागैर्द्वित्रैर्विभूषितः[2] ।
[3]अतालालाप युक्तः प्राक् ध्रुवाभोगे च तालभाक् ॥१८८॥
विलम्भकः परिज्ञेयो ध्रुवे न्यासेन संयुतः ।
[4]पदैर्नानाविधैर्यस्मादेकगीतैः[5] पुनः पुनः ॥१८९॥
उद्ग्राहे वा ध्रुवे वापि द्वयोर्वाभोगवर्जितः ।
उपलम्भ इति प्रोक्तः स नाम्ना गीतकोविदैः ॥१९०॥

(लम्भक)

[6]आदितालसमायुक्ते गमकादिविवर्जिते ।
रासके झोम्बडस्यैव शेषं लक्षणमीरितम् ॥१९१॥

अब लम्भक, उपलम्भ और विलम्भ का लक्षण प्रस्तुत है। कुछ गमकयुक्त एक या दो पद गाकर, दो बार ध्रुवक गाना चाहिये, तत्पश्चात् आभोग गाकर ध्रुव द्वारा न्यास उचित है, इस प्रकार लम्भक होता है। दो तीन भागो से युक्त, तालहीन, आलापयुक्त विलम्भक है, जिसका न्यास ध्रुव से होता है। एक ही प्रकार से गाये हुए विविध पदों से उद्ग्राह ध्रुव या दोनों में गाया हुआ आभोगवर्जित उपलम्भ कहा जाता है ॥१८६-१९०॥ आदि ताल से युक्त गमक इत्यादि से हीन रासक में अन्य लक्षण झोम्बड के ही है ॥१९१॥

---

१ (क) विलम्बश्च ।
२. (क) द्वित्रि ।
३. (क) अकालालाभयुक्त ।
४. (क) पद्यै ।
५. (क) गीते ।
६. (क) इति ।

अन्यैर्यस्त्रिविधः प्रोक्तः गणमात्रादिभेदतः ।
[1]रासकः किन्तु नास्त्यस्य लक्ष्ये कुत्रापि दर्शनम् ॥१९२॥*
आलापं केचिदिच्छन्ति रासके[2] प्राङ्मनीषिणः ।
केचिदेकपदोद्ग्राहं [3]रासकं प्रतिपेदिरे ॥१९३॥

(इति रासक[4] लक्षणम्)

द्विरुद्ग्राह ध्रुवं द्विश्च गीत्वाभोग सकृत्पुनः ।
ध्रुवं गीत्वा ततः कार्य्यो न्यासो गीतविशारदैः ॥१९४॥
[5]घनद्रुता घनप्रासा यत्या च घनया युता[6] ।
एकतालाख्यतालेन गेया स्यादेकतालिका ॥१९५॥
आलापनिर्मितः [7]कैश्चिदस्या उद्ग्राह इष्यते ।

(इत्येकताली)

(इति शुद्धसूडाः)

अथ सालगसूडक्रमं वक्ष्ये—

आदौ ध्रुवस्ततो[8] मण्ठः प्रतिमण्ठश्च[9] लम्भकः ॥१९६॥

अन्य लोगों ने जो गण मात्रा आदि के भेद से त्रिविध रासक कहा है, उसके कहीं लक्ष्य में दर्शन नहीं होते। कुछ पूर्वाचार्य्यों ने 'रासक' में आलाप भी बताया है, कुछ लोगों का कथन है कि रासक में एक पद का उद्ग्राह होता है ॥१९२॥

(यह रासक हुआ)

दो बार उद्ग्राह, दो बार ध्रुव, एक बार आभोग, पुनः ध्रुव और पुनः न्यास (एकताली में है) एकताली घनद्रुत, घनप्रास और घनयति रख कर एकताल में गाई जानी चाहिये। कुछ लोगों की दृष्टि में इसका उद्ग्राह आलापनिर्मित होता है।

(यह एकताली हुआ)

(शुद्ध सूड समाप्त हुए)

अब सालग सूडों का क्रम कहूँगा—

ध्रुव, मण्ठ, प्रतिमण्ठ, लम्भक, अड्डताली, रासक और एकताली (ये सालग सूड प्रबन्ध हैं)।

---

१. (क) रासकः । २. (क) रासके । ३. (क) रागकं । ४. (क) रागक ।
५. (क) घनाद्रुत । ६. (क) युनः । ७. (क) शोश्च । ८. (क) ध्रुवा मट्टा ।
९. (क) प्रतिमट्टा । *त्रिविधश्चाङ्गैर्नोक्तः ।

[११]अड्डताली रासकश्च ह्यकताली च कीर्तिता ।
आदौ पादौ समगणयुतौ[१२] धातुसाम्यौ ततस्तत्[१३] ।
तुल्यो वाऽङ्घ्रिस्त्वधिक[१४] इतरो धातुनान्येन युक्तः ।
स्यादुद्ग्राहेऽत्र पदसहितो गेय एव द्विवारं ।
त्वङ्घ्रीगीत्वा सकृदपि पुनर्न्यस्यते[१५] चोद्ग्रहे सः ॥१९७॥

स ध्रुव एकादशधा—

[१]शशिहासहंसमाधवनीलोत्पलतापसप्रजानाथाः ।
हरिहरनरपतिशक्रा एकादश ते क्रमादुक्ताः ॥१९८॥
भवति शशाङ्कः क्रमशो मधुरतरो मन्द्रमध्यताराख्ये ।
तेषामपि विशदानां[२] व्युत्क्रमतो जायते [३]हासः ॥१९९॥
तेषामपि स्फुटानां मध्यादीनामसौ हंसः ।
सुकुमाराणां तेषां मध्यान्तानां वसन्ताख्यः ॥२००॥

आरम्भ के दो पादों में गण और गेयपक्ष समान हों, तत्पश्चात् वैसा ही दूसरा चरण अन्य गेय से युक्त उद्ग्राह में हों, इसे पदसहित गाकर दो चरणों का गान करने और उद्ग्राह द्वारा ही न्यास करने से 'ध्रुव' होता है, वह ग्यारह प्रकार का है ॥१९६॥

उन ग्यारह ध्रुवों के नाम क्रमश शशी, हास, हंस, माधव, नीलोत्पल, तापस, प्रजानाथ, हरि, हर, नरपति और शक्र है ॥१९७॥

क्रमशः मन्द्र, मध्य और तार में मधुरतर होने वाला 'शशी' और इसके विपरीत क्रम से मधुरतर होने वाला ध्रुव 'हास' होता है ॥१९८॥

मध्य, मन्द्र, तार मे यदि क्रमशः मधुरता स्पष्ट होती तो 'हंस', और मन्द्र, तार मध्य मे क्रमश यह विशेषता हो, तो 'वसन्त' होता है ॥१९९॥

यदि मन्द्र, मध्य, तार मे क्रमश. 'विकास' हो, तो कुमुद (नीलोत्पल)', यदि उनमे प्रसाद गुण और 'लीन' गमक हो, तो 'तापस' होता है ॥२००॥

---

११ (क) अड्ठताता । १२. (क) समणयुतौ । १३. (क) शतस्त । १४. (क) तदेक । १५ (क) नश्यते । १. (क) मानव । २. (क) विषदाना ।
३. (ख) भास ।

तेषां विकासभाजामभिपूर्वाङ्को[1]भवेत्कुमुदः ।
तेषां [2]प्रसन्नभाजां लीनानां तापसो भवति ॥२०१॥
प्रचुरस्फुरितैस्तैरपि सुव्यक्तो भवति कमलभवः ।
तैरेव[3]तिरिपुबहुलैः कमलापतिनामको भवति ॥२०२॥
तैरेव[4]तिरिपुभिन्नैश्शैलसुतावल्लभो भवति ।
[5]तैरान्दोलित बहुलैर्जयितासौ वसुन्धराधीशः ॥२०३॥
तैरेव कम्पबहुलैः सहस्रनयनाभिधो भवति ।
(इत्येकादश ध्रुवाः)
[6]मट्टश्च प्रतिमट्टश्चलम्भकश्चाड्डतालिका ॥२०४॥
रासकश्चैकताली च [7]ध्रुवकेणपिगीयते ।
गेयः [8]स्यात्सकृदुद्ग्राहो द्विवारं ध्रुवकस्तथा ॥२०५॥
गीत्वाभोगं सकृन्न्यासः ध्रुवो [9]लम्भकजातिकः ।
[10]मट्टादितालषट्केन यदा गीयेत लम्भकः ॥२०६॥

उनमें यदि 'स्फुरित' गमकों का प्राचुर्य्य हो तो 'कमलभव' और 'तिरिपु' गमको की बहुलता से 'कमलापति' होता है ॥२०१॥

'तिरिपु' और भिन्नयमक क्रमशः तीनों में होने पर 'हर' और 'आन्दोलित' यमकों की बहुलता से 'नरपति' होता है ॥२०२॥

यदि तीनों स्थान 'कम्पित' नामक गमकोंसे युक्त हों तो 'शक्र' होता है ।
(ये ग्यारह ध्रुव हुए)

मट्ट, प्रतिमट्ट, लम्भक, अड्डताली, रासक और ध्रुवक के द्वारा भी गाये जाते हैं। एक बार उद्ग्राह दो बार ध्रुव, तत्पश्चात् आभोग गाकर न्यास करने से 'लम्भक' ध्रुव होता है ॥२०३, २०५॥

जब 'लम्भक' को मट्ट इत्यादि छः तालों से गाया जाता है, तब 'लम्भक' का नामकरण ताल के अनुसार हो जाता है ॥२०६॥

१. (ख) द्रुवाङ्को । २. (क) प्रसङ्ग भाजां । ३. (क) तीरेषु । ४. (क) त्रिपु ।
५. (क) तैरान्दोलितैर्जयिते । ६. (क) मट्ठा च प्रतिमट्ठा च । ९. (क) ध्रुवः केनापि ।
१०. (क) स्या सद्रुमद्राहो । ११. (क) लम्बक । १२. (क) मह्रादि ।

तत्तत्तालाभिधानेन लम्भकं कथयन्ति च ।
गुण्डक्रीः गूर्जरी चैव रामक्रीः [1]कलमञ्जरी ॥२०७॥
छायागौडश्च देशाख्या वराटी कथिता तथा ।
बुधैः सालगनाट्टा च रागास्सालगसंज्ञिताः ॥२०८॥
छायायामलमित्यर्थं[2] गीयत इति छायालगम् ।
(तदेव सालगमिति प्रसिद्धम्)

अथगानक्रमः—

एकैकशोऽपि[3] गातव्यः प्रबन्धो विनियोगतः ॥२०९॥
चमत्कारं जनयितुं विनोदेषु सभापतेः ।
अनुसारस्सानुसारः[4] [5]तस्योत्तराभिधः परः ॥२१०॥
खल्लोत्तरं च कुरुपुः पट्टान्तरनवान्तरौ[6] ।
उच्यते समयस्तस्माद् विज्ञेयं परिवर्तनम् ॥२११॥
नवधा रूपकं प्रोक्त, गीतविद्याविचक्षणैः ।
क्रमेण लक्षणं तेषां वक्ष्ये लक्ष्यानुसारतः ॥२१२॥

गुण्डक्री, गुर्जरी, रामक्री, कलमञ्जरी, छायागौड, देशाख्या, और वराटी 'सालग' नामक राग हैं ॥२०८॥

इनका छाया में गाना पर्य्याप्त है, इसीलिए ये 'छायालग' या 'सालग' कहलाते है ।

अब गाने का क्रम बताया जाता है :—

सभापति की विनोदगोष्ठियों में चमत्कारोत्पादन के लिए एक एक प्रबन्ध भी विनियोगपूर्वक गाना चाहिये । अनुसार, सानुसार, उत्तर, खल्लोत्तर, कुरुपु, पट्टान्तर, नवान्तर, समय और परिवर्तन, रूपक के ये नौ प्रकार हैं, लक्ष्य के अनुसार क्रमश: उनके लक्षण कहूंगा ॥२०९, २१२॥

ताल और राग में प्रमाणित, पूर्व वस्तु के सदृश नवीन 'वस्तु' अनुसार है, जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब हो ॥२१२॥

---

१. (क) कलमञ्जरी । २. (क) छाययामल (ख) छाययामल । ३. एकैकस्तोपि ।
४. (क) रसानुसारः । ५. (क) ततोत्तारामिद. । ६. (क) नवौततः ।

तालरागप्रमेयञ्च सदृशं पूर्ववस्तुनः ।
नवं वस्त्वनुसाराख्यं दर्पणे प्रतिबिम्बवत् ॥२१३॥
इदमेव गुणैरीषत्सदृशं पूर्ववस्तुनः ।
सानुसाराभिधं ज्ञेयं गीतलक्षणकोविदैः ॥२१४॥
सममात्रं विशिष्टार्थं किंचित्तालविलम्बितम् ।
[1]कडालश्रुतिसंयुक्तमुत्तरं[2] गीतमुच्यते ॥२१५॥
स्वस्थानकपरित्यागात् स्थायानेवादिरूपके[3] ।
[4]नीचोच्चस्थानकैरन्यगानं खल्लोत्तरं[5] विदुः ॥२१६॥
एकस्यैवपदार्थस्य बहूनां वोपमादिभिः ।
[6]यः स्यादिष्टार्थनिर्वाहः कुरुपुः परिकीर्तितः ॥२१७॥
परीक्ष्यमाणयोस्तज्ज्ञैरुभयोर्यदि वस्तुनो. ।
गुणाधिक्यमनिश्चेयं पट्टान्तरमिति स्मृतम् ॥२१८॥
अर्थभाषाक्रियारागधातुमातुलयेषु च ।
[7]रसरीत्योर्नवत्व यन्नव इत्यभिधीयते ॥२१९॥

यदि यह गुणों के द्वारा पूर्व वस्तु के साथ कुछ सादृश्य रखती हो, तो 'सानुसार' है ॥२१३॥

यदि विशिष्टार्थयुक्त, सममात्रामय और कुछ विलम्बित ताल से युक्त, एवं कडालश्रुतिसयुत हो, तो 'उत्तर' गीत है ॥२१५॥

पूर्वरूपक में गाये हुए 'स्थान' का परित्याग करके उन्ही स्थायों को अपेक्षया नीचे ऊँचे अन्य 'स्थानों' द्वारा गाने से 'खल्लोत्तर' होता है ॥२१६॥

एक ही पदार्थ का अनेक उपमा इत्यादि के द्वारा इष्टार्थनिर्वाह 'कुरुप' कहलाता है ॥२१७॥

यदि विशेषज्ञ परीक्षणीय दोनों वस्तुओं में गुणाधिक्य के अनुसार तारतम्य निश्चित न कर सकें तो 'पट्टान्तर' कहा जाता है ॥२१८॥

अर्थ, भाषा, क्रिया, धातु, मातु और लय में रस-रीति की नवीनता हो तो 'नव' कहलाता है ॥२१८॥

---

१. (क) चडाल। २ (क) मुत्तारं। ३. (ख) स्थेया नैवादि । ४. (क) निजोच्च ।
५. (क) वल्लोत्तरं । ६. (क) सम्या । ७. (क) रसरीत्यार्णवत्वम् ।

[1]गजाद्यारोहणादौ तु समये नृपवर्णनम्[2] ।
तदानीमेव रचितं भवेत्तत्समयाभिधम् ॥२२०॥
रूपकं स्थानके[3] रागे ताले गीयेत गायकैः ।
परिवृत्यान्यथा गीतं तदेव परिवर्तनम् ॥२२१॥
रीतयस्सन्ति कथिताः षडेव कथयामि ताः ।
चोक्षगायनरीतिश्च[4] योगिरीतिः क्वचिद्भवेत् ॥२२२॥
मलिनगायनरीतिश्च रीतिस्सा योषितां क्वचित् ।
क्वचित्पेरणरीतिश्च रीतिः कथकसञ्ज्ञिताः ॥२२३॥
रीतिर्भङ्गिरितिप्रोक्ता रीतिलक्षणकोविदैः ।

इति श्रीमदभयचन्द्रमुनीन्द्रचरणकमलमधुकरायितमस्तक-
महादेवार्य्यशिष्यस्वरविमलविद्यापुत्रसम्यक्त्वचूडामणिभरत-
भाण्डीकभापाप्रवीणश्रुतिज्ञानचक्रवर्तिसंगीताकरनामधेयपार्श्व-
देव विरचिते संगीतसमयसारे पञ्चमाधिकरणम् ।

राजाओं के गजारोहण इत्यादि के समय तत्काल रचित नृपवर्णन 'समय' कहलाता है। दूसरो के द्वारा गाये हुए गीत को अन्य स्थान, राग और ताल में दूसरे ढंग से गाना 'परिवर्तन' है ॥२२०-२२१॥

रीतियाँ छ कही गई है, उनका वर्णन करूँगा ।

चोक्षगायनरीति, योगिरीति, मलिनगायनरीति, नारियो की रीति, कही पेरणरीति और कही कथकरीति होती है ॥२२३॥

श्रीमद् अभयचन्द्र मुनीन्द्र के चरण कमलो मे मधुकर वत् आचरण करने वाले मस्तक से युक्त महादेव आर्य के शिष्य, स्वर-विद्या से युक्त, सम्यक्त्वचूडामणि, भरत भाण्डीकभाषाप्रवीण, श्रुतिज्ञानचक्रवर्ती संगीताकर नाम वाले पार्श्वदेव द्वारा विरचित संगीतसमयसार का पंचम अधिकरण पूर्ण हुआ ।

---

१. (क) गजश्वारोहणादि ।
२. (क) वर्णनीम् ।
३. (क) रूपके स्थानके ।
४. (क) उक्तगायनरीतिश्च ।

षष्ठमधिकरणम्

अथ गीतानुगामित्वाद वाद्यमत्र प्रवर्ण्यते[1] ।
उद्देशक्रमतः किञ्चित्[2] सर्वलोकानुरञ्जनम् ॥१॥

चतुर्विधवाद्यम्—

ततं ततोऽवनद्धञ्च घनञ्च सुषिरं तथा ।
चतुर्विधमिदं प्राहुरातोद्यं वाद्यवेदिनः ॥२॥
ततं तन्त्रीगतं ज्ञेयमवनद्धं तु पौष्करम् ।
कांस्यं घनमिति प्रोक्तं सुषिरं सुषिरात्मकम् ॥३॥
वीणा चालावणी चैव किन्नरी लघुपूर्विका ।
वृहत्किन्नरिका चैव शकनीत्यादिकं[3] ततम् ॥४॥
पटहश्च हुडुक्का च ढक्का च तदनन्तरम् ।
मृदङ्गः [4]करटेत्याद्यमवनद्धमुदाहृतम् ॥५॥

गीतानुगामी होने के कारण अब उद्देश-पूर्वक लोकानुरञ्जक वाद्य का कुछ वर्णन किया जाता है ॥१॥

वाद्यज्ञों ने चतुर्विध वाद्य, 'तत', 'अवनद्ध', घन और 'सुषिर' कहा है ॥२॥

तन्त्रीयुक्त 'तत', पुष्करवाद्य 'अवनद्ध', कांसे का बना हुआ 'घन' और छिद्रयुक्त वाद्य 'सुषिर' कहलाता है ॥३॥

वीणा, अलावणी, लघुकिन्नरी, बृहत्किन्नरी, शकनी (!) इत्यादि 'तत' हैं ॥४॥

पटह, हुडुक्का, ढक्का, मृदङ्ग, करटा इत्यादि 'अवनद्ध' हैं ॥५॥

---

१. (क) प्रवर्तते । २. (क) किञ्च । ३. (क) चकन्नित्यादिक ।
४. (क) करडीताद्या ।

तालश्च कांस्यतालश्च घण्टिका क्षुद्रपूर्विका ।
पट्टश्च शुक्तिरित्याद्यं घनवाद्यमुदाहृतम् ॥६॥

वंशश्च[1] महुरी चैव शङ्खः शृङ्गस्तथैव च ।
इत्याद्यनेकधा प्रोक्तं सुषिरं वाद्यवेदिभिः ॥७॥

एकहस्तेन हस्ताभ्यां कोणेनाङ्गुलिभिस्तथा ।
नाना प्रकारैः फूत्कारैः श्रुतिसौख्यविधायिभिः ॥८॥

वहुप्रकारमेव स्याद् वादनं लोकरञ्जनम् ।

पञ्चधा वादनभेदा —

तत्सर्वं पञ्चधा भूयः शुष्कं गीतानुगं तथा ॥९॥

नृत्यस्य[2] चानुयायिस्यादुभयानुगमोत्यपि ।
तन्त्र्याश्चानुगतं प्रोक्तं वाद्यविद्याविशारदैः ॥१०॥

विना गीतविना[3] नृत्तं वाद्यं शुष्कमुदाहृतम् ।
अन्वर्थसञ्ज्ञया ज्ञेयं शिष्टं वाद्यचतुष्टयम् ॥११॥

ताल, कास्यताल, क्षुद्रघण्टिका, पट्ट और शुक्ति इत्यादि घनवाद्य है ॥६॥

वंश, महुरी, शङ्ख, शृङ्ग इत्यादि अनेक सुषिरवाद्य है ॥७॥

एक हाथ से, दोनों हाथो से, कोण से, हाथ की अँगुलियों से तथा सुखदायक फूँको मे इन वाद्यो का लोकरञ्जक वादन होता है।

वाद्यविद्याविशारदों ने पाँच प्रकार का वाद्य, 'शुष्क', 'गीतानुग', 'नृत्यानुग', 'गीतनृत्यानुग' और 'तन्त्र्यनुग' कहा है ॥८-१०॥

गीतनृत्तरहित वाद्य 'शुष्क' है, अवशिष्ट चारों वाद्य अन्वर्थ है ॥११॥

---

१. (क) मुहुरीक्ष्यैता ।

२. (क) स्मृत्यस्य । ३. (क) नृत्यं ।

अन्यभेदहेतव :—

क्रियाभेदाद् वाद्यभेदात्तथैव[1] व्याप्तिभेदतः।
वीणाभेदाद् भवन्त्यन्ये तंत्रीसंख्यावशादपि ॥१२॥
भजते सर्ववीणानामेकतन्त्री प्रधानताम्।

दशविधवीणावाद्यम्* —

छन्दो[2] धारा कैंकुटी च कङ्कालो वस्तुतूर्णकौ[3]।
गजलीलाभिधानञ्च [4]तथैवोपरिवादनम्।
दण्डकञ्च तथा ज्ञेयं वाद्यं पक्षिरुताभिधम् ॥१४॥
एतद्दशविधं[5] नाम्ना वीणावाद्यं समीरितम्।
खसितेन[6] समायुक्तो बहुधा स्फुरितः करः ॥१५॥
सस्पृष्टतारं छन्दाख्यो यत्या च समलङ्कृतः।
उत्क्षेपः परिवर्तश्च ताभ्यां स्याद्यत्र कर्तरी ॥१६॥
रेफेण सहिता[7] तद्वदुल्लेखो रेफसयुतः।
एव समुदित प्राहुर्धाराख्य [8]वादनं बुधाः ॥१७॥
सुखेन स्फुरितेनापि निर्घोषेण च पाणिना।
सयुक्तं चार्धकर्तर्या कैंकुटीवादनं विदु. ॥१८॥

क्रियाभेद, वाद्यभेद, व्याप्तिभेद, वीणाभेद और तंत्रीसंख्याभेद के कारण अन्य प्रकार भी होते है ॥१२॥

समस्त वीणाओ मे 'एकतत्री' प्रमुख है।

छन्द, धारा, कैंकुटी, कङ्काल, वस्तु, तूर्णक, गजलील, उपरिवादन, दण्डक तथा पक्षिरुत ये दशविध वीणा वाद्य है।

'खसित' से युक्त, जिसमें हाथ बहुधा स्फुरित हो, तार स्थान का स्पर्श हो रहा हो और जो यति से अलङ्कृत हो वह 'छन्द' है।

जहाँ उत्क्षेप और परिवर्त से युक्त रेफसहित कर्तरी हो और उल्लेख भी रेफयुक्त हो, उसे बुद्धिमानो ने 'धारा' (दूसरा नाम 'दारा')

---

१. (क) बध्यभेदात्। २. (क) दोरंक कुटज। ३. (क) तूर्णक.। ४ (क) तथोवो।
५ (क) एवद्दशमिद। ६. (क) स्वस्तिकेन। ७. (क) तद्वा। ८. (क) द्वाराख्य।
* दशविधवीणावाद्यलक्षणानि भरतकोषोद्धृतपाठानुसार संशोधितानि।

कर्तरीत्रयसंयुक्तं स्फुरितैं मूर्च्छितैर्युतम् ।
कङ्कालनामकं वाद्यं प्राहुर्वैणिककोविदाः ॥१९॥
कर्तर्या खसितेनापि कुहरेण परिस्फुटम् ।
तारः सस्पृश्यते यत्र तद्वाद्यं वस्तुसञ्ज्ञकम् ॥२०॥
कर्तरीखसिताभ्यां यत् कुहरेण च सङ्गतम् ।
[1]निर्घोषरेफगमकैस्तूर्णं तत्करणं विदु. ॥२१॥
कर्तया खसितेनापि मूर्च्छितैं.[2] स्फुरितैः करै ।
विरच्यते तु यद्वाद्यं गजलीलमितीरितम् ॥२२॥
अधस्तादुपरिष्टाच्च यत्र[3] पात. करस्य च ।
रेफकर्तरिनिष्कोटैस्तलेनोपरिवाद्यकम् ॥२३॥
निक्षिप्तपरिवर्ताभ्या[4] कर्तया च सरेफया ।
मानेन खसितेनापि मण्डितं[5] दण्डक विदु ॥२४॥

वाद्य कहा है स्फुरित और निर्घोष—तथा अर्धकर्तरी से युक्त हाथ से किया जाने वाला वाद्य कैंकुटी है ॥१३-१८॥

वैणिकों ने कहा है कि मूर्छित नामक स्फुरितो और तीनो कर्तरियों से युक्त वाद्य 'कङ्काल' हैं ॥१९॥

कर्तरी, खसित तथा कुहर के द्वारा जहाँ तार स्थान का स्पष्ट स्पर्श होता है, वह 'वस्तु' वाद्य है ॥२०॥

निर्घोष और रेफ गमको के द्वारा 'तूर्ण' करण होता है, जो कर्तरी, खसित और कुहर से सङ्गत हो ॥२१॥

कर्तरी, खसित तथा मूर्च्छित स्फुरित करो से युक्त वाद्य 'गजलील' होता है ॥२२॥

जहाँ रेफ, कर्तरी और निष्कोट के द्वारा, ऊपर नीचे गिरने वाले हस्त और हथेली के द्वारा वादन हो, वह उपरिवाद्य है ॥२३॥

---

१. (ख) भ्रमरैः । २. (ख) मूर्च्छितः । ३ (ख) यवयात करौ क्रमात् ।
४. (ख) तिक्षिप्य (क) विक्षिप्त । ५. (क) मन्दित ।

समस्त हस्तसंयोगाद् वाद्यं पक्षिरुतं मतम् ।
इत्युक्तं दशधा वाद्यं गीतलक्षणवेदिभिः ॥२५॥
सकलं निष्कलञ्चेति वाद्यमेतद्द्विधा भवेत् ।
कथितं शङ्करेणेदमेकतंत्रीसमाश्रयम् ॥२६॥

शङ्करोक्तं द्विविधवाद्यम्—

तथा[1] जीवा विधातव्या लग्ना[2] नादे यथा भवेत् ।
यत्तया जीव्यते[3] नादस्तेन जोवेति सा मता ॥२७॥
तत्रिका पत्रिकाया[4] तु किञ्चिल्लगति नोऽथवा[5] ।
लग्ना सैव कला ज्ञेया वीणाप्रावीण्यशालिभिः ॥२८॥
तदुक्त सकलं वाद्यं यत्र स्थूलो भवेद् ध्वनिः ।
असस्पर्शेन[6] तर्जन्या दोरिकापत्रिकावधि ॥२९॥

निक्षिप्त तथा परिवर्त, रेफसहित कर्तरी से युक्त खसित से युक्त वाद्य 'दण्डक' होता है ॥२४॥

'पक्षिरुत' नामक वाद्य समस्त हस्तों के संयोग से होता है। इस प्रकार गीतलक्षणज्ञो ने दशविध वाद्य कहा है ॥२५॥

शङ्करोक्त एकतत्री वाद्य दो प्रकार का होता है, 'सकल' और 'निष्कल' ॥२६॥

ऐसी जीवा बनाना चाहिये, जिसके लगने पर नाद हो, उसे जीवा इसलिये कहा जाता है कि वह नाद को जीवन देती है ॥२७॥

जबकि तंत्री पत्रिका पर कुछ लगती है और कुछ नही लगती, तब लग्ना जीवा 'कला' कहलाती है ॥२८॥

दोरिका तक पत्रिका जब तर्जनी से असंस्पृष्ट हो और ध्वनि स्थूल हो, तो 'सकल' वाद्य कहलाता है ॥२९॥

---

१. (क) जवा। २ (क) लग्नादेव। ३. (क) जीयते।
४. (क) पुत्रिकाया। ५. (क) वाथवा। ६. (क) असंस्पर्शिनि।

सार्य्यते कम्रिका[1] यत्र सकलं तदपि च स्मृतम् ।
विन्दोरुदय[2] सिद्ध्यर्थ जीवाहीना विधीयते ॥३०॥
निषादस्वरतोऽधस्वात् कम्रिका नैव सर्पति ।
यत्र स्यात्तर्जनीस्पर्शो[3] निष्कलं तन्निगद्यते ॥३१॥

त्रिविधैकतंत्रीसारणा—

सन्निविष्टा तथोत्क्षिप्ता[4] तृतीया चोभयात्मिका ।
सङ्गं तन्त्र्याः परित्यज्य ससर्पेद्यत्र सारणा ॥३२॥
सन्निविष्टाभिधाना सा सारणा कथिता बुधैः ।
स्पर्शं स्पर्शं समुत्सृज्य तंत्रीमुत्प्लुत्य[5] सारणम् ॥३३॥
यत्रापि[6] सोदितोक्षिप्ता निष्कले सकलेऽथवा ।
भवेत्कुत्रचिदुत्क्षिप्ता संस्पृष्टा कुत्रचिद् भवेत् ॥३४॥
इति [7]क्रियाद्वयोर्योगात्सारणा सोभयात्मिका ।
सारणा त्रिःप्रकारेयमेकतंत्रीसमाश्रिता ॥३५॥

(दोरिका से पत्रिका तक अंगुली के असस्पर्श से) जहा कम्रिका का सारण होता है, वह भी निष्कल कहलाता है । बिन्दु के उदय की सिद्धि के लिए हीन जीवा बनाई जाती है ॥३०॥

निषाद स्वर के नीचे कम्रिका नही सरकती, जहाँ तर्जनी का स्पर्श हो, वह 'निष्कल' वाद्य है ॥३१॥

सन्निविष्टा, उत्क्षिप्ता और उभयात्मिका (ये तीन प्रकार की सारणाएँ है) । तंत्री का सङ्ग छोडकर सारणा जहाँ सरकती है, वह बुद्धिमानों ने 'संस्पृष्टा' सारणा बताई है ।

जहाँ फुदक कर तंत्री का स्पर्श कर करके और छोड कर, सकल या निष्कल वाद्य मे, सारणा हो वह उत्क्षिप्ता कही गई है । जहाँ कही उत्क्षिप्ता कही संस्पृष्टा हो, वह 'उभयात्मिका' सारणा है । इस प्रकार एकतंत्रीसमाश्रित ये तीन सारणाएँ है ॥३२-३५॥

---

१. (ख) तत्रिका । २. (क) बिम्बादुदय । ३. (क) स्पर्शान् ।
४. (क) क्षिप्ता । ५. (क) मुत्पत्य । ६. (क) यद्यापि । ७. (क) श्रयादयो ।

अन्यासामपि[1] वीणानां यथौचित्येन सारणा ।

हस्ते व्यापारभेदाः —

घातः पातश्च संलेख उल्लेखश्चावलेखकः ॥३६॥
छिन्नस्सन्धितसंज्ञश्च भ्रमरश्चेति दक्षिणे ।
हस्ते व्यापारभेदाः स्युर्वामे स्फुरितघर्षणे ॥३७॥
मध्यमाक्रान्ततर्जन्या [2]यदा तंत्री निहन्यते ।
ततो घातो भवेत्पातस्तर्जन्येवैकया पुनः ॥३८॥
तर्जन्यन्तरघातस्तु संलेखस्समुदाहृतः ।
मध्यमान्तरघातस्तु भवेदुल्लेखसंज्ञकः ॥३९॥
मध्यमाबाह्यघातोऽसाववलेख इति स्मृतः ।
तर्जनीपार्श्वसलग्ना हतानामिकया बहिः ॥४०॥
तंत्री यदा तदा ज्ञेया घातश्छिन्नभिधानवान् ।
मध्यमानामिकाभ्यां तु बहिस्तंत्री यदा हता ॥४१॥

अन्य वीणाओं की सारणाएँ भी औचित्य के अनुसार होती है ।

घात, पात, संलेख, उल्लेख, अवलेख, छिन्न, सन्धित और भ्रमर ये दाहिने हाथ में तथा स्फुरित और घर्षण बायें हाथ में व्यापारभेद है ॥३६, ३७॥

जहाँ मध्यमा से आक्रान्त तर्जनी से तंत्री का हनन हो वहाँ 'घात' और केवल तर्जनी के द्वारा हनन 'पात' होता है ॥३८॥

तर्जनी के द्वारा अन्तरघात 'संलेख' और मध्यमा के द्वारा 'उल्लेख' कहलाता है ॥३९॥

मध्यमा के द्वारा बाह्यघात 'अवलेख' कहलाता है ।

तर्जनी के पार्श्व से सलग्न तंत्री पर जब अनामिका द्वारा बहिर्घात होता है, तब 'छिन्न' कहलाता है ।

मध्यमा और अनामिका के द्वारा तंत्री पर होने वाला बहिर्घात 'सन्धित' कहा गया है । चारों अँगुलियों से द्रुत अन्तरघात 'भ्रमर' है ।

---

१. (क) अन्यानामपि । २. (क) यान्त ।

तदा विचक्षणैरुक्तो घातोऽसौ सन्धिताह्वयः[1] ।
अङ्गुलीभिश्चतसृभिरन्तराहननं द्रुतम् ॥४२॥
यदा विरच्यते घातस्तदा भ्रमरको भवेत् ।
तंत्रीपृष्ठे तु संलग्ना वेपते[2] यत्र सारणा ॥४३॥
ख्यातः स्फुरितसञ्ज्ञोऽसौ घर्षणात्खसितः [3]पुनः ।
अङ्गुलीभिश्चतसृभिः प्रत्येक हस्तयोर्द्वयोः ॥४४॥

उभयहस्तव्यापारा :—

बहिर्या हन्यते[4] तन्त्री द्रुत सा कर्तरीमता ।
चतुर्भिर्नखरैः[5] युक्तै दक्षिणेनैव पाणिना ॥४५॥
आहतिः[6] क्रियते या तु सा ज्ञेया नखकर्तरी ।
कर्तरीसदृशः पाणिर्दृश्यते[7] यत्र दक्षिणः ॥४६॥
तथा कोणाहतिर्वामपाणिना सार्धकर्तरी ।
घातोऽनामिकयास्त्वन्तः सव्यमध्यमया बहिः ॥४७॥

जहाँ तंत्रीपृष्ठ से सलग्न सारणा कम्पित होती है, वह 'स्फुरित' है, घर्षण से 'खसित' होता है ॥४३॥

दोनो हाथो मे से प्रत्येक की चारो अँगुलियो से जब द्रुत गति मे तंत्री का बहिर्घात होता है, तब 'कर्तरी' होती है ।

जब दाहिने हाथ के द्वारा चारो नखो से आघात हो, तो वह 'नख-कर्तरी' है ।

जब दाहिना हाथ कर्तरी की भाँति हो और बायें हाथ से कोण का आघात हो, तो 'अर्धकर्तरी' है ॥४७॥

जब अनामिका के द्वारा अन्तर्घात हो, बायें हाथ की मध्यमा से बहिर्घात, तो वीणावादन मे यह 'रेफ' कहलाता है ।

---

१. (क) सन्धिका । २. (क) वृपते । ३ (क) ग्रसित । ४. च्छन्यते ।
५. (क), (ख) यत्तु । ६. (क) आहतः । ७. (क) सदृशे ।

तदासौ[1] रेफनामा स्याद् वीणावादनकर्मणि ।
सारणायाः[2] परित्यागे तर्जन्या यदि हन्यते ॥४८॥

तंत्रीनादस्सद्भूतो [3]नाम्ना निष्कोटितस्तदा[4] ।
तर्जन्याद्यं कनिष्ठाद्यं द्विरूप परिवर्तनम् ॥४९॥

तयोः पार्श्वेन संस्पर्शाद् भ्रमणे रेचिते करे ।
यदा[5] द्रुत स्वरस्थाने[6] कम्रिकाभ्येति सारिता ॥५०॥

करः स मूर्च्छनाभिख्यो वैणिकैरभिधीयते ।
साङ्गुष्ठाः[7] कुञ्चिताः[8] किञ्चित् चतस्रोऽङ्गुलयो यदा ॥५१॥

कनिष्ठाङ्गुष्ठयोः स्पर्शात् कथितः कुहरः करः ।
[9]अङ्गुष्ठपार्श्वमिलिता कर्तरी च प्रहन्यते ॥५२॥

कनिष्ठासारणाभ्या च तदा निर्घोष उच्यते[10] ।
उत्क्षिप्य हन्यते तत्री शीघ्रं सारणया यदि ॥५३॥

जब सारणा के परित्याग में तर्जनी के द्वारा धात किया जाता है, तब उत्पन्न तत्रीनाद 'निष्कोटित' कहलाता है। 'परिवर्तन' दो प्रकार का है 'तर्जन्याद्य' और 'कनिष्ठाद्य' ॥४९॥

पार्श्व के द्वारा उन दोनों के स्पर्श से भ्रमण होने और कर के रेचित होने पर जब द्रुत गति से कम्रिका स्वरस्थान पर पहुँचती है, तो यह करव्यापार 'मूर्च्छना' कहलाता है।

जब चारों अँगुलियाँ और अँगूठा कुछ सिकुड़े हो, तब कनिष्ठा और अंगुष्ठ के स्पर्श से 'कुहर' हस्त होता है ॥५२॥

कनिष्ठा और सारणा से जब अगुष्ठ के पार्श्व से मिली हुई कर्तरी का हनन होता है, तब निर्घोष कहलाता है ॥५३॥

---

१. (क) सारिच । २ (क) सारिणा पपरित्यागे । ३. (क) नादस्तदुद्भूतो ।
४. (क) निष्टोदित । ५. (क) यदादृश स्वस्थाने । ६. (क) कमिकारव्येन सा मता ।
७. (क) साङ्गुष्ठः । ८. (क) कञ्चितः । ९. (क) आङ्गुष्ठ । १०. (क) मुच्यते ।

दक्षिणे कर्तरी युक्ता तदा स्खलितको[1] भवेत् ।
तर्जन्यङ्गुष्ठयोरग्रभागमात्रेण[2] घर्षणम् ॥५४॥
तन्त्र्या यदा[3] तदा ज्ञेयः शुकवक्त्राभिधः करः ।
तर्जन्या धार्य्यते[4] नादो घातोऽनामिकया बहिः[5] ॥५५॥
[6]यदा तदा परिज्ञेयो बिन्दुर्नाम्ना[7] विचक्षणैः ।

वरो वैणिक :—

जितेन्द्रियः प्रगल्भश्च स्थिरासनपरिग्रहः[8] ॥५६॥
शरीरसौष्ठवोपेतः करयोर्विजितश्रमः ।
सुशारीरो भयत्यक्तो[9] रागरागाङ्गतत्त्ववित् ॥५७॥
[10]गीतवादनदक्षश्च वैणिकः[11] कथितो वरः ।

(इत्येकतंत्रीवीणावादनलक्षणम्)

आलावणीवादनम्—

वाद्यं लावणिका तज्ज्ञैर्निष्कलक्रमयोगतः ॥५८॥
मन्द्रे मध्ये च तारे च बिन्दुः स्यात् स्थानकत्रये ॥
आलावण्या विधातव्यो मुक्तको[12] मध्यमः स्वरः ॥५९॥

दाहिने हाथ मे कर्तरी से युक्त तंत्री का जब उत्क्षेपपूर्वक सारणा के द्वारा हनन किया जाता है, तब 'स्खलितक' होता है। जब तर्जनी और अंगुष्ठ के अग्रभाग से तंत्री का घर्षण होता है, तब 'शुकवक्त्र' हस्त होता है। जब तर्जनी के द्वारा नाद का धारण हो और अनामिका के द्वारा बहिर्घात हो तब 'बिन्दु' होता है।

जितेन्द्रिय, प्रगल्भ, स्थिर आसन और परिग्रह से युक्त, शरीर सौष्ठवसम्पन्न, हाथो के द्वारा श्रमजयी, सुशारीर, निर्भय, राग-रागाङ्ग का तत्वज्ञ तथा गीतवादन मे दक्ष वैणिक श्रेष्ठ है ॥५७॥

(एक तंत्री वीणा वादन लक्षण सम्पन्न हुआ)

निष्कल क्रम के योग से विशेपज्ञों द्वारा आलावणीवादन होता है।

---

१. छ्वसितको (ख) स्वसितको। २ (क) रत्र। ३ (क) यवा। ४. (क) वार्यते। ५. (क) विधि। ६. (क) परातरा। ७. (क) विदु। ८. (क) परूपमः। ९. (क) भव। १० (क) वादक नृत्यैश्च। ११ (क) वैदिक.। १२. (क) मुक्तपराक्षरं संयुक्तम्।

वामहस्तस्य तर्जन्या जायते पञ्चमः स्वरः ।
धैवतो मध्यमाङ्गुल्या निषादः स्यात् कनिष्ठया ॥६०॥
ततस्तु[1] मुक्तकः कार्य्यः स्वरः षड्जाभिधानवान् ।
ऋषभः पञ्चमस्थाने तर्जन्या तदनन्तरम् ॥६१॥
गान्धारो धैवतस्थाने मध्यमाङ्गुलिको भवेत् ।
अथ दक्षिणहस्तेन सारणा मूर्च्छना क्रमात् ॥६२॥
गम्यते[2] सप्तकद्वन्द्वमारोहिण्यवरोहिणि ।
स्वराणां नियमाद्रागेष्वङ्गुलीनियमो नहि ॥६३॥

अन्या वीणाः—

द्वितुम्बी किन्नरी लघ्वी बृहती तु त्रितुम्बिका ।
कथिता पञ्चतंत्रीतिच्छकिनी वाद्यवेदिभिः ॥६४॥
तत्तद्यन्त्रवशादासां[3] वाद्यभेदस्त्वनेकधा ।
ततवाद्यमिति प्रोक्तमवनद्धमथोच्यते[4] ॥६५॥

(इति ततवाद्यम्)

उसके मन्द्र, मध्य एवं तार इन तीन साधनो में बिन्दु' होता है। आलावणी मे मध्यम मुक्त रखना चाहिये। बायें हाथ की तर्जनी से पञ्चम, मध्यमाङ्गुलि से धैवत, कनिष्ठा से निषाद तत्पश्चात् षड्ज नामक स्वर मुक्त होता है। तत्पश्चात् तर्जनी से पञ्चम के स्थान पर ऋषभ होता है ॥६१॥

धैवत के स्थान पर मध्यमा अङ्गुली से गान्धार होता है। मूर्च्छना-क्रम से दाहिने हाथ के द्वारा सारणा होती है तथा आरोह एवं अवरोह में नियमपूर्वक दो सप्तको की प्राप्ति होती है ॥६२, ६३॥

स्वरों क नियम के अनुसार रागों मे अङ्गुली-नियम नही है।

'द्वितुम्बी लघुकिन्नरी होती है, वृहती किन्नरी त्रितुम्बिका होती है तथा वाद्य के विशेषज्ञों ने शकिनी पचतन्त्री बताई है ॥६४॥ वाद्यों को यंत्र (बनावट) भेद से बजाने का ढङ्ग अनेक प्रकार का है। इस प्रकार ततवाद्य का वर्णन कर दिया, अब अवनद्ध कहा जाता है ॥६५॥

(ततवाद्य समाप्त हुआ)

---

१. (क) ततफ्सुमुक्तक. । २. (क) वाद्यस्य । ३. (क) वशासाम्ता । ४. (क) अवनथ ।

पटहवर्णाः—

> झेङ्कारमुद्दलीजातं[1] देङ्कारङ्कवलोद्भवम् ।
> प्राहुरेवं विभागेन वाद्यविद्याविशारदाः ॥६६॥
> कवर्गश्च तवर्गश्च टवर्गश्च ढवर्जितः[2] ।
> भवेयु. पटहे वर्णा रहाभ्यां सह षोडश ॥६७॥

हुडुक्कावर्णाः—

> वादनाय हुडुक्कायामक्षराणि प्रचक्ष्महे ।
> तवर्गश्च टवर्गश्च[3] रहाभ्यां सहितावुभौ ॥६८॥
> कवर्गः पंचमन्यूनःप्रोक्तान्येतानि षोडश ।
> झेङ्कारस्य हुडुक्कायां सञ्चो[4] मुख्यः प्रकीर्तितः ॥६९॥
> ढक्कावर्णादिक सर्वं हुडक्कासममिष्यते ।
> वादनाय ततो वाद्य वस्तूना कथ्यतेऽधुना ॥७०॥
> हस्तलक्षणमेतेषां व्यक्तोदाहरणैः सह ।

अष्टधा हस्ता—

> उत्फुल्लः खलकश्चैव[5] पाण्यन्तरनिकुट्टक. ॥७१॥

पटह की बाईं पुडी मे 'झङ्कार' और दाईं पुडी मे 'देङ्कार' की उत्पत्ति होती है। वाद्यज्ञो ने विभागपूर्वक इस प्रकार कहा है कि पटह में कवर्ग, तवर्ग, ढकाररहित टवर्ग तथा रेफ और हकार ये सोलह वर्ण होते है ॥६६, ६७॥

अब हुडुक्का में बजाने के लिए अक्षर कहते है। तवर्ग, टवर्ग, ङकार रहित कवर्ग, रेफ और हकार ये सोलह वर्ण हुडुक्का मे है। हुडुक्का में झेङ्कार का सञ्च मुख्य है ॥६९॥

ढक्का आदि वाद्यो मे भी हुडुक्का के समान ही समस्त वर्ण हैं। अब वस्तुओं के वादन के लिए 'बाज' और स्पष्ट उदाहरणों सहित इनका हस्तलक्षण कहा जाता है।

उत्फुल्ल, खलक, पाव्यन्तर निकुट्टक, दण्डहस्त, युगहस्त, स्थूल-

---

१. (क) मुदली। २ (क) झकारतबलोद्भवम्। ३. (क) डवर्जित। ४. (क) दिवर्गश्च
५. पञ्चमुख्य प्रकीर्तित। ६. (क) चलकश्चैत। ७. (क) निगूहकः।

दण्डहस्तोऽथ युग्मः स्यात्[1] [2]स्थूलहस्तस्ततः परम् ।
पिण्डहस्तः स्मृतश्चोर्ध्वहस्तः इत्यष्टधा बुधैः ॥७२॥

अष्टविधहस्तलक्षणम्—

अथैतेषां प्रवक्ष्यामि लक्षणञ्च प्रयोगतः ।
हस्तेभ्यः शब्दनिष्पत्तिर्जायते हि परिस्फुटम् ॥७३॥
शब्देभ्यः पदनिष्पत्तिः पदेभ्य. पाटसम्भवः ।
पाटेभ्यो जायते वाद्यं वस्तुवर्गो यथाक्रमम् ॥७४॥
ये पताकादयो हस्ताः **नाट्यशास्त्रे** व्यवस्थिताः ।
तेषु केचन कथ्यन्ते हस्तवाद्योपयोगिनः ॥७५॥

उत्फुल्ल :—

अलपद्माह्वयो[3] हस्तो यदा वाद्य[4] निवेश्यते ।
लघुपाटे[5] नखाघातादुत्फुल्लोऽसौ तदा भवेत् ॥७६॥
यथा[6] 'कग्रोम् कग्रोम्' (कह्ले इति शार्ङ्गदेवः)*

खलक :—

यदा प्रसारिताङ्गुष्ठ. शुकतुण्डो विधीयते ।
विरलाङ्गुलिघातेन क्रमेण खलकस्तदा ॥७७॥

हस्त, पिण्डहस्त और ऊर्ध्वहस्त ये आठ प्रकार के हस्त हैं ॥७०-७२॥

अब प्रयोगपूर्वक इनके लक्षण कहूंगा । हस्तो से स्पष्टतया शब्द की निष्पत्ति होती है शब्दो से 'पद', पदो से 'पाट' और पाटों से क्रमशः वस्तु वर्ग उत्पन्न होता है । नाट्यशास्त्र में जो पताका इत्यादि हस्त व्यस्थित हैं, उनमें से वाद्योपयोगी कुछ कहे जा रहे है ॥७३-७५॥

लघुपाट में नखाघात से जब अलपद्म नामक हस्त का घात होता है, तो 'उत्फुल्ल' होता है .—जैसे 'कग्रोम्' ॥७६॥

जब अँगूठा फैला हुआ होने के कारण शुकतुण्ड हो, तो उसकी छिदरी अँगुलियों के आघात से 'खलक' होता है । जैसे 'थोंकिटकिट तकिटाम्' ॥७७॥

---

१. (क) स्य । २ (क) तोरहस्त । ३. (क) अहपद्मा । ४ (क) वद्यं ।
५. (क) लघुपाठेन चाघात् । ६. (क) ह्रोंकहें ।
*शार्ङ्गदेवोद्धरणानि न मूलस्थानि ।

यथा[1]-थोंकिटकिट तकिटाम्' (दांगिडगिड्दगिदां इति शार्ङ्गदेवः)

पाण्यन्तरनिकुट्टक :—

वामेतरस्य हस्तस्य तर्जन्यङ्गुष्ठघाततः ।
परिज्ञेयोर्बुधैर्हस्तः पाण्यन्तरनिकुट्टकः ॥७८॥
यथा—डेंकिट तकिट ढकिटतकिटात्व[2] ।
(दगिडदाँ खरिक्क खरिक्क दाँ दां खरिखरिदाँ गिडदाँ इति शार्ङ्गदेवः)

दण्डहस्त —

पताकाकारहस्ताभ्यामुभाभ्यामूर्ध्वताडनात्[3] ।
दण्डहस्ताभिध हस्त विदुर्वाद्यविशारदाः ॥७९॥
—यथा-था[4]था था था (दातरिकिटदा खरिखरिदां, इति शार्ङ्गदेवः)

युगहस्तः—

विरलाङ्गुलिघातेन पताकाभ्यां यदा भवेत् ।
रेफैरेवोर्ध्वहस्ताभ्या ताडनाद् युगहस्तकः[5] ॥८०॥
यथा[6]र र र र् (द्रे द्रें दा दा इति शार्ङ्गदेवः)

स्थूलहस्तः—

ऊर्ध्वघातद्वयं[5] कृत्वा तालहस्तेन[6] हन्यते ।
पटहस्य पुटद्वन्द्व [7]स्थूलहस्तस्तदा भवेत् ॥८१॥

दाहिने हाथ की अगुली और अंगूठे के घात से पाण्यन्तरनिकुट्टक हस्त होता है जैसे—डेंकिट, तकिट टकिट तकिट, त ।

दोनो पताकाकार हस्तों के द्वारा ऊर्ध्वताडन से 'दण्डहस्त' वाद्य वाद्यज्ञो ने बताया है । जैसे 'था था था था' ॥७९॥

(दा तरिकिट दा, खरिखरि दा-यह शार्ङ्गदेव के अनुसार)

दोनों पताकाकार हस्तो के द्वारा छिदरी अँगुलियो के आघात और ऊर्ध्व हस्तो के रेफ से 'युगहस्त' होता है, जैसे—'र र र र'। (शार्ङ्गदेव के अनुसार द्रे द्रें दा दा)

जब दो ऊर्ध्वघात करके हथेली से पटह की दोनों पुड़ियो पर आघात किया जाता है, तब 'स्थूलहस्त' होता है। जैसे—देन्दें दोहड़ें ॥ (शार्ङ्गदेव के अनुसार खुखुद खुखुद ताल) ॥८०, ८१॥

---

१. (क) दाँगिडगिदगिमदाँ । २ (क) टकिट ककिट ककिटत, । ३. (क) उखाम्या । ४. (क) थर-थर-थर । ५. (क) ज । ६. (क) •रररररररर । . (क),(ख) पात । ६. (क) कृत्व पातेन । ७ (क) थोरहस्त,(ख) तोरहस्त । ऊर्ध्वघातद्वय कृत्वा तल हस्तेन हन्यते । यदा वाद्यपुटद्वन्द्व स्थूलहस्तस्तदोदित , इति शार्ङ्गदेवः ।

यथा—देन्दें दोहड़ें (खुखुंद खुंखुंद इति शार्ङ्गदेवः)

पिण्डहस्त :—

रेफहस्ते कृते पूर्वमूर्ध्वहस्ते च कल्पिते[1] ।
पिण्डहस्ताभिधो[2] हस्तः कथितो वाद्यवेदिभिः ॥८२॥
यथा-तरकिट तरकिट भें भें। (थरिकट भें थरिकट भें—
इति शार्ङ्गदेवः)

ऊर्ध्वहस्तः—

प्रहारे[3] तलहस्तेन दक्षिणेन च पाणिना ।
दृढं विरचितं विद्यादूर्ध्वहस्त विचक्षण ॥८३॥
यथा-थर्[4] थर् तु थर् थर् तु थर् तु थर् तु थर् थर्
तु थर् तु थर् तु थर् थर् थतु (दगिड दाँ दा इति शार्ङ्गदेव.)
(इत्यष्टधा हस्तलक्षणम्)

दशधा हस्तापाटा :—

प्रथम कर्तरी ज्ञेयो द्वितीयस्समकर्तरी ।
तृतीयो विषमश्चैव चतुर्थस्समपाणिक ॥८४॥

रेफहस्त करने के पश्चात् ऊर्ध्वहस्त कल्पित करने पर वाद्यज्ञों ने 'पिण्डहस्त' कहा है ॥ जैसे, तरकिट तरकिट भें भें'। शार्ङ्गदेव के अनुसार

दाहिने हाथ के द्वारा हथेली का दृढ प्रहार करने से 'ऊर्ध्व हस्त' होता है। जैसे—"थर् थर् तु थर् तु थर् तु थर् थर् तु थर् तु थर् तुथर् थर् थ तु। (शार्ङ्गदेव के अनुसार दगिडदाँदाँ) ॥८३॥

(ये आठ प्रकार का हस्त लक्षण हुआ)

दाहिने हाथ की अँगुली और अँगूठे के घात से पाण्यन्तरनिकुट्टक हस्त होता है। जैसे—डेकिट तकित ढाकिट तकित'।

पहला कर्तरी, दूसरी समकर्तरी, तीसरी विषमकर्तरी चौथा समपाणि, पाँचवाँ पाणिहस्त, छठा स्वस्तिक, सातवाँ विषमपाणि, आठवाँ अवघट, नवाँ नागबन्ध, दसवाँ समग्रह, इस प्रकार दस प्रकार के हस्तपाट बताये गये हैं। अब स्पष्ट उदाहरणो से युक्त उनके लक्षण कहूंगा।

१. (क) घि घि डी, घि घि तो हटे। २. (क) कल्यते।
३. (क) पिण्ड हास्ताभिधा हस्ता। ४. (क) प्रहोरर हस्तेन।
५. (क) दनकिट, दनकिट था।

पञ्चमः पाणिहस्तः स्यात्स्वस्तिकः षष्ठको भवेत् ।
सप्तमो विषमः पाणिः अष्टमोऽवघटः स्मृतः ।।८५।।
नवमो नागबन्धश्च दशमस्तु समग्रहः ।
इत्येवं हस्तपाटाश्च दशधैव प्रकीर्तिताः ।।८६।।
एतेषाँ लक्षण वक्ष्ये स्पष्टोदाहरणैर्युतम् ।

कर्तरी—

यत्रैकेनैव हस्तेन दक्षिणेनेतरेणवा ।।८७।।
पद्मकोशेन निष्पीड्याऽथ रेफै. शुद्धकर्तरी ।

यथा–थर् थर् थर् थर् थर् थर् थर् थर् । इत्यष्ट मात्रः कर्तरी पाटः ।

समकर्तरी*—

कर्तरीभ्यां समं घात कराभ्यां समकर्तरी ।।८८।।
झिकिट कनकिट किटझे थोदिगि (दतिरिटि तिरिटिकि
इति शार्ङ्गदेव)

विषय कर्तरी —

क्रमेण ताडनाद् द्वाभ्या भवेद्विषमकर्तरी ।
टिरि टिरि थो दिगिद टिरि टिरि किद (इति शार्ङ्गदेव)

समपाणि -

अङ्गुष्ठाङ्गुलिसङ्घातौ हस्तयोर्युगपद्यदा ।
पीडयेता पुटद्वन्द्व समपाणिस्तदा भवेत् ।।८९।।
यथा दा गिड दा दा (इति शार्ङ्गदेव)

पद्मकोश आकृति से युक्त बाये हाथ से निष्पीडन के पश्चात् रेफो के प्रयोग से कर्तरी होती है, जैसे "थर्थर्थर्थर् थर्थर्थर्थर्" (यह आठ मात्र का कर्तरी पाठ हुआ) ।

दोनो हाथो से एक ही समय कर्तरी घात 'समकर्तरी, है, जैसे — भिनकिट कनकिट किटझे थोदिगि दतिरटि तिरिटिक"

दोनोहाथो के द्वारा क्रमश ताडन से 'विषम कर्तरी' होती है, जैसे — टिरि टिरि थो दिगिद रिरि टिरि किद ।

जब दोनो हाथो मे अंगुष्ठ और अँगुलि के संघात से दोनों पुड़ियों का आघात किया जाये, तब 'समपाणि' होता है ।।७८-८९।।

---

* चिह्नितानि लक्षणानि विषय पूरणार्थं रत्नाकरादुद्धृतानि, आदर्शद्वयेऽपि खण्डित ग्रन्थत्वात् ।

पाणिहस्त :—

विरलाङ्गुलिभिर्यत्र रचितैः किरकिरेत्यपि ।
अभिघातः प्रयुक्तो यः पाणिहस्तोऽभिधीयते ॥९०॥
यथा-किटकिट्ट, किटकिट्ट, किट्टकिट, किटकिट्ट,
किटकिट्ट, किटकिट्ट (तरगिड दरगिड इति शार्ङ्गदेवः)

स्वस्तिक :—

थो थों थों नकिटेनापि कटतट्यासमन्वितः ।
एकत्र स्वस्तिकाकारकराभ्या स्वस्तिको भवेत् ॥९१॥

यथा थोनकिट किटतक, थोनकिटतक्किट, तक्किट तक्किट, थोनकिट थोनकिट, थो थों किटतक, थोनकिटकिटकिट, तकि थों थो किट, तत्थों थों थों, थोंकिटतकिथों, थोनकिटकिटतक, थोनकिटकिटतकि, थोनकिटकिटतकि, थोनकिटकिटतकि,

यत्र षोडश मात्राभिर्युक्तोऽयंस्वस्तिको[1] भवेत् ।

विषमपाणि —

अग्राङ्गुलिसमायोगात् व्यत्ययात्करयोरिह ॥९२॥
गिरुकिट्टभेन्नशब्दैश्च ततोगिनकिरादिभि ।
करटासयुतैः पाटैः हस्तो विषमपाणिकः ॥९३॥

जहाँ अँगुलियो को छिदरा रख कर किये हुए अभिघातो से 'किरकिर' इत्यादि बोल निकाले जाये, वहा पाणिहस्त' होता है, जैसे—किटकिट्ट, किटकिट्ट इत्यादि ॥९०॥

जहाँ 'थों थो थों नकिट, कट तटि' इत्यादि बोल हाथों को स्वस्ति— काकार करके निकाले जायें, वहाँ 'स्वस्तिक' होता है ॥९१॥

यह 'स्वस्तिक' सोलह मात्राओं से युक्त होता है। जैसे 'थोनकिटतक' इत्यादि।

गिरुकिट्टभेन्न तथा गिनकिर' इत्यादि करटावाद्य सम्बन्धी पाटों से युक्त पाट 'विषमपाणिक' होता है। जैसे 'गिरुकिटक, तगिन किरगिन, इत्यादि।

---

१. (क) स्वग्निको ।

यथा-गिरुकिटक, तगिनकिरगिन, तगिरुकिट, तनगिरुकिटत, तगिरुकिट तकिरुगिरुकिट, तकगिनत किरगिरुकि, रन नगिन, किरगिरुकिरन, नगि-गिरुकि, रननगिनकिर।

अवघट —

धरिकिटैगिरिकिटैरेभिः[1] शब्दैस्तैर्विषमग्रहात्।
भेदेनं[2] हस्तयोरेव पाठोऽवघटसञ्ज्ञकः ॥६४॥

यथा—धरकिट धरकिट, तकथों धरकिट, दिकिदिकि धरुकिट, किटधरु किटकिट, किटतकि धरिकिट, किटतकि धरिकिट, धिरुकिट धिरु-किट, दिरिकिटि दिकिदिकि।

नागबन्धपाट :—

आसज्येते करौ यत्र व्यत्ययात्पुटयोर्द्वयो.।
नागबन्धस्स विज्ञेयः शब्दैर्ननगिडादिभिः ॥६५॥

यथा-ननकिटकिटतक किटतकननगिड, ननगिडननगिड, ननगिड किटतक, ननकिटकिटतक, ननकिडकिटतकि, किटतक ननकिट, किटतकि ननगिट,

नागबन्धो भवेदष्टमात्राभिस्सयुक्तस्सदा।

समग्रह :—

आसज्येते समंयस्मात् करयोरुभयोस्तलौ ॥६६॥

'धरिकिट धरकिट' इत्यादि शब्दो के द्वारा, विषम ग्रह से, हाथों के ही भेद से 'अवघट' नामक पाट होता है। जैसे —धरकिट धरकिट इत्यादि।

जहाँ दोनों हाथ व्यत्यय (पलटने) से दोनो पुडियो पर रख जाते है, वहा 'ननगिड' इत्यादि बोलो से 'नागबन्ध' होता है। जैसे 'ननकिर किटतक' 'किटतक ननगिड' इत्यादि। नागबन्ध में सदैव आठ मात्राएं होती हैं ॥६५॥

---

१ (क) दुरुकिट।
२. सप्तयो।

साङ्गुष्ठाङ्गुलिभिर्हस्तपाटः स स्याद् समग्रहः ।
पाटोऽसावष्टमात्राभिः शब्दैर्दहतरीत्यपि ॥९७॥
पुनस्तकुकुरित्या च सयुतेऽसौ समग्रहः ।
(इति हस्तपाटाः)

पटहे द्वादशवाद्यानि—

वोल्लावणी चलावणी चारुश्रवणिका परम् ॥९८॥
परिश्रवणिकालग्नौ दण्डहस्तोडुवावपि ।
समप्रहारसज्ञश्च ततः कुडुवचारणा ॥९९॥
करचारणापि तद्वत् स्यात् तथाऽन्यापि कुचुम्बिनी ।
भवेद्घनरवश्चैवं वाद्योद्देशः प्रदर्शितः ॥१००॥

वोल्लावणी—

पाटादौ पाटमध्ये च पाटान्ते देङ्कृतिर्भवेत् ।
इत्येककरसम्पन्ना प्रोक्ता वोल्लावणी बुधैः ॥१०१॥
यथा-दे दे दे था थाँ थां दि दिं दि इति वोल्लावणि ।

चलावणी—

थों तत्तकिटशब्देन चोद्दलीचालना स्फुटम् ।
वोल्लावणी समं शेष सा मतेह चलावणी ॥१०२॥

जहाँ दोनो हाथों की हथेलियाँ अँगूठे सहित अँगुलियो के साथ साथ रखी जाती है, वह 'समग्रह' नामक हस्तपाट होता है, उसमें 'दहतरि' या 'तकुकुरि' इत्यादि बोल और आठ मात्राएँ होती है ।

(ये हस्तपाट हुए)

वोल्लावणी, चलावणी, चारुश्रवणिका, परिश्रवणिका, अलग्न, दण्ड हस्त, उडुव, समप्रहार, कुडुवचारणा, करचारणा, कुचुम्बिनी और घनरव ये वाद्योद्देश (पटह के बारह बाज) हैं ॥९६-१००॥

जहाँ पाट के आदि, मध्य और अन्त में देङ्कार हो, वह एक हाथ से सम्पन्न 'वोल्लावणी' है । जैसे —दें दे दे थाँ थां था दे दें दें ।

जहाँ थों तत्तकिट शब्दों से स्पष्टतया बाई पुड़ी का चालन तथा शेष वोल्लावणी के समान हो, वह 'चलावणी' होती है । जैसे थो थों किट थों तो तो किट तो किटतकि थों थों—इत्यादि ॥१०१, १०२॥

यथा-थो थों किट थों तो तो किट तो किटतकि थों थों थों थोक्किट तकिट थोकिट थोकिट तकिट थों थों किट थो थों किट थों ।

चारुश्रवणिका—

झेङ्कारसहित[1] हस्तपाटमूलाक्षरैर्युतम्[2] ।
क्रमेण युगपद्वापि वाद्य हस्तद्वयेन तु ॥१०३॥
युक्ताष्टादशमात्राभिस्त्र्यस्त्रभेदेन संयुता ।
चारुश्रवणिका चेय[3] प्राहुर्वाद्यविशारदाः ॥१०४॥
यथा—झेररेर दरकिट थर थर इति ।

परिश्रवणिका—

कर्तर्यवघटाभ्यां या मिश्रा च समपाणिना ।
चतुर्विंशतिमात्राभि. परिश्रवणिका मता ॥१०५॥
यथा-थर्थर्थर् रिरि थट्टिकुदरुगिड तक थोग-इति

अलग्न---

कर्तरीपाणिहस्ताभ्या मुडुवेनैव[4] वाद्यते ।
उत्सृज्य कुण्डलीस्पर्शमलग्नः परिकीर्तित ॥१०६॥
यथा-किरथरकिर, किरकिरहे, कुतुकारिक, किरकिरकुथरिकु किर-किटतकुथरि, कुथ-इति ।

जहाँ मूल अक्षरो से युक्त झेङ्कार सहित हस्तपाट, क्रम से अथवा दोनो हाथों से साथ साथ हो, वह त्यस्त्रभेद युक्त अठारह मात्राओ की 'चारुश्रवणिका' है ॥ जैसे 'झेररर दरकिट थरथर'-इत्यादि ॥१०३, १०४॥

'परिश्रवणिका' मे चौबीस मात्राएँ होती है और वह समपाणि के द्वारा कर्तरी और अवघट से मिश्रित होती है। जैसे :—थर्थर्थर्रिरि थट्टिकु दरुगिड तकथो' इत्यादि ॥१०५॥

कुण्डली का स्पर्श नही करके कर्तरी और पाणिहस्त के योग से उडुव के द्वारा वादन 'अलग्न' कहलाता है ॥ जैसे—किरथरकिर किरकिरहे कुतुकारिक किरकिर कुथरिकु किरकिटतकुथरि कुथ · ' इत्यादि ॥१०६॥

---

१. (क) पारज । २ (क) पाठ ।
३. (क) श्रेय. ।
४. (क) कुडुपेनैव ।

दण्डहस्त :—

दण्डहस्तजशब्देन मात्राभिर्द्वादशैर्युत. ।
द्वाभ्यां क्रमेण हस्ताभ्यां क्रियते दण्डहस्तकः ॥१०७॥

यथा-'भररतत्त, कुतकुतोत, थरथरथरि, कुतकुतोक, थकुतत्थितरि, तत्तरित इति ।

उडुव :—

वामदक्षिणहस्ताभ्या शब्दैर्विषमपाणिजै. ।
क्रियते यत्र वाद्यज्ञैर्वाद्यं तदुडुव[1] विदु ॥१०८॥

यथा-गिरिकिट ननगिन, गिणकिर किटघटि, किटघटि तुक्किटथरि कित्तुक्किट गिरगिडझेंतरि, गिरुकिट ननगिन, गिरुकिट तकुझे ।

कुडुवचारणा :—

नानापाटाक्षरोद्भूतै शब्दै. कुडुवताडितै. ।
कृतावृत्त्या तु गारुग्या स्मृता कुडुवचारणा[2] ॥१०९॥

यथा-झेनकिर थरिगिन गिरिकिट तकिनन गिनगिन इत्यादि ।

करचारणा—

केवलै· करपाटैस्तु[3] नादानाञ्च चतुश्चतु ।
मात्राभिश्च कृता सैषा[4] स्मर्यते करचारणा[5] ॥११०॥

दण्डहस्त से उत्पन्न शब्द के द्वारा, बारह मात्राओं से युक्त, दोनों हाथो से दण्डहस्तक उत्पन्न होता है। जैसे—भररतत्त, कुतकुतोत, थरथर-थरि, कुनकुतोत थकुतत्थिरि तत्तरित इत्यादि ॥१०७॥

विषमपाणिजन्य शब्दो के द्वारा दोनो हाथों से किया जाने वाला बाज 'उडुव' कहलाता है। जैसे·--गिरिकिटननगिन गिणकिरकिटघटि किटघटितुक्किरथरिकित्तुक्किटगिरगिडझेतरिगिरुकिटननगिन गिरुकिटतकुझे ॥१०८॥

विविध पाटाक्षरों से उद्भूत, कुडुव ताडित शब्दो के द्वारा गारुगि ताल में की हुई आवृत्ति से 'कुडुवचारणा' होती है, जैसे—झेनकिरथरि-गिन गिरिकटतकिनन गिनगिन इत्यादि ॥१०९॥

चार चार मात्रा से युक्त नादो के केवल हस्तपाटो से 'करचारणा' होती है। जैसे—थर्थर्थर्थर् रिरिरर् धरिररि' इत्यादि।

१ (क) तदुडुच । २. (ख) चारुणा । ३. (ख) हस्तपाटाना । ४. (ख) शेषा ।
५. (ख) कलचारणा ।

यथा-थरथर्थरथर् रिरिरर् धरिररि इत्यादि ।

कुचुम्बिनी :—

कालकाख्येन हस्तेन कुकारप्रचुरेण यत् ।
मात्राभिः षोडशैर्वापि द्वात्रिंशद्भि कुचुम्बिनी[1] ॥१११॥

द्विविधा सा च विज्ञेया शुद्धा मिश्रेति सूरिभिः ।
शुद्धा षोडशमात्राभिरन्याभिरितरा युता ॥११२॥

घनरव :—

अच्छिन्नपाट· पाणिभ्यां मात्राभि· षोड्शैः क्रमात् ।
उक्तो घनरवो ज्ञेयो वाद्यविद्याविशारदै. ॥११३॥

(इति पटहवाद्यानि)

इति द्वादश वाद्यानि पटहे कथितानि च ।
तकारश्च धिकारश्च थोङ्कारष्टेङ्कृतिस्तथा ॥११४॥

झेङ्कारश्च नदेङ्कार पाटवर्णा मृदङ्गजा. ।
मसृणे वादने प्रौढा गीतवाद्यविशारदा· ॥११५॥

कुचुम्बिनी सोलह या बत्तीस मात्राओ से युक्त होती है, जिसमें कुकार की प्रचुरता से युक्त कालक हस्त का प्रयोग हो ॥१११॥

विद्वानो ने उसके शुद्धा और 'मिश्रा' दो भेद माने है, सोलह मात्राओं से 'शुद्धा' तथा बत्तीस मात्राओ से 'मिश्रा' होती है ॥११२॥

दोनो हाथो के द्वारा सोलह मात्राओ के प्रयोग से 'घनरव' होता है, जिसमे पाट अच्छिन्न होते है ॥११३॥

(ये पटहवाद्य हुए)

ये बारह बाज पटह मे कहे है। तकार, धिकार, थोंङ्कार, टेङ्कार, झेकार, नदेङ्कार, मृदङ्गोत्पन्न पाटवर्ण हैं ।

मसृण (कोमल एव स्निग्ध) वादन मे प्रौढ गीतवाद्य में विशारद एव वाद्य के द्वारा सङ्गति करने वाले मार्दलिक श्रेष्ठ है ।

---

१. (ख) सुकुम्भिनी ।

वाद्यानुयायिनस्सम्यक् प्रोक्ता मार्दलिका[1] वराः ।

उत्तममार्दङ्गिका .—

सरलश्चौपटश्चैव किर्विलश्च घणायिलः ॥११६॥

गतिस्थश्चेति पंचैव मृदङ्गे वादकोत्तमाः ।

सरल :—

यो वादयति मधुरं कोमलं प्राञ्जलं ऋजु ॥११७॥

तमाहुर्भरताभिज्ञास्सरल विरलं जनम् ।

किर्विल :—

विनावयवहीनत्वाच्छब्देऽल्पे चाल्पवादकः ॥११८॥

विवन्धगतिषु व्यक्तः सुहावे[1] किर्विलः[2] पटुः ।

चौपट

विषमं प्राञ्जलञ्चैव गुन्थागुन्थिसमायुतम् ॥११९॥

वादयेट्टवणादीना कुशलश्चौपटः स्मृत. ।

गतिस्थ :—

सरलघणायिलचौपटकिरिविलघटितानि शब्दवृन्दानि ।

मसृणानि सन्निवेशैनिवरधिकं वादयेद् गतिस्थः सः ॥१२०॥

सरल, चौपट, किर्विल, घणायिल और गतिस्थ ये पाँच प्रकार के मृदङ्गवादक श्रेष्ठ हैं ।

जो मधुर, कोमल, प्राञ्जल, और ऋजु वादन करता है। उसे भरतमर्मज्ञ लोग 'सरल' कहते हैं ।

विबन्ध गतियों में भी अवयवहीनता के बिना अल्पशब्द सुहाव में व्यक्त वादन करने वाला 'किर्विल' है जो टवणा आदि में कुशल वादक विषम,प्राञ्जल, गुन्थागुन्थियुक्त वादन करता है, वह 'चौपट' है ।

सरल, घणायिल, चौपट, किरिविल के द्वारा घटित मसृण शब्दवृन्दों को सन्निवेशपूर्वक निरन्तर वादन करने वाला 'गतिस्थ' है ॥११४-१२०॥

---

१. (ख) माद्दलिका ।

२. (ख) सुवाहे ।

घणायिल :—

वादे निबद्धशब्दाना कवलीभेदनविना[1] ।
यो वादयति निरतः कथ्यतेऽसौ घणायिलः ॥१२१॥

द्विविधं गीतवादनम्—

अङ्गञ्चैवाश्रयाङ्गञ्च द्विविध गीतवादनम् ।
अङ्गं तत्पञ्चधा ज्ञेयमाश्रयाङ्गञ्च पञ्चधा ॥१२२॥
तालधातुपदावृत्तिकविताङ्गैश्च[2] पञ्चधा ।
शुद्धमिश्रविभेदेन गीताङ्ग वाद्यते बुधैः ॥१२३॥
जतिर्दुबुकझें शब्द काकुः प्रहरणाभिध. ।
इति पञ्चविध प्राहुराश्रयाङ्ग विचक्षणाः ॥१२४॥
करटापाटवर्णा. स्युः करटेति पुन पुनः ।
(इत्यवनद्धम्)

घनवाद्यम्—

सुरलक्षणौ सुस्वरौ तालौ तज्ज्ञै शक्तिशिवौ स्मृतौ ॥१२५॥

वह वादक घणायिल है, जो निबद्ध शब्दो का वादन कवलीभेदन के बिना ही करता है ॥१२१॥

गीतवादन दो प्रकार का है, 'अङ्ग' और 'आश्रयाङ्ग' । पाच प्रकार का 'अङ्ग' और पाँच प्रकार का आश्रयाङ्ग है । ताल, वाद्य, धातु, पद तथा कविता इन पाँच प्रकारो से युक्त गीताङ्ग का वादन शुद्ध एव मिश्र किया जाता है ॥॥१२२, १२३॥

जति, दुबुक, झें शब्द, काकु और प्रहरण, ये पाँच प्रकार का गीताङ्ग विद्वानो ने कहा है ॥१२४॥

करटा के पाटाक्षर पुनः पुन 'कर' 'टा' होते है ।
(अवनद्ध पूर्ण हुआ ।)

सुरलक्षण, सुस्वर झाझ, विशेषज्ञो द्वारा शक्ति और शिव कहे गये हैं ॥१२५॥

---

१. (क) करले, (ख) करली ।
२. (ख) गविरा ।

[1]आधाराधेयवशतो बिन्दुनादसमुद्भवौ ।
लघुगुर्वादिभिर्मानै र्वादयेद् बहुभङ्गिभिः॥१२६॥

वर्णा झेनकिटास्तज्ज्ञैः कथिताः कांस्यतालयोः ।
मनोहराश्च सूक्ष्माश्च सुस्वनाः[2] क्षुद्रघण्टिकाः ॥१२७॥

तास्तु घर्घरिका लोके प्रसिद्धा रज्जुसंयुताः ।
घनवाद्यमिति प्रोक्तं सुषिरं वाद्यमुच्यते ॥१२८॥

(घनवाद्यम्)

सुषिरवाद्यम्—

जयश्च विजयो नन्दो महानन्दो यथाक्रमम् ।
वशाश्चतुर्दश द्वादशैकादशदशाङ्गुला ॥१२९॥

द्विकत्रिकचतुष्कास्तु ज्ञेया[3] वंशगता स्वराः ।
कम्पमानार्धमुक्ताश्च व्यक्तमुक्ताङ्गुलीवहाः ॥१३०॥

ये आधार और आधेय है, तथा बिन्दु और नाद के उत्पन्न करने वाले है, इन्हे ढङ्ग ढङ्ग से लघु, गुरु इत्यादि मान से युक्त करके बजाना चाहिये ॥१२६॥

कास्य तालों में विशेषज्ञों ने 'झेनकिट' वर्ण बताये हैं। मनोहर, सूक्ष्म, सुशब्द, क्षुद्रघण्टिकाएँ (घुघरु) रस्सी से बँधी हुई, लोक मे, घर्घरिका नाम से प्रसिद्ध है, इस प्रकार घनवाद्य कहा गया है, अब सुषिर वाद्य कहा जाता है ॥१२७, १२८॥

जय, विजय, नन्द और महानन्द नामक वंशो का परिमाण क्रमशः चौदह, बारह, ग्यारह और दस अगुल होता है ॥१२९॥

वंशगत स्वर द्विश्रुतिक, त्रिश्रुतिक और चतु श्रुतिक जानना चाहिये। इनके व्यक्त करने में अँगुली कम्पित, अर्धमुक्त तथा व्यक्तरूप से मुक्त रहती है ॥१३०॥

---

१. (ख) आकारादेश ।
२. (ख) सुस्वराः ।
३. (क) देशंगका ।

¹अङ्गुलीचारणाः सम्यक् गमकेषु च सप्तसु ।
ताम्रेण कलधौतेन कर्तव्या येन केन वा ॥१३१॥
धत्तूरकुसुमाकारवदना सुषिरान्तरा ।
हस्तत्रयकृतायामा हाहावर्णा च काहला ॥१३२॥
विरुदान्यपि वाद्यन्ते वीराणां पुरतस्तथा ।
(इति चतुर्विधवाद्यानि)

विंशतिः प्रबन्धाः—

यत्यादीनां प्रबन्धानामधुना लक्ष्म कथ्यते ॥१३३॥
यतिरोताप्यवच्छेदो जोडणी चण्डणी पदम् ।
समहस्तोऽपि पैसारः तुडुकुस्तु तथा परः ॥१३४॥
ओत्वरोऽपि² (च) देङ्कारः घल्लणा मलपस्था ।
मलपाङ्गः प्रहरणं चान्तरी च दुवक्करः ॥१३५॥
जवनिका पुष्पाञ्जलिरिघवणो च निगद्यते ।

यति :—

तालच्छन्दोवगत्यर्थं विरामो यः श्रुतिप्रियः ॥१३६॥

सातों गमकों मे भली-भाँति अंगुलीचालन होता है ।

काहला का निर्माण ताँबे या सोने से होना चाहिये, उसका मुह धतूरे के फूल की भाँति होता है और वह खोखली होती है, उसकी लम्बाई तीन हाथ होती है और उसमे 'हा, हा' वर्ण होते हैं ॥१३२॥

उसमे वीरो के सामने विरुदवादन होता है ।

(ये चतुर्विध वाद्य हुए)

अब 'यति' इत्यादि प्रबन्धो का लक्षण कहा जाता है। यति, ओता, अवच्छेद, जोडणी, चण्डण, पद, समहस्त, पैसार, तुडुकु, ओत्वर, देङ्कार, घल्लणा, मलप, मलपाङ्ग, प्रहरण, अन्तरी, दुवक्कर, जवनिका, पुष्पाञ्जलि और रिघवणि ये बीस वाद्य प्रबन्ध हैं ।

ताल एवं छन्द के परिज्ञान के लिए जो श्रुतिप्रिय विराम वाद्यहीन बनाया जाता है, वह यति है ।

---

१. (क) अंगुष्ठ ।

२. (क) बोद्धारोहिणि ।

वाद्यते वाद्यहीनं सा यतिरित्यभिधीयते ।

ओता—

तालः पाटसमैर्वर्णैः क्रियते पाटसम्भवैः ।
ओताख्योऽसौ प्रबन्धः स्यात्केदार इति प्रोच्यते ॥१३७॥
ओतां तां कथयन्त्यन्ये देङ्कार कृति मुक्तकाम् ।
एषैवोट्टवणी नाम्ना कैश्चिदप्यभिधीयते ॥१३८॥

अवच्छेद :—

उद्ग्राहयुगलं यत्र वारमेक ध्रुवस्तथा ।
उद्ग्राहेण पुनर्मोक्षादवच्छेदोऽभिधीयते ॥१३९॥
वदन्ति केचिदस्यैव कवितेत्यभिधांपुनः ।

जोडणी—

पाटानां[1] पृथगुक्तानां यत्रैकत्र[2] विमिश्रणम् ॥१४०॥
जोडणी[3] सा परिज्ञेया संज्ञया वाद्यभेदिभिः ।

चण्डण .—

गीतानुगस्य[4] वाद्यस्य चण्डणः स चतुर्विधः ॥१४१॥

पाटोत्पन्न पाटसम वर्णों से किया जाने वाला ताल 'ओता' प्रबन्ध है, जो केदार भी कहलाता है, कुछ लोगों के मत में ओता का न्यास देङ्कार से होता है, कुछ लोग इसी को उट्टवणी भी कहते हैं ॥१३७-१३८॥

जहाँ दो बार उद्ग्राह और एक बार ध्रुव का वादन करके पुनः उद्ग्राह के द्वारा मोक्ष हो वह 'अवच्छेद' है ॥१३९॥

कुछ लोग इसी को कविता भी कहते हैं, पृथक् पृथक् कहे हुए पाटों का एकत्र मिलाना 'जोडणी' है। गीतानुग वाद्य का वादन 'चण्डण' चार प्रकार का है ॥१४०-१४१॥

---

१ (क) पादानां ।
२ (क) मंत्रैकत्र विमिश्रितम् ।
३. (क) जोडणी ।
४. (क) गद्य ।

[1]सुक्तासुक्तिस्तु स प्रोक्तो मोडामोडिस्तथैव च ।
अर्द्धस्थितिस्ततस्तस्मात्[2] स्वरपूर्वश्च चण्डणः ॥१४२॥
स्तोकस्तोकेन काय्यं स्याद्वादनलघुपाणिना ।
गीतावसाने न्यासः स्यात् सुक्तासुक्तीति[3] नामतः[4] ॥१४३॥
गीतमानाधिकं वाद्यं गीतमानेन चण्डणम् ।
मोडामोडीति विज्ञेयं न्यासो वाद्यविशारदैः ॥१४४॥
मानेन गायको गायन् यत्र मानं विमुञ्चति ।
वादकेन कृतो न्यासस्तदर्धस्थितिरीरित. ॥१४५॥
गीतवाद्यं च युगपन्न्यस्यते यदि मानतः ।
सुहावगति संयुक्तो विज्ञेयः स्वरचण्डणः ॥१४६॥

पदम्—

प्रथमं वादयित्वा तु यतिः पाटेन मुच्यते ।
मध्ये वाद्यप्रबन्धस्य पदं तत्परिकीर्तितम् ॥१४७॥

सुक्तासुक्ति, मोडामोडि, अर्द्धस्थिति और स्वरचण्डण ये चार प्रकार हैं ॥१४३॥

जब थोडे थोडे लघुपाणि से वादन हो और गीत के अन्त में न्यास हो, तो 'सुक्तासुक्ति' गीत के मान से अधिक है, गीतमान के अनुसार वादन 'मोडामोडि' नामक चण्डण है ॥१४३, १४४॥

मान के अनुसार गाने वाला गायक जहाँ मान का परित्याग करता है, वहाँ वादक का किया हुआ न्यास 'अर्द्धस्थिति' कहलाता है। यदि मान के अनुसार गीत और वाद्य का न्यास साथ साथ होता है, तो सुहाव गति युक्त 'स्वरचण्डण' होता है ॥१४५, १४६॥

यदि वाद्य प्रबन्ध के मध्य में यति का वादन करके पाट द्वारा मोक्ष होता है तो 'पद' कहलाता है ॥१४७॥

---

१. (क) चुक्का चुक्कि ।
२. (क) अर्द्धपासञकस्तस्मात् ।
३. (क) चुक्का चुक्कीति ।
४. (क) मानतः ।

समहस्त :—

तकारः प्रचुरो दोर्भ्यां यथौचित्येन मानतः ।
वाद्यते यस्त्रिरावृत्त्या समहस्तः स्मृतो बुधैः ॥१४८॥

पैसार —

यत्रातोद्यानि[1] वाद्यन्ते समग्राणि निजैर्निजैः ।
[2]पाटैश्च समुदायैश्च पैसार इति कथ्यते ॥१४९॥

तुडुक्का —

उद्ग्राह ध्रुवकाभोगेष्वेकदेशस्य वादनम् ।
हस्तलाघवतो यत्स्यात् तुडुक्का[3] सा निगद्यते ॥१५०॥

ओत्वर —

ईषद्विलम्बमानेन गम्भीर मधुर तथा ।
मृदङ्गवादनं यद्वा चोत्वरं त्वष्ट मात्रकम् ॥१५१ ॥

झेङ्कारम्—

आदौ झेङ्कारमुल्लासं विधायोच्चसमन्वितम् ।
अथवा चोच्चहीनञ्च द्विधा झेङ्कारमुच्यते ॥१५२॥

यदि यथोचित मान के अनुसार बाहुओं से 'तकार' का प्रचुर वादन तीन आवृत्तियों से हो, तो 'समहस्त' कहा गया है ॥१४८॥

जहाँ सभी वाद्य अपने-अपने पाटों और समुदायों के द्वारा बजाये जाते है, वहाँ 'पैसार' कहा जाता है ॥१४९॥

जहाँ हस्तलाघवपूर्वक उद्ग्राह ध्रुवक और आभोग में एकदेश का वादन होता है, वह 'तुडुक्का' कहलाती है ॥१५०॥

जहाँ कुछ विलम्बित मान से मृदङ्ग का गम्भीर, मधुर तथा अष्ट-मात्रिक वादन होता है, वह ओत्वर है ॥१५१॥

आदि में चमकता हुआ झेंकार उच्चसमन्वित हो अथवा उच्चहीन हो, यह दो प्रकार का 'झेङ्कार' कहा जाता है ॥१५२॥

---

१. (ख) तोद्यपि । २. (ख) पादैश्च ३. (ख) तुटुक्का ।

देङ्कारः—

स्तोकस्तोकस्य शब्दस्य योऽवसाने स देङ्कृतिः ।

[1]स एव नियमेनापि देङ्कारो वाद्यते बुधैः १५३॥

मलपम्—

यत्रोद्ग्राहः सकृद् द्विर्वा ध्रुवको विविधस्तथा ।

स्यादेव तद् द्विदेङ्कारव्यापकाक्षरसङ्गतम् ॥१५४॥

निरन्तरयतिप्राय मलप कथयन्ति तत् ।

मलपाङ्गम्—

वादयित्वा तु मलप तथाङ्गं वाद्यते पुनः ॥१५५॥

ततो मलपवाद्य यत् मलपाङ्ग तदुच्यते ।

प्रहरणम्—

येन केनापि वाद्येन मात्रा द्वादश षोडश ॥१५६॥

वादयेत् पल्लवद्वन्द्वं सोऽय प्रहरणाभिध ।

अन्तरा—

[2]आरब्धं सानुसारेण यच्छन्दोगीतवाद्ययोः ॥१५७॥

निबद्धमन्तरावाद्यं क्रियते सान्तरा स्मृता ।

दुवक्कर :—

यतिरेवाक्षरद्वन्द्वो वाद्यते स दुवक्करः ॥१५८॥

थोडे-थोड़े शब्द का देकृति सहित अवसान यदि नियमपूर्वक हो, तो देंकार है ॥१५३॥

जहाँ उद्ग्राह एक बार या दो बार हो, विविध ध्रुवक हो, दो देंङ्कार व्यापक अक्षरों से युक्त हो, जिसमें निरन्तर यति हो, वह 'मलप' है। मलप का वादन करने के पश्चात् यदि पुन उसके अङ्ग का वादन किया जाये, तो 'मलपाङ्ग' कहलाता है। जिस किसी वाद्य के द्वारा भी बारह या सोलह मात्राओं में दो पल्लव बजाये जाये, तो 'प्रहरण' कहलाता है।

सानुसारपूर्वक आरम्भ किया हुआ जो छन्द गीत वाद्य के बीच में निबद्ध हो, वह वाद्य 'अन्तरा' कहलाता है। दो अक्षरों से युक्त बजाया हुआ यति ही 'दुवक्कर' है ॥१५४-१५८॥

---

१. (ख) सयावनियमेनापि । २. (क) आरब्धस्यानुसारेण ।

जवनिका :—

स्थिरमानेन सोल्लासं चतुर्मात्राञ्च देङ्कृतिम् ।
वारद्वयं वादयित्वा ततः कुर्य्याच्च जोडणम् ॥१५९॥

ततो [1]मात्राष्टकच्छेदो मर्दलाशब्दवादने ।
पुनर्मात्राष्टकं श्रव्यं[2] करटायाश्च वादने ॥१६०॥

त्रिरावृत्त्या वादितस्य [3]शब्दःस्यात्सावसानतः ।
[4]समो यवनिकापाताच्छब्दो यवनिकाह्वयः ॥१६१॥

पुष्पाञ्जलि :—

आदौ स्यादष्टमात्रं वाथवा द्वादशमात्रकम् ।
अन्तरीद्वितये चैव प्रत्येकं चाष्टमात्रिकम् ॥१६२॥

चतुर्मात्रिञ्चाष्टमात्रं तकारे वादनं भवेत् ।
मृदङ्गदेशीपटहकरटामर्दलेषु च ॥१६३॥

[5]व्यवर्तनानुगं वाद्यं परिवृत्तिर्मृदङ्गजा ।
द्विवारं परिवृत्तिः स्यादन्तरिद्वयशब्दयोः ॥१६४॥

स्थिर मान के द्वारा उल्लासपूर्वक चतुर्मात्रायुक्त देंकार को दो बार बजाकर 'जोडण' करना चाहिये, तत्पश्चात् मर्दला के शब्द वादन में आठ मात्राओं का छेद, पुन करटावादन में आठ मात्रा का श्रव्य यह सब कुछ तीन बार बजाने का शब्द यवनिकापात के सदृश हो, तो 'जवनिका' है ॥१५९-१६१॥

आरम्भ में आठ मात्राओं या द्वादश मात्राओं का वादन, दोनों अन्तरियों में प्रत्येक अन्तरी में आठ मात्रा का वादन, और तकार में चार और आठ मात्राओं का वादन मृदङ्ग, देशी पटह, करटा और मृदङ्ग में होना चाहिए। व्यवर्तन का अनुगामी वाद्य मृदङ्गज परिवृत्ति है, दोनों अन्तरियों की दो बार परिवृत्ति होना चाहिये, चतुर्मात्रायुक्ततकार इत्यादि में दो बार परिवृत्ति करके एक बार देङ्कारसहित आठ मात्रा बजाने

---

१. (क) मात्राष्टकच्छन्दो । २. (क) शब्दं । ३ (क) शब्दस्यास्यावसूनुकः ।
४. (क) समायामनिरापाताच्छब्दोयमनिकाह्षयम् । ५. (ख) वेवर्तमानुगं ।

तकारादौ चतुर्मात्रे द्विवारं परिवर्तनम् ।
एकवारं त्वष्टमात्र[1] वादयित्वा सदेङ्कृति ॥१६५॥
शब्दः पुष्पाञ्जलौ युक्तो हुडुक्काकरटान्तरी ।
इतरे चान्तरीशब्दा नैव ते सम्मता मम ॥१६६॥
अनेकवाद्यमिलनं पैसारादिषु दृश्यते ।
पुष्पाञ्जलिरयं शब्दः किञ्चिद्भेदवशादिह ॥१६७॥

रिघवणि :—

सैव प्रोक्ता रिघवणी वाद्यविद्याविशारदैः ।

खण्डयति :—

पुनः पुनः यतिर्वाद्ये[2] खण्डशो यत्रवाद्यते ॥१६८॥
स खण्डयतिराख्यातो पाटवाद्यान्तराश्रयात् ।

गुण्डलीवाद्यानि—

हुडुक्का च मृदङ्गश्च करटा काहला तथा ॥१६९॥
कांस्यतालश्च पञ्चैते गुण्डली प्रति निर्मिता. ।
अनिबद्धं निबद्धञ्च वाद्यञ्च द्विविधामतम् ॥१७०॥
नियमादप्यनियमादनिबद्ध द्विधा भवेत् ।
जोडणी च प्रबन्धश्च निबद्धमपि तद्द्विधा ॥१७१॥

का शब्द पुष्पाञ्जलि मे विहित है । हुडक्का और करटा अन्तरी है, अन्तरी शब्द के द्वारा अन्य ग्रहण मुझे अभीष्ट नही ॥१६२-१६६॥

पैसार इत्यादि मे अनेक वाद्यो का मिलन दिखाई देता है, कुछ अन्तर के कारण यह 'पुष्पाञ्जलि' है ॥१६७॥

वाद्यविद्याविशारदो ने इसे ही रिघवणी' कहा है । अन्य पाटवाद्यो का आश्रय लेने के कारण खण्डश बजाया जाने वाला 'यति' ही 'खण्डयति' है।

हुडुक्का, मृदङ्ग, करटा, काहला तथा कास्यताल ये पाँच गुण्डली के लिए उपयोगी है । वाद्य दो प्रकार का है, 'अनिबद्ध' और 'निबद्ध' ॥१६८-१७०॥

'नियमयुक्त' और 'नियमरहित' रूप में 'अनिबद्ध' दो प्रकार का है, जोडणी' और 'प्रबन्ध' ॥१७१॥

१. (क) वादयित्वेन घेङ्कृति । २. (क) वादे ।

नियमः—

[1]अनुज्ञाबियुतः शब्दो वाद्यते यः पुनः पुनः ।
येन केनापि[2] तालेन सोऽयं नियमशब्दकः ॥१७२॥

टवणा—

श्रुतौ घनध्वनेर्वाद्यशब्द[3] न्यासस्य यो भवेत् ।
तज्ज्ञैस्स टवणेत्युक्ता प्रयोज्या तु[4] लयान्विता ॥१७३॥
[5]शब्दानन्दनकश्रुत्या टवणा मण्ठसम्भवा ।
मण्ठताले प्रयोक्तव्या गीतेन त्रिलयैस्तथा ॥१७४॥
मुकुन्दानन्दनश्रुत्या टवणा गारुगीभवा ।
गारुगीविषमेणैव संयोज्या त्रिलयैरपि ॥१७५॥
ईश्वरानन्दनश्रुत्या झम्पातालसमुद्भवा ।
टवणासौ भवेत्तालत्रिलयैस्सा समग्रहा ॥१७६॥
भास्करानन्दनश्रुत्या क्रीडातालसमुद्भवा ।
टवणास्मिन् प्रयोक्तव्या गीतेनैव त्रिभिर्लयैः ॥१७७॥

जो किसी भी ताल के द्वारा पुनः पुनः अनुजायियुक्त रूप में बजाया जाता है, वह 'नियम' है ॥१७२॥

घनध्वनियुक्त वाद्य शब्द के लय युक्त न्यास से होने वाला शब्द 'टवणा' कहलाता है ॥१७३॥

मण्ठसम्भव टवणा मण्ठताल में शब्दानन्दन (ब्रह्मानन्दन) श्रुति से गीत और तीनों लयों के द्वारा प्रयुक्त की जानी चाहिये ॥१७४॥

गारुगीभवा टवणा तीनों लयों के द्वारा विषम गारुगि ताल में मुकुन्दानन्दन श्रुति से प्रयोज्य है ॥१७५॥

झम्पाताल में उत्पन्न समग्रहा टवणा तीनों में ईश्वरानन्दन श्रुति से संयुक्त होना उचित है ॥१७६॥

क्रीडातालोत्पन्न टवणा गीत और तीनों लयों के द्वारा भास्करानन्दन श्रुति से प्रयुक्त होना चाहिये ॥१७७॥

---

१. (क) अनुजायि पुन. शब्दो । २. (क) कालेन । ३ (क) शब्दस्यासस्तु ।
४. (क) हलयाचितः । ५. (क) ब्रह्मानन्दनक श्रुत्वा ।

शशाङ्कानन्दनश्रुत्या [1]चैकतालसमुद्भवा ।
टवणा चैकताले तु प्रयोक्तव्या त्रिभिर्लयैः ॥१७८॥

आहत्यालोकने योज्या टवणा या सानुसारिभिः ।
विविधैर्व्याप्तिशब्दैश्च वाद्यविद्याविशारदैः ॥१७९॥

नियमं टवणा[2] त्यक्त्वा सतालमनुयायिभिः ।
[3]वर्तते चेदनियमा ऽनिबद्धं तत्प्रकीर्तितम् ॥१८०॥

क्रमेण व्युत्क्रमेणार्धतदर्धार्धप्रभेदतः ।
चतुरस्रादितालेन वाद्यते जोडणी स्फुटम् ॥१८१॥

उच्चपालाख्यटक्कण्यां भिद्यते जोडणी क्रिया ।
मात्राणामसमार्द्धेन नैव सा जोडणी मता ॥१८२॥

उद्ग्राहाद्यन्वित वाद्य प्रबन्धाख्यं प्रबन्धवत् ।
तालवाद्यचन्द्रकलापटहादिसमाश्रयम् ॥१८३॥

एकतालोत्पन्न टवणा शशाङ्कनन्दन श्रुति से तीनो लयो सहित एक ताल मे प्रयोज्य है ॥१७८॥

वाद्यविद्याविशारदों के द्वारा सानुसारी विविध व्याप्ति शब्दों से आहत्यालोकन (!) मे टवणा प्रयोज्य है ॥१७९॥

यदि सताल नियम का परित्याग करके टवणा हो, तो वह 'अनिबद्ध' कहलाती है । क्रम, व्युत्क्रम, अर्ध, अर्धार्ध प्रभेद से 'जोडणी' चतुरस्र इत्यादि ताल में बजाई जाती है ॥१८०, १८१॥

उच्चपाल नामक टक्कणी मे जोडणी क्रिया मात्राओं के असमार्द्ध के कारण भिन्न हो जाती है, अत वह 'जोडणी' नही कहलाती ॥१८२॥

'प्रबन्ध' नामक, उद्ग्राह आदि युक्त वाद्य, प्रबन्ध कहलाता है, वह ताल वाद्य, चन्द्रकला, पटह आदि के आश्रित होता है ॥१८३॥

---

१. हैक । २ (क) टवर्ण । ३. (क) वर्तकाभेद नियमा ।

इति श्रीमदभयचन्द्रमुनीन्द्रचरणकमलमधुकरायितमस्तक
महादेवार्य्यशिष्यस्वरविमलविद्यापुत्रसम्यक्त्व
चूडामणिभरतभाण्डीकभाषाप्रवीणश्रुतिज्ञान
चक्रवर्ति संगीताकरनामधेयपार्श्वदेवविरचिते
संगीतसमयसारे षष्ठाधिकरणम् ।

श्रीमद् अभयचन्द्र मुनीन्द्र के चरणकमलों में मधुवरवत् आचरण करने वाले मस्तक से युक्त महादेव आर्य के शिष्य, स्वरविद्या से युक्त, सम्यक्त्वचूडामणि, भरत-भाण्डीकभाषाप्रवीण, श्रुतिज्ञानचक्रवर्ती संगीताकर नाम वाले पार्श्वदेव द्वारा विरचित संगीतसमयसार का छठा अधिकरण पूर्ण हुआ ।

(छठा अधिकरण समाप्त हुआ)

सप्तमाधिकरणम्

नृत्तमुक्तं पुरानेकशास्त्रैर्यद् बहुविस्तरैः ।
संक्षिप्य[1] तान्यतिव्यक्त नृत्तसार निरूप्यते ॥१॥
नृत्त स्याद्गात्रविक्षेपोऽवस्थानुकृतिलक्षणः ।
[2]तालभावलयायत्तो वागङ्गाहार्य्यसत्वजः ॥२॥
नाट्यस्याभिनयांस्तत्र वाचिकाहार्य्यसात्विकान् ।
त्यक्त्वा नृत्तादियोग्य त वक्ष्ये त्रिविधमाङ्गिकम् ॥३॥
[3]णीञ्धातुरभिपूर्वो यत् स्वेष्टार्थप्रतिपादक ।
तत्प्रयोगानभीष्टार्थान्नियतीत्यभिनय स्मृत ॥४॥
नृत्त शाखाङ्कुर चेति त्रिधासौ करणादिभिः ।
नृत्त स्यादाङ्गिक[4] कर्म्म शाखोपाङ्गजमङ्कुरम् ॥५॥

पहले अनेक विस्तृत शास्त्रो के द्वारा 'नृत्त' कहा गया है, उन शास्त्रो का संक्षेप करके नृत्तसार स्पष्ट रूप से निरूपित किया जाता है ॥१॥

अवस्थाओ की अनुकृति करने वाला गात्रविक्षेप नृत्त है, वह वाक् अङ्ग, आहार्य्य और सत्व से उत्पन्न तथा ताल, भाव और लय के अधीन है ॥२॥

उसमे वाचिक, आहार्य्य और सात्विक अभिनयो का परित्याग करके नृत्त आदि के योग्य त्रिविध आङ्गिक कहूँगा ॥३॥

अभिपूर्वक 'णीञ्' धातु से अपने इष्टार्थ का प्रतिपादन करने वाला कार्य्य अभिनय है, वह अभीष्टार्थसम्बद्ध प्रयोगो की प्राप्ति करा देता है ॥४॥

वह अभिनय, करण इत्यादि के द्वारा नृत्त, शाखा और अंकुर इन तीन प्रकारो का है । नृत्त आङ्गिक है, कर्म्म (कर व्यापार) शाखा है और अंकुर उपाङ्गज है ॥५॥

---

१. (क) सक्षेप्य । २ (क) भावताल । ३ (क) निद् धातु । ४. (क) पोङ्गिक ।

अङ्गानि :—

शिरोवक्षः करः पार्श्वः कटिश्चरण इत्यपि ।
अङ्गान्येतानि नृत्तज्ञैः षडेव कथितानि हि ॥६॥

तत्र त्रयोदशविधं शिरो वक्षस्तु पञ्चधा ।
हस्तभेदाश्चतुःषष्टिर्हस्तचारास्त्रिधामताः ॥७॥

चतुर्धा हस्तकरणं हस्तकर्म्माणि विंशतिः ।
पार्श्वस्तु पञ्चधा तद्वत् कटिः पादस्तु षड्विधः ॥८॥

उपाङ्गानि—

उपाङ्गानि भ्रुवौ नेत्रे नासागण्डस्थलाधराः[1] ।
चिबुकं चेति षट् प्राहुर्नृत्तविद्याविशारदाः ॥९॥

अङ्गाभिनया :—

भ्रूकर्म सप्तधा तत्र[2] षट्त्रिंशद् दृष्टयः स्मृताः ।
तारा तु द्विविधा[3] तद्वत् पुट कर्म्म समीरितम् ॥१०॥

शिर, वक्ष, कर, पार्श्व, कटि और चरण ये छः अङ्ग नृत्यज्ञों द्वारा कहे गए हैं ॥६॥

शिर के तेरह, वक्ष के पाँच, हस्त के चौसठ, भेद है । हस्त चार तीन प्रकार के है ॥७॥

हस्त करण के चार प्रकार है हस्त कर्म बीस है । पार्श्व पाँच प्रकार है, उसी प्रकार कटि है, पाद छः प्रकार का है ॥८॥

भ्रू, नेत्र, नासा, गण्डस्थल, अधर और चिबुक ये छः नृत्तज्ञो के अनुसार 'उपाङ्ग' हैं ॥९॥

भ्रूकर्म्म सात, दृष्टियाँ छत्तीस, तारा द्विविध, पुट कर्म्म भी द्विविध, दर्शन अष्ट, नासा, गण्डस्थल, अधर मे प्रत्येक के छः छः और चिबुक के सात प्रकार हैं ॥११॥

---

१. (क) गण्डस्थलाम्बरम् । २. (क) कत्त । ३. (क) ववधा ।

भवन्ति दर्शनान्यष्टौ नासागण्डस्थलाधराः[1] ।
प्रत्येकं षड्विधा ज्ञेयाश्चिबुकं सप्तधा मतम् ॥११॥
प्रत्यङ्गानि पुनर्ग्रीवाबाहुपृष्ठं तथोदरम् ।
ऊरुजङ्घायुगञ्चेति[2] षडुक्तानि मनीषिभिः ॥१२॥
ततो ग्रीवा नवविधा बाहवो[3] दश पञ्च च ।
पृष्ठ त्रिधोदर[4] पञ्च ऊरुजङ्घे च पञ्चधा ॥१३॥
स्थानानि नवधा चार्य्यो द्वात्रिंशन्मण्डलानि तु ।
विंशती रेचकाश्चैव चत्वारः करणानि तु ॥१४॥
शतमष्टोत्तरं त्वङ्गहारा द्वात्रिंशदीरिता ।
नाट्ये नृत्ये च नृत्ते च नियुद्धे च यथोचितम् ॥१५॥
इत्यङ्गाभिनयास्सर्वे प्रयोज्यास्तु विचक्षणैः ।
अङ्गविक्षेपमात्र च यत्ताललयसश्रयम् ॥१६॥
नृत्तं देशाश्रयत्वेन बहुधा तत्प्रकीर्तितम् ।
शिरासि नव वक्षांसि चत्वारि कथितानि च ॥१७॥

प्रत्यङ्ग छ. है, ग्रीवा, बाहु, पृष्ठ, उदर, उरु तथा जङ्घायुग ॥१२॥
ग्रीवा नवविध, बाहु पञ्चदशविध, पृष्ठ त्रिविध, उदर, उरु और जङ्घा पञ्चविध है ॥१३॥

स्थान नवविध, चारियाँ बत्तीस, मण्डल बीस, रेचक चार, करण एक सौ आठ, और अङ्गहार बाईस है ।

नाट्य, नृत्य, नृत्त और युद्ध मे यथोचित ये सभी अङ्गाभिनय विचक्षण व्यक्तियो के द्वारा प्रयोज्य है ।

जो ताललयाश्रित अङ्गविक्षेपमात्र देशी नृत्त है, वह देशाश्रित होने के कारण अनेकविध है ।

शिरके नौ, वक्ष के चार ॥१४-१७॥

---

१ (क) दण्ड स्थलाधरम् । २. (क) मुचेति ।
३. (क) बाहू । ४ (क) त्रिद्रो ।

चतुः[1] षष्टिः कराः प्रोक्ताः पार्श्वं तच्च चतुर्विधम् ।
कटिः पञ्चविधा तद्वत् पादः[2] पञ्चविधः स्मृतः ॥१८॥

शिरांसि—

[3]आकम्पित कम्पितञ्च धुतमाधूतमेव[4] च ।
अवधूतञ्चाञ्चितञ्च[5] निहञ्चितमथापरम् ॥१९॥
उत्क्षिप्ताधोगतञ्चेति[6] शिरांस्याहुर्मनीषिणः ।

आकम्पितम्—

सकृदूर्ध्वाधोनयनाच्छनैराकम्पित[7] ऋजु ॥२०॥
पृच्छा सञ्ज्ञा स्वभावोक्तिनिर्देशावहनादिषु ।

कम्पितम्—

द्रुत तदेव बहुशः कृतं स्यात् कम्पित शिरः ॥२१॥
वितर्करोषविज्ञानप्रतिज्ञातजनादिषु ।

धुतम्—

धुतं शिरः शनैस्तिर्यक् शिरसो रेचनं स्मृतम् ॥२२॥

कर के चौंसठ, पार्श्व के चार,कटि के पाँच, पाद के पाँच प्रकार हैं ॥१८॥

आकम्पित, कम्पित, धुत, आधूत, अञ्चित और निहञ्चित ॥१९॥ मनीषियों ने उत्क्षिप्त और अधोगत ये शिर बताये हैं। एक बार सीधा सिर को ऊपर नीचे हिलाना आकम्पित है, इसका उपयोग प्रश्न, नाम, स्वभावोक्ति एव निदेशपालन में होता है, यदि यही क्रिया अनेक बार द्रुत गति में की जाये, तो कम्पित होता है ॥२०, २१॥

इसका विनियोग वितर्क, रोष, विज्ञान और प्रतिज्ञात व्यक्तियों के अभिनय में होता है। धीरे शिर का तिरछा झुकाना 'धुत' है ॥२२॥

---

१. (क) चसु सष्टिः । २. (क) स्वाद । ३. (क) अकम्पितं ।
४. (क) उत्तमामातमेव च । ५. (क) द्रूतं । ६. (क) शिरस्याद्व. । ७. च्चेनै ।

पार्श्वावलोकने खेदे निषेधे विस्मयादिषु ।

आधूतम्—

सकृत् तिर्यक्समुत्क्षिप्तमाधूत मस्तकं मतम् ।।२३।।
पार्श्वस्थितोर्ध्व संप्रेक्षणात्मसम्भावनादिषु ।

अवधूतम्—

एकदाधोगति[1] प्राप्तमवधूतं विचिन्तने ।।२४।।

अञ्चितम्—

शिर. स्यादञ्चित किञ्चित् पार्श्वतो नतकंधरम् ।
रुक्चिन्तामोहमूर्च्छासु तत्कार्य्यं हनुधारणे ।।२५।।

निहञ्चितम्-

मग्नग्रीव तथोत्क्षिप्तबाहुशीर्ष निहञ्चितम् ।*
गर्वे[2] स्तम्भे च कान्ताना नानाशृङ्गारवृत्तिषु ।।२६।।

पार्श्व की ओर देखने खेद, निषेध विस्मय आदि मे इसका विनियोग है।

एक बार तिरछा उठाया हुआ सिर 'आधूत' है ।।२३।।

पार्श्व में स्थित ऊर्ध्व वस्तुओ के देखने और आत्मसम्भावन इत्यादि में इसका विनियोग है।

एक बार नीचे गिराया हुआ सिर 'अवधूत है, इसका विनियोग विचिन्तन मे है ।।२४।।

पार्श्व से कन्धो के कुछ झुकने पर तनिक उठा हुआ सिर 'अञ्चित' है, रोग, चिन्ता, मोह मूर्च्छा तथा हनुधारण मे इसका विनियोग है ।।२५।।

ग्रीवा झुकी हो, तथा बाहु और सिर उठे हो, तो 'निहञ्चित' होता है, गर्व, स्तम्भ तथा कान्ताओ की विभिन्न शृङ्गारवृत्तियों में इसका विनियोग है ।।२६।।

---

१. (क) दोग। २. (क) दर्भसम्भे च।

* अञ्चितनिहञ्चितलक्षणपाठस्सङ्गीतरत्नाकरमनुसृत्य सशोधितः ।

अधोगतम्—

सम्यगुन्मुखमुत्क्षिप्तमूर्ध्वं सम्प्रेक्षणादिषु ।
अधोगतमधोवक्त्रं लज्जाधः प्रेक्षणादिषु ॥२७॥

(इति शिरांसि)

वक्षांसि—

सममुद्वाहितञ्चैव निर्भुग्नञ्च [1]प्रकम्पितम् ।
वक्षश्चतुर्विधं प्रोक्तं नाट्यविद्याविशारदैः ॥२८॥

समम्—

[2]सकलैरङ्गविन्यासैस्समैःसौष्ठवसयुतैः ।
स्वभावावस्थितं वक्षः समं नाम्ना प्रकीर्तितम् ॥२९॥

उद्वाहितम्—

उद्वाहित स्यादुद्गत[3] जृम्भणोच्छ्वसनादिषु ।

निर्भुग्नम्—

प्रोन्नतं प्रोन्नताङ्ग[4] च निर्भुग्नं गर्वितादिषु[5] ॥३०॥

भली भाँति उठा हुआ सिर 'उत्क्षिप्त' है, जिसका विनियोग ऊपर देखने इत्यादि में होता है ।

मुख नीचा होने पर 'अधोगत' शिर होता है, जो लज्जा के कारण सिर झुकाने इत्यादि में विनियुक्त है ॥२७॥

(ये शिर अङ्ग हुआ)

नाट्यज्ञों ने वक्ष चतुर्विध बताया है, सम, उद्वाहित, निर्भुग्न और प्रकम्पित ॥२८॥

सौष्ठवयुक्त समान अङ्गविन्यासो से युक्त स्वभावस्थितिसहित वक्ष 'सम' है ॥२९॥

उद्गत वक्ष उद्वाहित है, जिसका विनियोग जमुहाई और उच्छ्वास इत्यादि में है ।

---

१. (क) निर्भग्नेच, (ख) निर्भग्न च । २. (ख) समलै । ३. (क) दुद्गात्रं ।
४. (क) प्रोन्मतांश । ५. (क) गर्भितादिषु ।

कम्पितम्—

निरन्तरोर्ध्वविक्षेपैः[1] कम्पित हसितादिषु ।

(इति वक्षासि चत्वारि)

परिभाषा —

ज्येष्ठाङ्गुष्ठाभिधानाद्या तर्जनी स्यात् प्रदेशिनी ॥३१॥

मध्यमा मध्यमा[2] तुर्य्यानामिकान्त्या[3] कनीयसी ।

मणिबन्धाह्वयः पाणिमूलं कूर्परमुच्यते ॥३२॥

वाहुमध्यं तयोर्मध्य प्रकोष्ठोंऽसो[4] भुजाशिरः ।

असकूर्परयोर्मध्य प्रकाण्ड पण्डिता विदु. ॥३३॥

अवतानमधोवक्त्र तलमुत्तानमुत्तमम्[5] ।

[6]अञ्चित स्यात्प्रसारितं कुञ्चित तूपसंहतम् ॥३४॥

[7]आविद्धमन्त. सम्भ्रान्तमपविद्ध विपर्य्ययात् ।

(इति परिभाषा·)

असंयुतहस्ता —

पताकस्त्रिपताकश्च कर्तरी चतुरस्तथा ॥३५॥

प्रोन्नत और प्रोन्नताङ्ग वक्ष 'निर्भुग्न' है गर्वित इत्यादि के अभिनय मे जिसका विनियोग है, निरन्तर ऊर्ध्वविक्षेपयुक्त वक्ष 'प्रकम्पित' है, जो हसित इत्यादि में प्रयुक्त होता है।

(ये चार वक्षो का निरूपण हुआ)

मोटा 'अङ्गुष्ठ' तर्जनी 'प्रदेशिनी' मंझली 'मध्यमा' चौथी 'अनामिका' और अन्तिम 'कनीयसी' कहलाती है ।

पाणिमूल को मणिबन्ध, बाहुमध्य को कूर्पर (कुहनी), कुहनी, बाहु और कलाई का मध्य भाग प्रकोष्ठ, भुजा का सिर अंस (कन्धा) और कन्धे तथा कुहनी के मध्य भाग को विद्वान् ,प्रकाण्ड' कहते है ॥३०-३३॥

पट (अधोवक्त्र) की 'अवतान' चित को 'उत्तान', प्रसारित को 'अञ्चित', सिकुडे हुए को कुञ्चित' अन्दर की ओर घुमाये हुए को 'आविद्ध' और इसके विपरीत को 'अपविद्ध' कहते है ।

ये परिभाषाएँ हुई ।

---

१. (क) संक्षेपै. । २. (क) कुर्य्या । ३. (क) त्या । ४ (क) शो ।
५. (ख) मत्तलम् । ६ (क) अचिल । ७ आविद्ध ।

हंसपक्षोऽर्धचन्द्रश्च सर्पास्यो [1]मृगशीर्षक ।
अराल शुकतुण्डश्च सदशो भ्रमर करः ॥३६॥
पद्मकोषस्तूर्णनाभोऽलपद्मो मुकुर कर ।
हसास्यहस्त काङ्गूल [2] स्यान्मुष्टि शिखर कर ॥३७॥
कपित्थ कटकास्यश्च सूच्यास्यस्ताम्रचूडक [3] ।
चतुर्विंशतिरित्येवमसयुतकरा युत ॥३८॥
प्रत्येक नाट्यलोके च वर्तते ऽभिनयाश्रय [4] ।

पताक —

[5]आद्याख्या कुञ्चिता किञ्चित् तर्जन्याद्या प्रसारिता ॥३९॥
पताक पातसक्षोभवारणे वादनादिषु ।

त्रिपताक —

पताकेऽनामिका वक्रा त्रिपताकोऽश्रुमार्जने ॥४०॥
[6]ललाटरचनाद्रव्यस्पर्शनाचमनादिषु ।

कर्तरी—

यद्यत्र तर्जनी मध्यापरभागावलोकिनी ॥४१॥

पताक, त्रिपताक, कर्तरी चतुर, हसपक्ष, अर्धचन्द्र, सर्पास्य मृगशीर्षक, अराल, शुकतुण्ड, सदश, भ्रमर, पद्मकोष, ऊर्णनाभ, अलपद्म, मुकुर, हसास्य, काङ्गूल मुष्टि शिखर, कपित्थ, कटकास्य, (कटकामुख) सूच्यास्य, ताम्रचूडक ये चौबीस असयुत हस्त हैं ॥३४-३८॥

इनमे से प्रत्येक अभिनयाश्रित है और नाट्यलोक मे विद्यमान है।

यदि अगुष्ठ किञ्चित् कुञ्चित हो और तर्जनी इत्यादि प्रसारित हो, तो 'पताक' हस्त होता है। पात, सक्षोभ के वारण और वादन इत्यादि मे इसका विनियोग है। पताक मे यदि अनामिका वक्र हो, तो त्रिपताक हस्त होता है, जिसका विनियोग आँसू पोछने, ललाट-रचना, द्रव्य के स्पर्श और आचमन इत्यादि मे होता है।

यदि इस हस्त मे तर्जनी मध्यमा के अपर भाग का अवलोकन करे,

---

१ (क) सप्तास्यो। २ (क) कांगोल, (ख) कांगूल। ३. (क) चूलक।
४. (क) खेनयाश्रय। ५ (क) यद्याख्या। ६. (क) लग्नाम।

[1]कर्तर्याख्या वितर्के स्याद् दंष्ट्रयोर्दर्शनादिषु ।

चतुर :—

पताकेऽनामिकामूलस्थाग्रोऽङ्गुष्ठः कनीयसी ॥४२॥

पृष्ठगा[2] चतुरस्त्वल्पे नयोक्तौ नयनादिषु ।

हंसपक्ष :—

हसपक्ष पताके चेत्[3] पृष्ठगा स्यात् कनीयसी ॥४३॥

[4]भोजने स्पर्शने लेपे [5]दूरसन्देशनादिषु ।

अर्धचन्द्र —

[6]आद्यापसृत्य वक्रान्याश्चापवत्कुञ्चिता[7] युता. ॥४४॥

[8]स उक्त अर्धचन्द्राख्यश्चन्द्रलेखादिदर्शने ।

सर्पास्य —

यद्यर्धेन्दुयुतास्सर्वा अङ्गुल्यस्सर्पशीर्षकः ॥४५॥

भुजङ्गमगतौ तोयसेचनास्फालनादिषु[9] ।

मृगशीर्षक —

ज्येष्ठाकनिष्ठे प्रोत्क्षिप्ते यद्यस्मिन् मृगशीर्षक[10] ॥४६॥

तो 'कर्तरी' हस्तहोता है, वितर्क मे अथवा दाढो के दर्शन इत्यादि के अभिनय मे इसका विनियोग है। पताक हस्त मे यदि अँगूठा अनामिका के मूल मे स्थित हो और कनिष्ठिका पीछे हो, तो 'चतुर' हस्त होता है, इसका विनियोग अल्पत्वदर्शन, नयोक्ति, नयन इत्यादि मे होता है। पताक मे यदि कनिष्ठिका पृष्ठगा हो तो 'हसपक्ष' होता है ॥३९-४२॥

हसपक्ष का विनियोग, भोजन, स्पर्श, लेप, दूर सन्देशन इत्यादि मे है।

अगुष्ठ को पृथक् करके यदि तर्जनी इत्यादि यदि सटी और धनुष के समान झुकी या मुडी हो, तो 'अर्धचन्द्र' हस्त होता है, इस का विनियोग चन्द्रकला इत्यादि के दर्शन मे है।

यदि सभी अँगुलियाँ अर्धचन्द्रयुक्त हो, तो सर्पशीर्षक हस्त होता है।

---

१. (क) कर्तर्यास्या । २ (ख) पृष्ठभागाच्चतुरस्वल्पेनोक्तौ नयनादिषु ।

३. चित् । ४ (क) भुजगे । ५ (क) सेति ।

६. (क) आद्यापश्रुत्य । ७. (क) चारवत् । ८. (क) सयुक्त ।

९. (ख) यद्यर्द्धन्दौ । (ख) लालनादिषु । १०. नगशीर्षक ।

[1]स्वोल्लासनाक्षविक्षेपस्वेदापनयनादिषु ।

अराल .—

[2]सर्पास्ये तर्जनी वक्रा यद्यरालो हितोक्तिषु ॥४७॥

[3]स्यादाशीर्वादसौन्दर्य्यवीर्य्यसङ्कीर्तनादिषु ।

शुकतुण्ड .—

चेद्वक्रानामिकाराले शुकतुण्डो विसर्जने ॥४८॥

न त्व नाह न कर्तव्य धिगित्यादिषु लक्ष्यते ।

सन्दंश :—

सन्दशस्तर्जनीज्येष्ठायोगोऽरालकरे[4] यदि ॥४६॥

[5]ध्याने पुष्पावचाये वा स्तोके निष्पीडनादिषु ।

सन्दशस्त्रिप्रकार स्यात् पार्श्वजो मुखजोऽग्रज ॥५०॥

इत्यनेक प्रयोगेषु दिगम्बरमतोदितः ।

भ्रमर —

[6]मध्यमाद्याग्रयोगश्चेदराले भ्रमर कर ॥५१॥

इसका विनियोग सर्प की गति, नीर के सीचने और उछालने इत्यादि मे है ।

जिसमे अगूठा और कनिष्ठिका उत्क्षिप्त हो, वह 'मृगशीर्षक' है । उल्लास, पासा फेकने, पसीना पोछने इत्यादि मे इसका विनियोग है ।

सर्पास्य मे यदि तर्जनी वक्र हो तो 'अराल होता है, हितोक्ति, आशीर्वाद सौन्दर्य्य और पराक्रम के वर्णन मे इसका विनियोग होता है । यदि 'अराल' और अनामिका वक्र हो, तो शुकतुण्ड होता है विसर्जन 'तू नही या मैं नही, नही करना, है, धिक्कार है, इत्यादि अर्थों मे इसका विनियोग है । यदि अराल मे तर्जनी और अगुष्ठ मिले हो, तो सन्दंश होता है, ध्यान, पुष्पचयन, अल्पबोधन और निचोडने इत्यादि मे इसका विनियोग है ।

सन्दश तीन प्रकार का होता है, पार्श्वज, मुखज और अग्रज । दिगम्बर के मत में यह अनेक प्रयोगो मे विनियुक्त है ।

---

१. (क) सोल्लास नाक्षनिक्षेप । २ (क) सर्वास्ये । ३ (ख) स्यादाशीर्वादनैधैर्य्यं ।
४. (क) रोगो रागकरे यदि । ५. (क) कुसुमावचये । ६ (क) मध्यमध्याग्रयोग ।

कर्णपूरा [1]यताब्जादिग्रहादौ चित्रकर्म्मणि ।

पद्मकोष :—

ऊर्ध्वास्याः कुञ्चितास्सर्वा अङ्गुल्यो विरला यदि ॥५२॥
पद्मकोषः कपित्थस्त्रीस्तनोत्फुल्लाम्बुजादिषु ।

ऊर्णनाभ :—

पद्मकोषे कराङ्गुल्यो वक्राश्चेदूर्णनाभकः ॥५३॥
कुष्ठरोगिणि शार्दूले शिरः कण्डूयनादिषु ।

अलपद्म :—

आवर्तिन्योन्तराङ्गुल्यः पद्मकोषे भवन्ति चेत् ॥५४॥
अलपद्मस्तु शून्योक्तौ नंद्यावर्तादिकीर्तने ।

मुकुर :—

पद्मकोषे युताग्राश्चेदङ्गुल्यो मुकुरः करः ॥५५॥
पूजाभोजनसङ्कोच पद्मादिमुकुलादिषु ।

हंसास्य —

हंसास्यो मुकुरन्ति चेदङ्गुल्यौ सम्प्रसारिते ॥५६॥

अराल मे यदि अंगुष्ठ और मध्यमा के अग्रभाग मिले हों, तो 'भ्रमर' होता है,

कर्णपूर, खिले हुए कमल के पकड़ने तथा चित्रकर्म्म मे इसका विनियोग है ।

यदि सभी अंगुलियाँ विरल, उन्मुख कुंचित हों तो पद्मकोष होता है । इसका विनियोग कपित्थ. स्त्रीस्तन, खिले कमल आदि में होता है ।

पद्मकोष में यदि हाथ की अंगुलियाँ वक्र होतो 'ऊर्ण' होता है ॥४४-५३॥ कुष्टरोग, शार्दूल, सिर के खुजाने इत्यादि में इसका विनियोग है ।

यदि पद्मकोष में अंगुलियाँ आवर्तिनी हों, तो 'अलपद्म' होता है, जिसका विनियोग शून्योक्ति, नन्द्यावर्त इत्यादि के कीर्तन में होता है ।

---

१. (क) यताब्दादि ।

तप्तमाष[1] [2]ग्रहाकारस्निग्धसंवर्द्धनादिषु ।

काङ्गूल —

काङ्गूलेऽनामिका वक्रा भृशमन्या प्रसारिता ॥५७॥

[3]चुल्लीविडालचेष्टादौस्तोकेबालास्तनादिषु ।

मुष्टि —

[4]तर्जन्याद्यास्तलस्थाग्रा उपर्य्यङ्गुष्ठपीडिता[5] ॥५८॥

यदि मुष्टि प्रहारासिग्रहनिष्पीडनादिषु ।

शिखर —

ऊर्ध्वं प्रसारितोऽङ्गुष्ठो मुष्टौ[6] चेच्छिखर कर ॥५९॥

[7]स्यादधररञ्जनादौ धनुर्दण्डग्रहादिषु ।

कपित्थ —

तर्जन्युत्क्षिप्य वक्रा चेच्छिखरेऽङ्गुष्ठपीडिता ॥६०॥

कपित्थ स्मरणे चक्रग्रहे निष्पीडनादिषु ।

कटकामुख —

कपित्थेऽन्त्ये समुत्क्षिप्य वक्रे चेत् कटकामुख[8] ॥६१॥

पद्मकोष मे यदि अगुलियो के अग्रभाग सयुक्त हो, तो मुकुर' होता पूजा भोजन सकोच पजा दर्पण इत्यादि मे इसका विनियोग है। मुकुर के अन्त मे यदि दो अगुलियाँ फैली हो, तो हसास्य होता है,

तप्तमाष के ग्रहण के आकार (1) स्निग्ध वस्तु और सवर्द्धन के अभिनय मे उसका विनियोग है। काङ्गूल' मे अनामिका वक्र तथा अन्य अगुलियाँ प्रसारित रहती है।

चूल्हे विलाव की चेष्टा अल्पत्व, बाला-स्तन इत्यादि मे उसका विनियोग है। यदि तर्जनी इत्यादि अगुलियो के अग्रभाग हथेली पर हो और अगुष्ठ के द्वारा दबे हुए हो तो 'मुष्टि' होता है।

प्रहार खड्गग्रहण और निचोडने इत्यादि मे इसका विनियोग है, यदि मुष्टि मे अगुष्ठ ऊपर की ओर फैला हो तो 'शिखर' होता है।

१ (क) सप्त। २ (ख) सार। ३ (क) चुल्लशिलाभ ज्येष्ठादि, (ख) चुल्लीबिलाक ज्येष्ठादि। ४ (क) तर्जन्याग्रा। ५ (क) उपगारवृत्तिषु। ६ (क) भृष्टा।
७. (क) दवर। (क) ८ कपिकामुख।

प्रग्रहाकर्षणादर्शधारणादिषु लभ्यते[1] ।

सूच्यास्य —

सूच्यास्य कटकास्ये चेत् तर्जनी स्यात्प्रसारिता[2] ॥६२॥
साधुवादे प्रदर्शने प्रयोज्यस्तर्जनादिषु ।

ताम्रचूडक —

भ्रमरेऽन्त्ये तलस्याग्रे स्याताञ्चेत्ताम्रचूडक[3] ॥६३॥
स शीघ्रतालपातादौ[4] बुधैर्हस्त प्रयुज्यते ।

(इत्यसयुक्तहस्ता)

संयुक्तहस्ता —

हस्तोऽञ्जलिः कपोतश्च कर्कटा वर्धमानक ॥६४॥
कटकावर्द्धमानश्च स्वस्तिको गजदन्तक[1] ।
दोलोऽवहित्थश्चोत्सङ्गो निपध पुष्पपुट कर ॥६५॥
मकरश्चेति सयुक्ता हस्तास्ते त्रयोदश ।

अञ्जलि —

[2]पताकयोस्तलश्लेषादञ्जलि क्षालनादिषु ॥६६॥

अधररञ्जन धनुप या दण्ड के ग्रहण मे इसका विनियोग है। यदि शिखर मे तर्जनी उठकर टेढी और अगुष्ठ से दबी हुई हो तो कपित्थ होता है।

स्मरण चक्र ग्रहण निष्पीडन इत्यादि मे इसका विनियोग है। यदि कपित्थ मे अन्तिम दो अँगुलियाँ उभर रही हुई हो तो कटकामुख होता है जो प्रग्रह आकर्षण दर्पणधारण इत्यादि मे उपलब्ध है। यदि कटकामुख मे तर्जनी फैली हो तो सूच्यास्य होता है। साधुवाद प्रदर्शन, तर्जन इत्यादि मे इसका विनियोग है।

यदि भ्रमर मे अन्तिम अगुलिया तल के अग्र मे हो तो ताम्रचूड' होता है ॥५८-६३॥

बुद्धिमानो के द्वारा उसका प्रयोग शीघ्रतालपात आदि मे होता है।

(ये असयुत हस्त हुए)

अञ्जलि कपोत, कर्कट वर्धमान, कटकावर्द्धमान स्वस्तिक, गज-

---

१ लक्ष्यते । २ (क) चेत् । ३ चण्डक । ४ पातादौ ।

१ (क) गजदन्तिक (ख) राजदन्तक । २ (ख) पताकस्थलयो ।

[1]महेशगुरुपूज्यानामयं स्यादभिवादने ।

कपोत :—

सर्पशीर्षद्वयोः श्लेषात् कपोतोऽङ्गुलिघर्षणे ॥६७॥

प्रणामेऽभयशीतार्ते गुरुसम्भावनादिषु ।

कर्कट —

पद्मकोषयुगाङ्गुल्य अन्योन्यान्तर निर्गताः[2] ॥६८॥

चेत्कर्कटोऽङ्गसम्मर्दहनुशङ्खग्रहादिषु ।

वर्द्धमान —

वर्द्धमानः कपित्थेन वेष्टितो मुकुलो यदि ॥६९॥

सर्वसङ्ग्रहसंक्षिप्तसत्यवाक्यादिषु स्मृतः ।

कटकावर्द्धमान —

कटके न्यस्तकटक. कटकावर्द्धमानक. ॥७०॥

[3]कुन्ताद्यायुधसङ्ग्राहकाहलावादनादिषु ।

स्वस्तिक :—

युतमणिबन्धोत्तानारालावन्योन्यपार्श्वगौ ॥७१॥

दन्त, दोल, अवहित्थ, उत्सङ्ग, निषध, पुष्पपुट और मकर ये तेरह सयुक्त हस्त है ।

दोनोंपताक हस्तो की हथेलियाँ मिलने से 'अजलि' होता है, प्रक्षालन आदि (जिनेश), महेश, गुरु तथा पूज्य जनों के अभिवाद में इसका विनियोग होना है, सर्पशीर्ष हस्तों के सयोग से कपोत होता है। प्रणाम, अभय, शीतार्त, गुरु सम्मान इत्यादि मे इसका विनियोग है । यदि पद्मकोष हस्तों की अँगुलियाँ एक दूसरे मे निकल गई हों, तो 'कर्कट' होता है।

अङ्गमर्दन, ठोड़ी, शङ्ख इत्यादि के ग्रहण इत्यादि में इसका विनियोग है ।

कपित्थ के द्वारा यदि मुकुल वेष्टित हो, तो वर्द्धमान होता है, सर्वसग्रह, संक्षिप्त, सत्य वाक्य इत्यादि में इसका विनियोग है । यदि कटक

---

१. (क) जिनेश । २. (क) अन्योन्याङ्गुल्य निर्गताः । ३. (क) कुन्ताध्यायः ।

स्वस्तिकः सर्वसङ्कीर्णबन्धनानयनादिषु ।

गजदन्त :—

पुरः प्रसारितौ किंचिदुत्तानौ सर्पशीर्षकौ ॥७२॥

गजदन्तशिलावत्सगुरुभारग्रहादिषु ।

दोल:—

दोलाहस्तः पताकौ द्वौ प्रलम्बितभुजौ यदि ॥७३॥

[1]विषादसम्भ्रमव्याधिलीलामूर्च्छामदादिषु ।

अवहित्थ :—

अवहित्थः शुकतुण्डौ वक्षसोऽभिमुखौ युतौ ॥७४।

शनैरधोमुखाविद्धौ[2] दौर्बल्योत्कण्ठितादिषु ।

उत्सङ्ग —

पराङ्मुखावरालौ द्वावूर्ध्वास्यौ सङ्गतौ यदि ॥७५॥

हस्त पर कटकहस्त रखा हो, तो कटकावर्द्धमान होता है ।

माला इत्यादि आयुधो के ग्रहण, काहला इत्यादि के वादन में इसका विनियोग है ।

अराल मुद्रा मे यदि दोनो हाथ उत्तान हो एक-दूसरे के पार्श्व में गये हों, और उनकी कलाइयाँ जुडी हों, तो स्वस्तिक' होता है, सङ्कीर्ण बन्धन में बाँधकर लाने इत्यादि में इनका विनियोग है ।

यदि सर्पशीर्षक हाथ कुछ उत्तान और सामने फैले हो, तो 'गजदन्त' होता है ।

शिला, वत्स अथवा अधिक भार के उठाने मे इसका विनियोग है ।

यदि दोनों पताक हस्तो मे भुजाएँ फैली हो, तो दोलाहस्त होता है ॥६४-७३॥

विषाद, सम्भ्रम, व्याधि, लीला, मूर्च्छा और मद मे इसका विनियोग है ।

यदि शुकतुण्ड अवस्था में दोनो हाथ वक्ष के सामने हों और धीरे से आविद्ध होकर अधोमुख हो जायें, तो 'अवहित्थ' होता है ।

---

१. (ख) विषादसभ्रयाम्याधि । २. (क) दौबिल्यात्खाण्डितादिषु ।

उत्सङ्गः स्यात् प्रियाश्लेषकन्दुकादिनिवारणे ।

निषध —

निषधो दक्षिणो मुष्टिर्वामकूर्परमध्यगः ॥७६॥
प्रकाण्डो दक्षिणो वास्यादधृतौ गर्वादिदर्शने ।

पुष्पपुट :—

कनिष्ठापार्श्वसश्लिष्टावुत्तानौ[1] सर्पशीर्षकौ ॥७७॥

पुष्पपुटः पुष्पाञ्जलिजलदानादि[2]कर्मसु ।

मकर :—

मणिबन्धे युतावुत्तानावतानौ पताककौ ॥७८॥
मकरः सिंहशार्दूलमकराभिनयादिषु ।
(इति संयुत हस्तास्त्रयोदश)

नृत्यजास्सप्तविंशति हस्ता —

चतुरस्रावुद्वृत्तौ च करौ[3]स्वस्तिकवद्युतौ ॥७९॥

'दौर्बल्य' एव उत्कण्ठित इत्यादि मे इसका विनियोग है। यदि दोनों अरालहस्त पराङ्मुख अवस्था मे परस्पर जुडे हुए और उन्मुख हो, तो 'उत्सङ्ग' हस्त होता है, प्रिय के आश्लेष और गेंद इत्यादि के रोकने मे इसका विनियोग है।

यदि दाहिना हाथ 'मुष्टि' अवस्था मे बायें हाथ की कुहनी पर हो, अथवा वहाँ दाहिना प्रकाण्ड हो, तो 'निषध' होता है।

धैर्य्य, गर्व आदि के प्रदर्शन मे इसका विनियोग है। कनिष्ठा यदि पार्श्वलग्न हो और सर्पशीर्षक अवस्था मे दोनो हाथ उत्तान हों तो 'पुष्पपुट' होता है।

पुष्पाञ्जलि, जलदान, इत्यादि, कार्य्यों में इसका विनियोग है। यदि चित होकर दोनों हाथ पताक अवस्था में कलाइयो पर संयुक्त हों, तो 'मकर' होता है, सिंह, शार्दूल, मगर इत्यादि के अभिनय मे इसका विनियोग है।

(ये तेरह संयुक्त हस्त हुए)

---

१. (क) उत्तालौ। २. (क) धानादि। ३. (क) काक।

सूचीमुखौ तलास्यौ च रेचितावर्धरेचितौ[१] ।
आविद्धवक्रौ पल्लवावरालकटकामुखौ ॥८०॥
[२]नितम्बौ केशबन्धौ च हस्तावुत्तानवञ्चितौ ।
[३]लताख्यौ करिहस्तौ[४] च पक्षवञ्चितकौ करौ ॥८१॥
पक्षप्रद्योतकौ दण्डपक्षौ गरुडपक्षकौ ।
मुष्टिक स्वस्तिकादूर्ध्वं पार्श्वमण्डलिनौ करौ ॥८२॥
उरोमण्डलिनौ हस्तावुर पार्श्वार्द्धमण्डलौ ।
नलिनोपद्मकोषाख्यावुल्वणौ ललितौ करौ ॥८३॥
वलिताविति हस्ता स्युर्नृत्यजास्सप्तविंशति ।

चतुरस्रकौ

खटकास्यावभिमुखौ वक्षसाऽष्टाङ्गुलान्तरे ॥८४॥
[५]स्थितौ समानकूर्परावसाग्रौ **चतुरस्रकौ** ।

उद्वृत्तौ –

[६]व्यावृत्तहंसपक्षौ द्वावुद्वृत्तौ हंसपक्षकौ ॥८५॥

चतुरस्रउद्वृत्त, स्वस्तिक, सूचीमुख, तलास्य, रेचित, अर्धरेचित, आविद्धवक्त्र, पल्लव अरालखटकामुख, नितम्ब, केशबन्ध, उत्तानवञ्चित, लताख्य, करिहस्त, पक्षवञ्चितक पक्षप्रद्योतक, दण्डपक्ष, गरुड पक्ष, मुष्टिक पार्श्वमण्डली ॥७८-८२॥

उरोमण्डली, उर पार्श्वार्द्धमण्डली, नलिनीपद्मकोष, उल्वण, ललित और वलित ये सत्ताईस नृत्यज हस्त हे ।

वक्ष से आठ अगुल के अन्तर पर स्थित ऐसे हस्त 'चतुरस्त्र' कहलाते है जो अभिमुख हो और जिनम कुहनियाँ कन्धो की सीध मे रहे । व्यावृत्त किये हुए हंसपक्ष हस्त 'उद्वृत्त' कहलाते है ।

मणिबन्ध पर जुडे हुए स्वस्तिकवत् हस्त 'स्वस्तिक' कहलाते है ।

जिनमे अँगूठ हथेली के मध्य मे हो, भुजाएँ तिरछी फैली हो और

---

१. (क) रेचिकौ । २ (ख) नितम्बं केशवन्धं च । ३ (क) आरास्यौ । ४ (क) करिहस्यौ ।
५. (क) स्थितौ—मानकूर्परयजाग्रौ । ६. (क) व्यावृत्त । ७ (क) वृद्घृतौ ।

स्वस्तिकौ—

[1]**स्वस्तिकौ** मणिबन्धे तु युतौ[2] स्वस्तिकवद्युतौ[3] ।

सूचीमुखौ—

तलमध्यस्थिताङ्गुष्ठावुत्तानौ सर्पशीर्षकौ ॥८६॥

तिर्य्यक् प्रसारितमुखौ **सूचीमुखकरौ** वरौ ।

तलमुखौ—

चतुरस्रकरौ हंसपक्षावन्योन्यसम्मुखौ ॥८७॥

तिर्य्यग्वक्षःस्थलस्थौ तु करौ **तलमुखौ** मतौ ।

रेचितौ, अर्धरेचितौ—

प्रसारितोत्तानतलौ हंसपक्षौ द्रुतभ्रमौ[4] ॥८८॥

रेचितौ चतुरस्रश्चेदत्रैकस्त्व**र्धरेचितौ**[5] ।

आविद्धवक्त्रौ—

[6]प्रकाण्डकुटिलाविद्धौ करा**वाविद्धवक्त्रकौ** ॥८९॥

पल्लवौ—

मणिवन्धेन युक्तौ द्वौ पताकौ **पल्लवौ** स्मृतौ ॥९०॥

अरालकटकामुखौ —

अरालकटकौ हस्ताव**रालकटकामुखौ** ॥९०॥

जो सर्पशीर्षक अवस्था में उत्तान हो, वे सूचीमुख' हस्त हैं। यदि चतुरस्र अवस्था में हसपक्ष हस्त परस्पर सम्मुख हो, और तिरछे होकर वक्षस्थल पर स्थित हों तो 'तलमुख' कहलाते है ।

यदि प्रसारित हो कर उत्तानतल हंसपक्ष द्रुत भ्रमण से युक्त हों, तो 'रेचित' है ।

यदि दोनों हाथो मे से एक चतुरस्र हो, तो 'अर्धरेचित' है ।

यदि आविद्ध हस्त प्रकाण्ड पर टेढे हो, यो 'आविद्धवक्र' है ॥७४-८९॥

दो पताक हस्त मणिवन्ध पर जुड़े हों, तो 'पल्लव' है । अरालकटक अवस्था मे दोनों हस्त 'अरालकटकामुख, कहलाते है। यदि ऊर्ध्व हस्त

---

१. (क) स्वस्तिका । २. (क) चुतौ । ३. (क) विच्युतौ ।

४. (क) घृतभ्रमौ । ५. (क) स्पर्धरेचितौ । ६. (क) प्रकाण्डे कुपिताविद्धौ ।

नितम्बौ—

नितम्बौ पार्श्वयोरूर्ध्वौ [1]बाहुशीर्षाद् विनिर्गतौ ।

केशबन्धौ—

केशदेशाद् विनिष्क्रान्तौ पार्श्वद्वयसमुद्गतौ ॥९१॥

केशबन्धकरौ प्रोक्तौ तौ **दिगम्बर** सूरिणा ।

उत्तानवञ्चितौ —

उत्तानवञ्चितौ किञ्चित्पार्श्वगौ त्रिपताककौ ॥९२॥

लताख्यौ—

प्रसारि तौ **लताख्यौ** तु सम्यक् तिर्यक् प्रसारितौ ।

विलोलित [2]पार्श्वात्पार्श्वं **लताहस्त** समुन्नत ॥९३॥

करिहस्त :—

कर्णस्थ· त्रिपताकोऽन्य **करिहस्तः** प्रकीर्तित ।

पक्षवञ्चितौ —

कट्यग्रविनिविष्टाग्रौ पताकौ **पक्षवञ्चितौ** ॥९४॥

बाहुशीर्ष से निकलकर दोनो ओर हो, तो 'नितम्ब' हस्त कहलाते है। केशस्थान से निकल कर दोनो पार्श्वों मे गये हुए हस्त **दिगम्बर** सूरि ने 'केशबन्ध' बताये है।

त्रिपताकहस्त कुछ पार्श्व मे गये हुए हो, तो 'उत्तानवञ्चित' कहलाते है ॥९०-९२॥

भली भाँति तिरछे फैलाये हुए हस्त 'लताख्य' कहलाते हैं।

एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व तक समुन्नत एवं विलोलित एक 'लता हस्त' हो और दूसरा त्रिपताक अवस्था म कर्णस्थ हो, तो 'करिहस्त होता है। यदि दोनो पताकहस्तो के अग्रभाग कटि के अग्रभाग में स्थित हो, तो 'पक्षवञ्चित' हस्त' होते है ॥९३-९४॥

---

१. (ख) रुद्धौ ।

२. (ख) त पाश्चात् ।

पक्षप्रद्योतकौ—

परावृत्तौ पुनस्तौ द्वौ **पक्षप्रद्योतकौ** करौ ।

दण्डपक्षौ—

तिर्य्यक् प्रसारितभुजौ व्यावृत्तपरिवर्तितौ ॥९५॥

हंसपक्षकरौ **दण्डपक्षावुक्तौ दिगम्बरैः** ।

गरुडपक्षकौ—

अधोमुखतलाविद्धौ किञ्चित्तिर्यक् प्रसारितौ ॥९६॥

हंसपक्षकरौ स्यातां तौ द्वौ **गरुडपक्षकौ** ।

मुष्टिकस्वस्तिकौ—

स्वस्तिकौ[1] कटकास्यौ द्वौ कुञ्चितावञ्चितौ यदि ॥९७॥

एकधा बहुशोवाथ **मुष्टिकस्वस्तिकौ** मतौ ।

ऊर्ध्वपार्श्वमंडलिनौ—

[2]मूर्ध्निपार्श्वद्वये चैव मण्डलावृत्तिवर्तनात् ॥९८॥

आशाम्बरमतादूर्ध्वपार्श्वमण्डलिनौ करौ ।

उरोमण्डलिनौ—

बहुशो वक्षसोऽन्योन्यं वेष्टनोद्वेष्टनक्रमात् ॥९९॥

यदि वे दोनों परावृत्त हो, तो 'पक्षप्रद्योतक' होते है । यदि हंसपक्ष हस्त हो, भुजायें तिरछी फैली हो क्रमशः व्यावृत्ति और परिवर्तन हो, तो **दिगम्बर** ने 'दण्डपक्ष' हस्त बताये है ।

यदि आविद्ध हस्तो की हथेलियाँ अधोमुख हो, और तिरछे फैले हुए हाथ हंस पक्ष हों, तो 'गरुडपक्ष' कहलाते है ।

यदि स्वस्तिक और कटकास्य हस्त एक या अनेक वार कुञ्चित और अञ्चित हो, तो 'मुष्टिकस्वस्तिक' कहलाते है ।

सिर तथा दोनों पार्श्वों मे मण्डलावृत्ति करने से **दिगम्बर मत में** **'ऊर्ध्वपार्श्वमण्डली'** हस्त होते हैं । वक्ष के सम्मुख यदि मण्डली हस्त, **वेष्टन और उद्वेष्टन के क्रम से** घुमाये जायें, तो 'उरोमण्डली' कहलाते हैं ।

---

१. (क) कटकौ स्याद् द्वौ । २. (क) मूर्ध्नि च पार्श्व द्वितये ।

भ्रान्तौ मण्डलिनौ हस्तौ **उरोमण्डलिनौ** मतौ ।

उर पार्श्वार्द्धमण्डलौ—

श्लथमणिबन्धावरालावुर पार्श्वार्द्धदेशयो ॥१००॥

भ्रान्तौ मण्डलिनौहस्तावुर **पार्श्वार्द्धमण्डलौ** ।

नलिनीपद्मकोषकौ

[1]व्यावृत्त्या परिवृत्त्या च पदमकोषाभिधौ करौ ॥१०१॥

स्याता जानुसमीपस्थौ **नलिनीपद्मकोषकौ** ।

उल्वणौ—

[2]**उल्वणा**वूर्ध्वगाविन्नोदवेष्टिताग्रौ तु पल्लवौ ॥१०२॥

ललितौ—

[3]मस्तकोददेशसम्प्राप्तौ **पल्लवौ** ललितौ मतौ ।

वलितौ—

कूपरस्वस्तिक[4]युतौ लताख्यौ **वलिताविति** ॥१०३॥

लोकव्यवहृतौ युद्ध नियुद्ध नतनादिषु[5] ।

नानाप्रयोग दशनादहस्तो नास्ति किञ्चन ॥१०४॥

यदि मणिब व शिथिल हो और वक्ष और पार्श्वार्द्ध स्थान मे मण्डली हस्त घुमाये जाय तो उर पार्श्वार्द्धमण्डल कहलाते है। पद्मकोष हस्त व्यावृत्ति और परिवृत्ति के द्वारा यदि जानु के समीप स्थित हो तो नलिनी पद्मकोश हस्त होते है ।

ऊपर की ओर गये हुए व पल्लव हस्त उल्वण है जिनके अग्रभाग आवेष्टित और उदवेष्टित हो ॥१०२॥

मस्तक प्रदेश तक आये हुए पल्लव हस्त ललित है । कूपर स्वस्तिक युक्त लताख्य हस्त वलित है ॥१०३॥

लोकव्यवहार युद्ध द्वन्द्व युद्ध नतन इत्यादि मे विभिन्न प्रयोगो के दशन से (सिद्ध है) कि हस्तव्यापाररहित कोई भी कार्य्य नही है ॥१०४॥

---

१ (ख) व्यावतपरिवर्तौ च । २ (ख) उल्वणादूध्वगाविष्टोद्वष्टिताग्रौ ।
३ (ख) मस्तकौ देश । ४ (ख) गतौ । ५ (क) वतनादिषु । ६ (ख) दशनादि ।

कुर्वन्नावेष्टितोद्वेष्टितान्यङ्गीकर्मणा गतौ ।
[1]क्षणादावर्तितं हस्ते लभते परिवर्तनम् ॥१०५॥
आवेष्ट्यन्तेन्तरंगुल्यस्तर्जन्याद्या[2]यदि क्रमात् ।
आवेष्टितं[3] यथोद्वेष्टिताख्यमुद्वेष्टनाद् बहिः ॥१०६॥
आवर्त्यन्तेऽन्तरङ्गुल्यस्तर्जन्याद्या यदि क्रमात् ।
[4]आवर्तित बहिर्वृत्तेस्तथासौ परिवर्तित. ॥१०७॥

दश बाहव :—

बाहवस्तिर्य्यगूर्ध्वाधः पृष्ठगा कुञ्चितोऽञ्चितः ।
स्युर्मण्डलस्वस्तिकाविद्धापविद्धा दशेति ते ॥१०८॥
हस्तसंख्या प्रसिद्धाह हस्तलक्षणमब्रुवम्[5] ।
देशीनृत्ते तु नान्विष्यास्सर्वहस्ता जगज्जनै ॥१०९॥

चतुर्विध. पार्श्व —

समुन्नत नतञ्चैव प्रसारितमथापरम् ।
व्यावृत्तञ्चेति पार्श्वस्य चतुर्धा भेद ईरितः ॥११०॥

गति मे अङ्गव्यापार से अविष्टित और उद्वेष्टित करता हुआ (मनुष्य) क्षण मे हाथ में आवर्तन और परिवर्तन प्राप्त करता है ॥१०५॥

जब क्रमश तर्जनी आदि अँगुलियाँ अन्दर की ओर की जाती है, तब आवेष्टन और जब बाहर की ओर खोली जाती हैं, तब उद्वेष्टन होता है ॥१०६॥

अँगुलियाँ यदि अन्दर की ओर आवर्तित की जायें, तो आवर्तित और बाहर की ओर की जायें, तो परिवर्तन होता है ॥१०७॥

बाहु दस प्रकार के हैं, तिर्य्यगगत, ऊर्ध्वगत, अधोगत, पृष्ठगत, कुञ्चित, अञ्चित, मण्डल, स्वस्तिक, आविद्ध और अपविद्ध । यह प्रसिद्ध हस्तसंख्या है । हस्तलक्षण मैने कह दिया ।

लोगो को देशी नृत्त में समस्त हस्त नही ढूढना चाहिये ॥१०९॥

पार्श्व के चार भेद समुन्नत, नत, प्रसारित तथा व्यावृत्त हैं ॥११०॥

---

१. (क) रसादा वर्तित, (ख) रणादावर्तित । २. (क) कनिष्ठाद्या । ३. (क) ततो ।
४. (ख) व्यावर्तित । ५. (क) मब्रवीत् ।

समुन्नतैः कटिपार्श्वभुजांसैरुन्नत[1] भवेत् ।
व्याभुग्ना तु कटिर्यत्र स्कन्धोऽप्याहुस्ततोमनाक् ॥१११॥
नताभिधान तत्पार्श्वं कथितं नाट्यवेदिभिः ।
आयामनात्प्रसारीति [2]पार्श्वाभ्यां तु प्रसारितम् ॥११२॥
त्रिकस्य परिवर्तेन[3] स्याद् व्यावृत्तमपोहनात् ।

पञ्चविधा कटि —

निवृत्ता रेचिता छिन्ना कम्पितोद्वाहिता तथा ॥११३॥
इति पञ्चविधा प्रोक्ता कटिर्नाट्यविशारदैः ।
निवृत्ता सा कटिर्ज्ञेया सम्मुखी वा पराङ्मुखी ॥११४॥
परितो भ्रमणाज्ज्ञेया सञ्ज्ञया **रेचिता** कटिः ।
तिर्यङ्मध्यस्थ वलनाच्छि**छिन्ना** नाम्ना कटिर्भवेत् ॥११५॥
क्षिप्रं गतागतैस्तिर्यक् **कम्पिता** कथिता गतौ ।
उद्वाहिता शनैः पार्श्वनितम्बोद्वाहनात्कटिः ॥११६॥

कटि, भुजा, पार्श्व और कन्धे उन्नत होने पर 'उन्नत' होता है, जहाँ कटि और कन्धा भी कुछ झुके हो, वह पार्श्व नाट्यवेदियों की उक्ति के अनुसार 'नत' है।

फैलाने से प्रसारी और दोनो पार्श्वों से 'प्रसारित' होता है ॥१११, ११२॥

त्रिक (पृष्ठ देश के अधोभाग) परिवर्त के द्वारा अपोहन से 'व्यावृत्त' होता है।

निवृत्ता, रेचिता, छिन्ना, कम्पिता और उद्वाहिता यह पञ्चविध कटि नाट्यविशारदो ने बताई है। सम्मुख अथवा पराङ्मुख कटि 'निवृत्ता' है ॥११३, ११४॥

चारो ओर घुमाने से रेचित कटि होती है। मध्यभाग को तिरछा घुमाने से 'छिन्ना' नामक कटि होती है ॥११३-११५॥

वेगपूर्वक तिरछे गमनागमन से गति में 'कम्पिता' कटि और धीरे धीरे पार्श्व और नितम्ब के उद्वाहन से 'उद्वाहिता' कटि होती है ॥११६॥

---

१. (क), (ख) भुजाशैं। २ (क) द्विपार्श्वाभ्यां प्रसारितम्।
३. (ख) परिवर्तस्य।

पञ्चविध पाद :—

समश्चोद्घट्टितः कुञ्चितोऽञ्चितोऽग्रतलक्रमः ।
इति पञ्चविधः पादः समः स्वाभाविक क्रमः ॥११७॥
[1]पादाग्रस्थेन चेत्पार्ष्णिः सकृद्भूमौ निपात्यते ।
प्रयोगेणासकृद् द्वाभ्यांमुद्घट्टितपद समे ॥११८॥
कुञ्चिताग्रतलं भूस्था समे चेत्पार्ष्णिरुच्यते ।
कुञ्चितोऽभिनयायत्तस्तूदात्तगमनादिषु ॥११९॥
अञ्चिताङ्गुलिपादाग्रमुत्क्षिप्तञ्चेत्समेऽञ्चितः ।
[2]पादाग्रक्षितिसञ्चारभ्रभर्युद्वर्तनादिषु[3] ॥१२०॥
समे चेत्पार्ष्णिरुत्क्षिप्ता स्यादग्रतलसञ्चरः ।
पार्ष्णिक्षतगतिभ्रान्तिक्षोणीसंघट्टनादिषु[4] ॥१२१॥

अथोपाङ्गदर्शन्यान्येव सादरं निरूपयाम । कुतोऽय नियम. । तत्र मुख्यत्वात् —

पाद पाँच प्रकार का है, सम, उद्घट्टित, कुञ्चित, अञ्चित और अग्रतलक्रम । स्वाभाविक गति से युक्त पाद 'सम' है ।

यदि पादाग्रस्थित व्यक्ति के द्वारा एक या अनेक बार एड़ी भूमि पर लगाई जाये, तो समगति मे 'उद्धट्टित' पाद होता है ॥११६-११८॥

यदि समपाद मे अग्रतल कुञ्चित हो और पृथ्वी पर स्थित हो, तो 'कुञ्चित' पाद होता है, जो उदात्तगमन इत्यादि में प्रयोज्य है ॥११९॥

समपाद में अंगुलियाँ अञ्चित हो और पादाग्र उत्क्षिप्त हो, तो 'अञ्चित' होता है, पादाग्र के आधार पर भूमि मे चलने, भ्रमरी और उद्वर्तन इत्यादि मे इसका उपयोग है ॥११९-१२०॥

समपाद मे यदि एडी उठी हो, तो अग्रतलक्रम' होता है, इसका विनियोग घायल एड़ी से युक्त गति, भ्रान्ति और पृथ्वी के संघट्टन इत्यादि में होता है ॥१२१॥

अब आदर पूर्वक उपाङ्गदर्शनों का निरूपण करते है । यह नियम कहाँ से है ? उसमें मुख्यता होने से (है) ।

---

१. (क) पदाग्रस्तेन । २. (क) पादाग्रेक्षतसञ्चारा । ३. (क) भ्रमेर्युद्वर्तितादिषु
४. (क) क्षोणे ।

अष्टविधदर्शनानि—

समं साच्यनुवृतच ह्यालोकितविलोकिते ।
प्रलोकितमुल्लोकित चावलोकितमष्टधा ॥१२२॥
भवन्ति दर्शनान्येव पृथङ्नोक्तानि लक्षणैः ।
पुटपक्ष्माग्रकर्माणि लोचनानुगतान्यतः ॥१२३॥
समं सम **साचि** तिर्यक् रूपनिर्वर्णनायुतम् ।
अनुवृत्तं स्याद्दर्शन सहसा**लोकितं** मतम् ॥१२४॥
पृष्ठत: स्याद्**विलोकितं** पार्श्वाभ्यां तु **प्रलोकितम्** ।
ऊर्ध्वेक्षण**मुल्लोकित**मध: **प्रेक्षावलोकितम्** ॥१२५॥

देशिस्थानलक्षणम्—

[1]पादजङ्घोरुकरण सम कार्य्यं प्रयोक्तृभिः ।
पादस्य करण सर्व जङ्घोरुकृतमिष्यते ॥१२६॥
यथा प्रसर्पित. पादस्तथैवोरु प्रवर्तते ।
अनयोस्समानकरणात् पादचारी प्रयोजयेत् ॥१२७॥

सम, साचि अनुवृत्त, आलोकित, विलोकित, प्रतिलोकित, उल्लोकित और आलोकित ये अप्टविध दर्शन' है ।

लक्षणो के द्वारा ये पृथक् नही कहे । पपोटो और पलको के अग्रभाग के कर्म लोचनो के अनुगत है ।

अत समान 'सम', तिरछी दृष्टि 'साचि', रूप निहारना 'अनुवृत्त', सहसा देखना 'आलोकित' और पार्श्व की ओर देखना 'प्रलोकित', ऊपर देखना 'उल्लोकित' और नीचे देखना 'अवलोकित' है ॥१२२-१२५॥

प्रयोक्ताओ को पाद, जङ्घा और उरु की क्रिया साथ-साथ करनी चाहिये। पाद की सभी क्रिया जङ्घा और उरु द्वारा निष्पन्न होती है। ॥१२६॥

जिस प्रकार चरण चलता है, वैसे ही ऊरु भी प्रवृत्त होता है, इनके समान क्रिया से पादचारी प्रयुक्त होना चाहिए ॥१२७॥

---

१. (ख) पद ।

यतो पादस्ततो हस्तो यतो हस्तस्तथा त्रिकम् ।
पादस्य निर्गमं ज्ञात्वा ततोऽङ्गं विनियोजयेत् ॥१२८॥
पादचार्य्या यथा पादो धरणीमेव गच्छति ।
एवं हस्तश्चरित्वा तु कटीदेशं समाश्रयेत् ॥१२९॥
आङ्गिकाभिनयास्सर्वे सार्था सर्वत्र जाग्रति ।
देशीनृत्येषु सार्थत्वं नो विचार्य्यं विपश्चिता ॥१३०॥
प्रायो लोकप्रसिद्धानि कथ्यन्ते तेषु कानिचित् ।
पेरणं पेक्खणं चैव गुण्डली दण्डरासक. ॥१३१॥
अथैतानि समाश्रित्य वक्ष्यन्ते स्थानकादयः ।
नन्द्यावर्तकवर्द्धमानसमपात् तत्स्वस्तिक वैष्णवम् ।
पार्ष्ण्याविद्धकपार्ष्णिपार्श्वकपरावृत्तानि तद्गारुडम् ।
सूची खण्डपदोत्तरा समयुता सूची त्रिभङ्गीयुतम् ।
पार्ष्णी चैकपदोत्तरौ च चतुरस्र सूचिकं वैषमम्[1] ॥१३२॥

जहाँ चरण वहाँ हस्त, जहाँ हस्त वहाँ त्रिक होना उचित है, पाद का निर्गम जानकर तत्पश्चात् अङ्ग का विनियोग उचित है ॥१२८॥

पादचारी के द्वारा जैसे चरण भूमि पर ही जाता है वैसे ही क्रिया के पश्चात् हस्त कटि प्रदेश का आश्रय लेता है ॥१२९॥

सभी आङ्गिक अभिनय सार्थ होकर जाग्रत् रहते है, विद्वानो को देशी नृत्तों में सार्थता का विचार नहीं करना चाहिए ॥१३०॥

उनमें से कुछ लोकप्रसिद्ध स्थानक कहे जाते है। पेरण, पेक्खण, गुण्डली, दण्डरासक का आश्रय लेकर स्थानक आदि कहे जा रहे है।

नन्द्यावर्त, वर्द्धमान, समपाद, स्वस्तिक, वैष्णव, पार्ष्ण्याविद्धक, पार्ष्णि-पार्श्वक, परावृत्त, गारुड, खण्डसूची, समसूची त्रिभङ्गी, एकपार्ष्णि, एक पद, चतुरस्र, विषमसूची, पद्मासन, नागबन्ध, विषमपद्मासन अन्तरपद्मासन और कूर्मासन ये देशी 'स्थानक' है ॥१३१-१३४॥

---

१. (क) वैष्णवम् ।

पद्मासनं नागबन्धो विषमान्तरपूर्वके ।
पद्मासनं तथा प्रोक्त कूर्मासनमतः परम् ।।१३३।।
वर्द्धमानं यदि स्थान षडङ्गुलिकृतान्तरम् ।
नन्द्यावर्तं तदेवस्यान्नृत्यभेदविशारदैः ।।१३४।।
तिरश्चीनमुखौ पादौ पार्ष्णिभ्यां यत्र सङ्गतौ ।
स्थानकं **वर्द्धमानाख्यं** तदुक्तन्नृत्यकोविदैः ।।१३५।।
पार्ष्ण्यङ्गुष्ठयुतान्तरागमितिना ज्ञेयाश्चतुःषट् च ताः ।
अङ्गुल्यो ऋजुलम्बिबाहुयुगलं स्वाभाविकं सौष्ठवम् ।।
कर्णाग्रात् कटिगुल्फदेशसमता नाट्ये कुरङ्गीदृशः ।
स्थानं तत् समुदाहृत **समपदं** पुष्पाञ्जलिक्षेपणे ।।१३६।।
मञ्जीरस्थानसलग्नौ मिथ श्लिष्टकनिष्ठिकौ ।
कुञ्चितौ चरणौ यत्र स्थान **तत्स्वस्तिकं** मतम् ।।१३७।।
सममेकपद भूमावन्यत् किञ्चिच्च कुञ्चितम् ।
पुरः प्रसारित तिर्यक् स्थानक **वैष्णवं** विदु. ।।१३८।।

वर्द्धमान मे यदि नृत्यज्ञो ने छ अ गुल का अन्तर किया हो, तो वह 'नद्यावर्त' स्थानक हो जाता है ।।१३४।।

नृत्यज्ञों ने उस स्थानक को वर्द्धमान कहा है, जहाँ एडियाँ परस्पर जुडी हो और चरण तिर्यङ्मुख हो ।।१३५।।

जहाँ दोनो एडियो में चार और अँगूठों में छः अंगुल का अन्तर हो, वैसी ही अंगुलियाँ हों दोनो बाहु सीधे लटक रहे हो । स्वाभाविक सौष्ठव हो, कानों के अग्रभाग की सीधाई पर कटि और टखने हों, मृगनयनी नर्तकी का यह स्थानक (ठाठ) 'समपद' कहा गया है। पुष्पांञ्जलि-क्षेपण में इसका विनियोग है ।।१३६।।

जब चरण कुञ्चित हों, उनकी कनिष्ठिकाएँ परस्पर मिली हों, चरण नूपुरस्थान पर परस्पर सलग्न हों, तब वह 'स्वस्तिक' स्थानक कहलाता है ।।१३७।।

पार्ष्ण्यङ्गुष्ठसमायोगात्स्थानकं पार्ष्णिविद्धकम् ।
पार्श्वस्यान्तर्गता पार्ष्णिः कीर्तितं पार्ष्णिपार्श्वकम् ॥१३६॥
पार्ष्ण्यङ्गुष्ठस्समो यत्र तथा पार्ष्णिकनिष्ठकम् ।
परावृत्ते परिज्ञेयं स्थानं स्थानककोविदैः ॥१४०॥
आकुञ्चितोऽङ्घ्रिः वामश्चेत्तदन्यो[1] जानुना भुवि ।
पश्चान्न्यस्तस्तदाख्यातं स्थानकं गारुडं बुधैः ॥१४१॥
चरणः कुञ्चितस्त्वेकस्तिर्यगन्यः प्रसारितः ।
ऊरुपार्ष्णिस्थितो[2] भूमौ कथितं खण्डसूचिकम् ॥१४२॥
भूलग्नपार्ष्णिजङ्घोरुतिर्यक्पादौ प्रसारितौ ।
यत्र तत्स्थानकं प्राहुस्समसूचीति नामतः ॥१४३॥
न्यञ्चद्वामकपोलकं समपदं वामे[3]कटी निर्गता ।
किञ्चित्तिर्यगितिस्थितोऽन्यचरणो वामाङ्गलम्बान्वितः ॥

एक चरण जब सम अवस्था मे भूमि पर हो दूसरा कुछ कुञ्चित होकर आगे तिरछा बढा हो तो वह 'वैष्णव' स्थानक कहलाता है ॥१३८॥

एक चरण की एडी के साथ दूसरे चरण का अँगूठा मिला हो तो 'पार्ष्णिविद्धक' और यदि एडी पार्श्व के अन्तर्गत हो तो पार्ष्णिपार्श्वक' स्थानक कहा गया है ॥१३६॥

जहाँ एक पैर का अँगूठा और दूसरे पैर की एडी और एक पैर की एडी और दूसरे पैर की कनिष्ठिका एक स्थान मे स्थित हो, वहाँ 'परावृत्त' स्थानक होता है ॥१४०॥

यदि बायाँ चरण कुञ्चित हो और दाहिना पैर जानु के आधार पर भूमिस्थ होकर पीछे रखा हो वहाँ गारुड' स्थानक होता है ॥१४१॥

एक चरण कुञ्चित हो और दूसरा तिरछा होकर प्रसारित हो ऊरु और एडी भूमि पर स्थित हो तो खण्डसूची' स्थानक होता है ॥१४२॥

एडी, जङ्घा और ऊरु पृथ्वी से सलग्न हो, दोनो चरण तिरछे हो, तो समसूची स्थानक होता है । १४३॥

चरण समस्थिति में हो बायाँ कपोल कुछ झुका हो, कटि बाईं ओर

१ (क) तदनन्दो । २ (क) स्थिरा । ३ (क) वाम ।

यद्वक्रं कटिपादमस्तकतल नारीलसन्नर्तने ।
विज्ञेयं ललितं त्रिभङ्गिकमिति स्थानं च तत्कोविदैः ॥१४४॥
एकः पादः समो यत्र बहिस्तिर्य्यङ्मुखोऽपरः ।
स्थानकं तत् समुद्दिष्टमेकपार्ष्ण्यभिधं बुधैः ॥१४५॥
एकः समोऽङ्घ्रिर्यत्रस्यादितरं जानुमस्तकम् ।
बाह्यपार्श्वकृताश्लेषमेकपादाभिधं[४] बुधैः ॥१४६॥
नन्द्यावर्तं यदा सार्धं ताल चरणयोर्भवेत् ।
स्थानक चतुरस्रं तत् कथयन्ति विचक्षणाः ॥१४७॥
पुरः पश्चाच्च चरणौ सूचिलक्षणलक्षितौ ।
तदा विषमसूचीति स्थानकं कथित बुधैः ॥१४८॥
समसूचिस्थितौ नृत्ते[५] पादयोर्वलन यदा ।
करोति नर्तकी तच्च पद्मासनमिति स्मृतम् ॥१४९॥

निकली हो, दूसरा चरण वामाङ्गलम्बयुक्त होकर कुछ तिरछा स्थित हो, कटि, चरण और मस्तक यदि नारी-नर्तन में इस प्रकार वक्र हों, तो यह ललित स्थानक 'त्रिभङ्गी' कहलाता है ॥१४४॥

जहाँ एक चरण सम हो और दूसरा बाहर की ओर तिर्यङ्मुख हो, तो बुद्धिमानों ने उसे 'एकपार्ष्णि' कहा है ॥१४५॥

जहाँ एक चरण सम हो और दूसरे का घुटना पसली के बाह्य भाग से लगा हो, तो 'एकपाद' स्थानक है ॥१४६॥

यदि नन्द्यावर्त के दोनो चरणो मे डेढ ताल (फैले हुए अँगूठे और मध्यमा का अन्तर एक 'ताल' होता है) का अन्तर हो, तब बुद्धिमान उसे 'चतुरस्र' स्थानक कहते है ॥१४७॥

सूची के लक्षण से युक्त चरण यदि आगे पीछे हों, तब बुद्धिमानों ने 'विषयसूची' स्थानक कहा है ॥१४८॥

जब नर्तकी समसूची स्थिति में पैरो को घुमाती है, तब 'पद्मासन' स्थानक होता है ॥१४९॥

[४]. (क) पोष । ५ (क) नृत्ये ।

उपविष्टस्य वामोरो [1]पृष्ठे स्याद्दक्षिणो यदा ।
जङ्घास्थान [2]समेत्यस्य नागबन्धाभिध तदा ॥१५०॥
तदेवान्तरपद्मासनमाभाति[3] कृत यदि ।
पादयोर्विषम तच्च पद्मासनमुदीरितम् ॥१५१॥
उत्प्लुत्यापि प्रसार्य्याङ्घ्री यस्तयोर्बन्ध अन्तरे ।
पद्मासनं तदेवस्यादन्तरं कथित बुधै ॥१५२॥
दक्षिणो जानुगुल्फेन पाद स्पृष्टमहीतल ।
वामपादश्च यत्र स्यात् स्थान कूर्मासनं स्मृतम् ॥१५३॥
(इतिदेशिस्थानलक्षणम्)

पञ्चविंशति पाता —

सारिकार्धपुराटी च स्वस्तिका स्फुरिका तथा ।
निकुट्टकस्तलोत्क्षेप पृष्ठोत्क्षेपश्च वेष्टनम् ॥१५४॥
अर्धस्खलितिका खुत्ता पुराटी प्रावृत तथा ।
उद्वेष्टन तथोल्लोल समस्खलितिका तथा ॥१५५॥

बैठे हुए नर्तक के वाम ऊरु के पीछे जब दक्षिण ऊरु जङ्घास्थान तक आता है तब 'नागबन्ध' होता है ॥१५०॥

वही अन्तर पद्मासन यदि चरणो मे किया जाये तब 'विषम पद्मासन' कहलाता है ॥१५१॥

यदि कूद कर पैर फैलाने के पश्चात् उन दोनो के मध्य मे बन्ध किया जाये, तो अन्तरपद्मासन बुद्धिमानो ने कहा है ॥१५२॥

यदि दक्षिण चरण जानु और गुल्फ के द्वारा पृथ्वी का स्पर्श करता हो और वाम पाद भी (ऐसा ही) हो, तो 'कूर्मासन' होता है ॥१५३॥

(देशी स्थान-लक्षण समाप्त हुआ)

सारिका, अर्धपुराटी, स्वस्तिका, स्फुरितका, निकुट्टक, तलोत्क्षेप, पृष्ठोत्क्षेप, वेष्टन, अर्धस्खलितिका, खुत्ता पुराटी, प्रावृत, उद्वेष्टन,

---

१. (क) पृष्ठ स्याद्दक्षिणो । २ (क) समेतत्स्थान् । ३ (क) पद्मासनमाहृत ।

लताक्षेपो डमरुको विक्षेपः कर्तरी तथा ।
तट्टालो गारुडःपक्षो ललाटतिलकस्तथा ॥१५६॥
फेल्लणोऽलगपालश्च पालो निस्सरडस्ततः ।
पञ्चविंशतिपालाः स्युः कथिता लक्षणान्विताः ॥१५७॥
भूचराः खेचराश्चेति भेदस्तत्र समीरितः ।
पाला उप्परपालाश्च नाम तेषामुदाहृतम् ॥१५८॥
केनाप्येकेन पादेन सरणं सारिका भवेत् ।
स्थितोद्वृत्तनिकुट्टेन पादेनाभ्यकुट्टनम् ॥१५९॥
यदुद्वृत्तस्य पादस्य सा ज्ञेयार्धपुराटिका ॥
स्वस्तिकाकारघटना पादयोः स्वस्तिका भवेत् ॥१६०॥
अंगुलीपृष्ठभागेन पादाभ्यां गमनं तु यत् ।
पुरतः पृष्ठतो वापि पार्श्वतः स्फुरिका भवेत् ॥१६१॥

सा पुरीति प्रसिद्धा—

समकुञ्चित[1] पादाग्रे स्थिते ज्ञेयो निकुट्टकः ।
पृष्ठतः पुरतोवापि कुञ्चितेनाङ्घ्रिणा यदि ॥१६२॥

उल्लोल, समस्खलितिका, लताक्षेप, डमरुक, विक्षेप, कर्तरी, तट्टाल, गारुड पक्ष, ललाटतिलक, फेल्लण, अलगपाल और निस्सरड ये लक्षणयुक्त पच्चीस पाल कहे गये है ॥१५४-१५७॥

भूचर और खेचर इनके भेद है उनका नाम 'पाल' और 'उप्परपाल' है ॥१५८॥

किसी भी एक चरण से सरकना 'सारिका' है। स्थित और उद्वृत्त निकुट्ट चरण से, उद्वृत्त पाद का निकुट्टन अर्धपुराटिका' है। दोनों चरणों से स्वस्तिक का आकार बनाना 'स्वस्तिका' है ॥१५९-१६०॥

सामने, पीछे अथवा पार्श्व में अगुलियो के पृष्ठभाग का आधार लेकर चरणों के द्वारा गमन 'स्फुरितका' है ॥१६१॥

---

1. (क) समुदञ्चित ।

जानुमात्र[1]समाक्षेपस्तलोत्क्षेपस्स कथ्यते ।
पृष्ठतोऽङ्घ्रेस्समुत्क्षेपात् पृष्ठोत्क्षेपस्स कथ्यते ॥१६३॥

स भरणीपुट इति प्रसिद्धः :[2]—

एकाङ्घ्रिणा यदन्यस्य वेष्टनादेव वेष्टनम् ।
स्खलनात्तिर्य्यगेकाङ्घ्रेरर्धस्खलितिका भवेत् ॥१६४॥
पादाग्रेणाहतिर्भूमौ **खुत्ता** नाम प्रकीर्तिता ।
[3]अङ्घ्रिभ्यां विनिकुट्टेन मिथः प्रोक्ता **पुराटिका** ॥१६५॥
उद्वृत्तो यत्र पादः स्यात् सलीलं[4] ललितं विदुः ।
प्रावृत्तं नाम विज्ञेयं क्रीडास्थान मनोभुवः ॥१६६॥
पश्चात्प्रापणमङ्घ्रेर्यदुद्वेष्टनमुदीरितम् ।
उल्लालनक्रमेणाङ्घ्रियुग्ममुल्लोल इष्यते ॥१६७॥
पुरतः पृष्ठतस्तिर्यक् पादयोः स्खलन समम् ।
समस्खलिता नाम पादः प्रोक्तो विचक्षणैः ॥१६८॥

इसे 'पुटी' भी कहा जाता है। सम अवस्था में कुञ्चित चरणों का अग्रभाग स्थित होने पर 'निकुट्टक' है।

आगे या पीछे कुञ्चित चरण के द्वारा यदि जानुमात्र का समाक्षेप हो, तो 'तलोत्क्षेप' कहलाता है। पीछे की ओर चरण के समुत्क्षेप से पृष्ठोत्क्षेप कहलाता है ॥१६३॥

यह भरणीपुट नाम से प्रसिद्ध है। यदि एक चरण के द्वारा वेष्टन के द्वारा दूसरे चरण का अववेष्टन हो, तो एक चरण के तिर्यक् स्खलन से 'अर्धस्खलतिका' होती है ॥१६४॥

भूमि में चरणाग्र से आघात 'खुत्ता' है। दोनों चरणों के द्वारा परस्पर विनिकुट्टन से 'पुराटिका' होती है ॥१६५॥

जहाँ एक चरण उद्वृत्त हो, वह कामदेव का लीलायुक्त ललित केलिस्थान 'प्रावृत्त' है ॥१६६॥

चरण के पीछे ले जाया जाना उद्वेष्टन है। यदि दोनों चरणों में क्रमशः उल्लालन हो, तो 'उल्लोल' होता है ॥१६७॥

---

१. (क) समाक्षेपात् । २. (क) हरिपुट ।
३. (क) उद्वृत्ताङ्घ्रिनिकुट्टन । ४. (क) वलिनं ।

एकस्य पृष्ठतः कृत्वा पुरतोऽङ्घ्रिंप्रसार्य च ।
निकुट्टने कृते तेन **लताक्षेपः** स कथ्यते ॥१६६॥
एकाङ्घ्रिणा क्षितौ स्थित्वा भ्रामयित्वेतर पदम् ।
स्थापने तस्य जानावितरेणोरुताडनात्[1] ॥१७०॥
भाण्डीकभाषाकुशलै. पालो **डमरुकः** स्मृतः ।
पार्ष्णितालान्तरं पार्श्वे[2] पुरोदेशे स्थिते पदे ॥१७१॥
पादान्तराङ्गुलीसङ्गमूरोर्**विक्षेप** ईरित. ।
विधाय चरणावेतौ कर्नरीव पुर.[3] स्थितौ ॥१७२॥
पाद **कर्तरिसंज्ञेयो** नृत्यशास्त्रविशारदै· ।
नृत्ते[4] च करणे कार्य्यं तदूरोरन्यपादत. ॥१७३॥
प्रधार्य्य ताडनं तज्ज्ञैस्तत्**तट्टाल**मुच्यते ।
कथ्यते **गारुडपक्षः** समसूची स्फुरीयुता[5] ॥१७४॥
भ्रामयित्वैकचरणं स्थापने तस्यलाघवात् ।
पादावानीय नर्तक्या[6] पृष्ठतोऽङ्गुष्ठसङ्गमम् ॥१७५॥

आगे और पीछे की ओर चरणो का साथ-साथ तिर्यक् स्खलन 'समस्खलितिका' है ॥१६८॥

एक के पीछे अन्य चरण को आगे फैलाकर निकुट्टन करने पर 'लता-क्षेप' होता है ॥१६६॥

एक पैर से पृथ्वी पर खडे होकर, दूसरे चरण को घुमाने के पश्चात् उसे जानु पर स्थापित करने और ऊरु का ताडन करने से भाण्डीकभाषा-कुशल व्यक्तियो ने 'डमरुक' पाल माना है ।

एडी से एक ताल के अन्तर पर पार्श्व मे आगे की ओर चरण के स्थित होने पर ऊरु के साथ अन्य चरण का स्पर्श विक्षेप कहा गया है । इन दोनो चरणो को आगे कर्तरी के समान स्थापित करने से नृत्यविशारदों को 'कर्तरि' नामक पाल जानना चाहिये ।

नृत्त करण मे अन्य चरण से ऊरु का ताडन 'तट्टाल' कहा जाता है । स्फुरीयुक्त समसूची 'गारुड पक्ष' है ॥१७१-१७५॥

---

१. (क) जङ्घातः । २. (क) पार्श्वं । ३ (क) पुरि ।
४. (क) नृत्येकचरणे । ५ (क) पुरीयुता । ६. (क) कर्तव्या ।

[1]ललाटेऽभिमुखं वाते ललाटतिलकः स्मृतः ।
गतिः कुरुलयार्द्धेन चरणाभ्यां मनोहरा ॥१७६॥
फल्लणापाल इत्येष कथितो नृत्यकोविदैः ।
ऊरौ तदन्यपादेन सङ्गमोऽलगपालकः[2] ॥१७७॥
[3]पुरी द्विधावच्चरणस्तदन्यः कुरुलान्वितः[4] ।
पालो बिन्धवणः प्रोक्तो नृत्यविद्याविशारदैः ॥१७८॥
[5]पिच्छिलापसृतं यद्वन्नर्तक्या नर्तने तथा ।
तिर्य्यक् पादापसरण पादो निस्सरडाभिधः ॥१७९॥
पादौ समनखौश्लिष्टौ विश्लिष्टौ च प्रयोगतः ।
[6]चेच्चारी समपादाख्या नानास्थानसमाश्रया ॥१८०॥

(इतिपादपाललक्षणम्)

एक चरण को घुमाकर लाघव पूर्वक उसका स्थापन करने पर नर्तकी के द्वारा चरणो को पीछे ले जाये जाने के पश्चात् सामने की ओर ललाट के अभिमुख अगुष्ठसङ्गमपूर्वक 'ललाटतिलक' होता है ।

चरणो के द्वारा कुरुलयार्द्धयुक्त मनोहर गति 'फेल्लणा पाल' कहलाती है । एक चरण के द्वारा अन्य चरण के ऊरु का स्पर्श 'अलगपाल' है ॥१७७॥

पुरी की दो आवृत्तियो से युक्त एक चरण तथा दूसरा चरण कुरुलान्वित हो, तो नृत्यज्ञों ने 'बिन्धवण पाल' कहा है ।

नर्तन में नर्तकी के द्वारा पिच्छिल अपसृत जैसा तिर्य्यक् पादों से अपसरण हो, तो 'निस्सरड' कहलाता है ॥१७८-१७९॥

यदि प्रयोग के द्वारा समनख चरण श्लिष्ट और विश्लिष्ट हों, तो विभिन्न स्थानों के आश्रित 'समपादा' चारी होती है ॥१८०॥

(यह पादपाल लक्षण हुआ ।)

---

१. (क) ललाटेऽभिमुखायत्ते । २. (क) बालकः । ३. (क) पुरिद्वादावच्चरणः ।
४. (क) कुलया । ५. पिच्छिला पिस्त्रुत । ६. (क) चेक्चारि ।

अथोत्प्लुतिकरणम्—

कथ्यते दर्पसरणं बिन्दुः सा लोहडी मता ।
अञ्चितश्चेति चत्वारो यो भेदस्तदवान्तरे ॥१८१॥
वैष्णवस्थानके स्थित्वातिर्य्यगावर्त्तिताङ्घ्रिकम् ।
तदुक्तं **दर्पसरणं** करण नृत्तवेदिभिः ॥१८२॥
वाम कूर्परमानिधाय[1] भुवितद्हस्तोत्तलस्थ शिरो ।
निक्षिप्ता हि तदीयका. कटितटी जानूरुजङ्घा क्षितौ ।
कृत्वान्य चरण तदूरुफलके तज्जानुमध्यस्थितौ ।
बाहुस्तज्**जलशायिनामकरणं** यत्कथ्यते कोविदैः ॥१८३॥
स्थित्वा समपदेनैव पुरः प्लुत्योपवेशनम् ।
[2]पुरोवलितदोःकाण्ड **दिण्डुस्तत्करण** मतम् ॥१८४॥
तदेव दिण्डुकरणमवसानस्थितं यदि ।
[3]अलग किञ्चिदुद्वक्त्र तदे**वोर्ध्वालगं**[4] स्मृतम् ॥१८५॥

अब उत्प्लुति करण कहे जाते है ।

दर्पसरण, बिन्दु, लोहडी और अञ्चित ये चार है । अवान्तर में जो है, वे उनके भेद है ॥१८१॥

वैष्णव स्थानक मे स्थित होकर जिसमे पैर को तिर्य्यक् आवर्तित किया गया हो, वह करण नृत्यवेदियो ने 'दर्पसरण' कहा है ॥१८२॥

पृथ्वी में बाईं कुहनी रख कर यदि उस हाथ की हथेली पर शिर हो, नर्तक की कटि, जानु, ऊरु और जङ्घा पृथ्वी पर स्थित हो, चरण यदि ऊरु पर हो, बाहु जानु के मध्य में हो, तो विद्वानों के द्वारा उसे 'जलशायी' करण कहा जाता है ॥१८३॥

समपाद से स्थित होकर आगे उछलने के पश्चात् इस प्रकार बैठना 'दिण्डु' करण है, जिसमें भुजाओं का वलन आगे की ओर हो ॥१८४॥

१ (क) मानिदाय । २ (क) परावलित ।
३. (क) ललगं । ४. (क) दलिग ।

अलगं नतपृष्ठञ्च नितम्बालम्बिमस्तकम् ।
उत्तानस्थानकोपेतं अन्तरालकमुच्यते ॥१८६॥

[1]नाभिबाह्वोरसङ्गेन शिरःस्पृष्टमहीतलम् ।
[2]स्पृष्ट्वा पदाभ्यामुत्तानं कपालचूर्णनं भवेत् ॥१८७॥

समपादस्थितेरूर्ध्वं यत्र त्रिकविवर्तनम् ।
उत्पत्य पतनं तिर्य्यग् लोहडी सैव[3] कथ्यते ॥१८८॥

लोहडीपतने यत्र स्फुरितेनाभिपातनम्[4] ।
करणं तत्परिभूतं नृत्यविद्भिर्निगद्यते ॥१८९॥

उत्प्लुत्य समपादेन परावृत्य समस्थिति ।
पश्चाद्वा वलिबाहुभ्यामञ्चित करणं विदुः ॥१९०॥

अञ्चिते पतनं तिर्य्यक् परावृत्योपवेशनम् ।
करणं नृत्ततत्वज्ञैर्लङ्कादहनमीरितम् ॥१९१॥

वही दिण्डु करण अन्त मे हो और मुह पृथक् रहकर कुछ उठा हो, तो 'ऊर्ध्वलिंग' कहलाता है ॥१८५॥

यदि 'अलग' स्थिति में पृष्ठ नतमस्तक नितम्बपर्य्यन्त आलम्बित हो, स्थानक उत्तान हो तो 'अन्तरालक' कहलाता है ॥१८६॥

नाभि और बाहुओं के असङ्ग से यदि सिर पृथ्वी का स्पर्श करता हो, पैरों के द्वारा शरीर की उत्तान स्थिति हो, तो 'कपालचूर्णन' होता है ॥१८७॥

समपाद स्थिति से ऊपर की ओर त्रिक का विवर्तन और उछलकर तिरछा होना 'लोहडी' कहलाता है ॥१८८॥

नृत्यज्ञों ने उस करण को 'परिभूत' कहा है, जहाँ लोहडीपतन में स्फुरितपूर्वक अभिपात होता है ॥१८९॥

समपाद के द्वारा उछल कर परावर्तनके पश्चात् वलनशील बाहुओं के द्वारा समस्थिति प्राप्त करना 'अञ्चित' करण है ॥१९०॥

---

१. (क) महीबाह्वोरु । २. स्पृष्टा । ३. (क) सा निगद्यते । ४. (क) स्फुरितो पातनम्

अञ्चितस्थानके यत्स्यात् नितम्बालम्बिमस्तकम् ।
जिङ्कोलं पार्ष्णिमस्तौ चेद्वेङ्कोल समुदीरितम् ॥१६२॥

एकपादाञ्चित, कर्तयञ्चित भैरवाञ्चित, दण्डप्रमाण, स्वेच्छाकरण, पद्मासन, विषमपद्मासन, समसूचि, विषमसूचि, खण्डसूचि, गरुडासन, कूर्मासन गोमुखासन, मण्डूकासन, जानुभञ्जन, नागबन्ध इति बहुविधस्थानकानि करणानामुपरि समेतानि चेत् स्थानकसहितानि करणनामानि भवन्ति।

पञ्चभ्रमरिका :—

छत्रभ्रमरिका चैव वक्रभ्रमरिका तथा ।
अन्तर्भ्रमरिका चैव बाह्यभ्रमरिका[1] तथा ॥१६३॥
कपालभ्रमरी चैव पञ्च भ्रमरिकाः स्मृताः ।

पूर्वैरनुक्तानि देश्यङ्गानि —

अथ पूर्वैरनुक्तानि देश्यङ्गानि वदाम्यहम् ॥१६४॥
मुखरसः सौष्ठव च ललिभावौ[2] च तूकली ।
अनुमान प्रमाणञ्च झङ्का[3] रेवा सुरेखता ॥१६५॥
अङ्गानङ्ग ततो ढाल धीलायि[4] नवणिस्तथा ।
[5]कित्तुस्तरहरोल्लासौ वैवर्तनमतः परम् ॥१६६॥

नृत्तज्ञो ने उस करण को 'लङ्कादहन' कहा है, जिसमे अञ्चित अवस्था में पतन और तिर्य्यक् परावर्तन के पश्चात् उपवेशन होता है ॥१६१॥

अञ्चित स्थान मे यदि मस्तक नितम्बालम्बि हो, तो 'जिङ्कोल', यदि पार्ष्णि और मस्तक हो, तो 'वेङ्कोल' कहलाता है ॥१६२॥

एक पादाञ्चित, कर्तयञ्चित, भैरवाञ्चित, दण्डप्रमाण, स्वेच्छाकरण, पद्मासन, विषमपद्मासन, समसूचि, विषमसूचि, खण्डसूचि, गरुडासन, कूर्मासन, गोमुखासन, मण्डूकासन, जानुभञ्जन, नागबन्ध, इत्यादि अनेकविध स्थानक करणो के ऊपर युक्त हो, तो करणों के नाम स्थानक सहित होते हैं।

छत्रभ्रमरिका, वक्रभ्रमरिका, अन्तर्भ्रमरिका, बाह्यभ्रमरिका और कपालभ्रमरिका ये पाँच भ्रमरिकाए होती हैं ॥

अब वे देशी के अङ्ग कहूंगा, जो पूर्वाचार्य्यों ने नही कहे है॥१६३-१६४॥

---

१ (ख) बाह्य। २. (क) चलविभादौ। ३ (क) झङ्कारे वासुरेखिता।
४. (क) ढिल्लायि। ५ (क) कित्सु।

स्थापन च क्रमादेषां लक्षण प्रतिपाद्यते ।
माल्याभरणवस्त्राद्यैर्व्यक्तनेपथ्यकल्पनात् ॥१९७॥

प्रमोदप्रभवा वक्त्रकान्तिर्मुखरसाभिध ।
वामदक्षिणपाश्चात्यपुरोभागेष्वनामितम् ॥१९८॥

गात्र यदि स्थित सम्यक् सौष्ठवं तदुदाहृतम् ।
नहि सौष्ठवहीनाङ्ग शोभते[1] नाट्यनृतयो ॥१९९॥

नाट्य नृत्त च सर्व हि सौष्ठवे सम्प्रतिष्ठितम् ।
सङ्गीतसुखसञ्जातो लावण्यरसपोषक ॥२००॥

हर्षोत्कर्षस्तुभावज्ञैर्ललिरित्यभिधीयते ।
यति मान समाकर्ण्य वाद्यतालसमुद्भवम् ।२०१॥

नर्तनौत्सुक्यजश्चित्तविकारो भाव उच्यते ।
स्थानकेन मनोज्ञेन स्थित्वा गम्भीरभावतः ॥२०२॥

मुखरस, सौष्ठव, ललि, भाव, तूकली, अनुमान, प्रमाण, झङ्का, रेवा, सुरेखता, अङ्ग, अनङ्ग, ढाल, धीलायि (ढिल्लायि), नवणि, कित्तु, तरहर, उल्लास, वैवर्तन और सवर्तन ये देशी अङ्ग है ॥१९५, १९७॥

माल्य, आभरण, वस्त्र इत्यादिको के द्वारा नेपथ्य की कल्पना से उत्पन्न प्रमोद के कारण व्यक्त मुखकान्ति 'मुखरस' कहलाती है ।

यदि गात्र बाये, दायें आगे पीछे न झुका हो, तो यह 'सौष्ठव' है । नाट्य और नृत्त मे सौष्ठवहीन अङ्ग शोभित नही होता है ॥१९८-१९९॥

नाट्य और नृत्त सब कुछ सौष्ठव मे ही प्रतिष्ठित है । सङ्गीतसुख सञ्जात तथा लावण्य एव रस का पोषक हर्षोत्कर्ष भावज्ञो के द्वारा 'ललि' कहा जाता है ।

यति और मान को सुनकर वाद्यतालसमुद्भव नर्तन के औत्सुक्य से उत्पन्न चित्तविकार 'भाव' कहलाता है ॥२००-२०२॥

---

१. (क) शोभते ।

अङ्गस्यान्दोलनं तालसमान तूकली भवेत् ।
'गत्यभिनययोगमय नर्तकी चित्तदोलनम् ॥२०३॥
अनुमानं समुद्दिष्ट प्रमाणं साम्यमुच्यते ।
वामे वा दक्षिणे वापि किञ्चिदुद्वृत्तभावतः ॥२०४॥
अङ्गस्य चालना[2] नृत्ये झङ्केति परिकीर्तिता ॥
शिरस्यपाङ्गयोश्चैव किञ्चिदुल्लोलता यदि ॥२०५॥
दृश्यते भावमाधुर्य्यात् सोक्ता रेवा[3] विचक्षणैः ।
आङ्गिकाभिनयो नत्ये विकटाङ्गविवर्जितः ॥२०६॥
यदि प्रवर्तते तज्ज्ञै. सुरेखत्वं तदीरितम् ।
ताण्डवादिषु नृत्तेषु[4] प्रस्तुतेषु पृथक् पृथक् ॥२०७॥
उक्तोऽङ्गमङ्गमुद्दिष्टमनङ्गं त्वन्यसश्रयम् ।
ललिताभिनयास्सर्वे ललिभावसमाश्रया. ॥२०८॥

गम्भीर भाव से सुन्दर स्थानक के द्वारा स्थित होकर ताल के समान अङ्ग का आन्दोलन 'तूकली' कहलाता है ।

गति एवं अभिनय के योग के लिए नर्तकी के चित्त का डोलना 'अनुमान' है, साम्य को 'प्रमाण' कहते है ।

यदि नृत्त मे बाई या दाई ओर कुछ उद्वृत्त भाव से अङ्ग-चालना हो, तो 'झङ्का' कही गई है ।

शिर और अपाङ्ग मे यदि कुछ उल्लोलता, भावमाधुर्य्य के कारण, हो तो वह विद्वानो के द्वारा 'रेवा' कही गई है ।

यदि नृत्यज्ञो के द्वारा विकटाङ्ग-रहित आङ्गिक अभिनय नृत्य में किया जाता है, तो वही 'सुरेखत्व' है ।

ताण्डव आदि नृत्त पृथक् पृथक् प्रस्तुत होने पर उद्दिष्ट हो, तो 'अङ्ग' है, अन्याश्रित 'अनङ्ग' है ।

सभी ललित अभिनय ललि और भाव के आश्रित होते हैं ॥२०३-२०८॥

१ (क) गत्याभिनय । २. (क) चालने । ३. (क) ठेवा । ४. (क) नृत्येषु ।

'नर्तकी चित्तसार स्यात् तस्माड्ढालं तदुच्यते ।
स्थाने वा मन्दगमने नर्तक्या यदि लक्ष्यते ॥२०९॥
ललित गात्रशैथिल्य घिल्लायीति[2] निगद्यते ।
यद्वि सर्वाङ्गनमनमनायासेन वर्तते ॥२१०॥
विषमेषु प्रयोगेषु नमनिस्समुदाहृता ।
भुजयो स्तनयुग्मे वा तालपातैस्सम यदि ॥२११॥
[3]स्पन्दन सुकुमार स्यादेतत् कित्तु[4] निगद्यते ।
नर्तने यदि नर्तक्या स्तनयो क्षिप्रकम्पनम् ॥२१२॥
लक्ष्यते बाहुपर्य्यन्तमेतत्तरहर विदु ।
यदि वाद्येन[5] सदृश नर्तक्यङ्ग मुहुर्मुहुः ॥२१३॥
यद्युल्लसति भावेन तमुल्लास प्रचक्षते ।
अङ्गिकाभिनयो वाद्यपादानामुचित सम ॥२१४॥

नर्तकी के चित्त का सार इसीलिये ढाल कहलाता है। स्थान या मद गमन नर्तकी मे दिखाई देने वाला ललित गात्र-शैथिल्य घिल्लायी' (ढिल्लायि) कहलाता है।

यदि विषम प्रयोगो मे अनायास ही समस्त अङ्गो का नमन दिखाई दे, तो 'नमनि' कहलाता है।

तालपातो के साथ ही भुजाओ और स्तनयुगल मे यदि सुकुमार स्पन्दन दिखाई दे तो कित्तु' कहलाता है।

नर्तन मे यदि स्तनो का वेगपूर्वक कम्पन बाहुपर्य्यन्त दिखाई दे तो 'तरहर' कहलाता है।

यदि भावपूर्वक नर्तकी का अङ्ग वाद्य के सदृश उल्लसित हो तो, यह 'उल्लास' कहलाता है ॥२१४॥

---

१ नृत्तकी नृत्यसार स्यात् । २ (क) घिल्लाइति ।
३ (क) स्वम्दनं । ४ (क) किन्तु । ५ (ख) नाट्येन ।

यदि प्रवर्तते तज्ज्ञैस्तद्वैवर्तनमीरितम्[1] ।
करणाभिनयस्यान्ते विषमम्यापरस्यवा ॥२१५॥
रूपसौष्ठवरेखाभि स्थिति स्थापनमुच्यते ।
क्रमेण पेरणादीना पद्धति कथ्यतेऽधुना ॥२१६॥

पेरणपञ्चाङ्गानि—

[2]नृत्त ततश्च कैवारो घर्घरो वागडस्तथा[3] ।
गीतञ्चेति बहुधा प्राहु पेरणस्याङ्गपञ्चकम्[4] ॥२१७॥
[5]नृत्त तद्द्विविध ज्ञेय ताण्डव लास्यमित्यपि ।
तत्राप्युपलयाङ्ग स्यात् प्रायस्ताललयाश्रयम् ॥२१८॥
वर्णयित्वा गुणान् पूर्णान् पुरातनमहीभुजाम् ।
तत्तद्गुणसमारोप कैवार· स्यात्सभापतेः ॥२१९॥
ठवणे वशत क्षुद्रघण्टिकाचयचालनात् ।
तालपाट्या तथा प्रोक्ता घर्घरेति विचक्षणै ॥२२०॥

जहाँ वाद्य और चरणो के समान उचित आङ्गिक अभिनय होता है, उसे विशेषज्ञो ने 'वैवर्तन' कहा है । विषम अथवा अन्य प्रकार के करणाभिनय के अन्त मे रूप सौष्ठवयुक्त रेखाओ के अनुसार स्थिति 'स्थापन' है ।

अब क्रमश 'पेरण' इत्यादि की पद्धति कही जाती है ॥२१५-२१६॥

बुद्धिमानो ने पेरण के पाँच अङ्ग नृत्त, कैवार, घर्घर, वागड और गीत बताये है ॥२१७॥

'नृत्त' दो प्रकार का है ताण्डव और लास्य । वहाँ उपलयाङ्ग प्राय ताल और लय के आश्रित होता है ॥२१८॥

प्राचीन राजाओ के पूरे गुणो का वर्णन करके सभापति पर उन गुणो का आरोप 'कैवार' कहलाता है ॥२१९॥

---

१ (क) विवर्तन । २ (क) वृत्यन्तरश्च । ३ वागडं ।
४ (क) प्रेरणा । ५ (क) नृत्य ।

यन्मर्कटपिशाचादिहास्यवेशसमाश्रयम् ।
[1]विकटाभिनयोपेत बागड तत्प्रचक्षते ।।२२१।।
शुद्धैस्सङ्कीर्णरागैर्वा रागस्यालप्तिसयुतम् ।
गीयते गीतमुक्तं तत् सभ्यचित्तानुरञ्जनम् ।।२२२।।

पेरणवाद्यपद्धति —

रङ्गस्थितैर्नरैर्वाद्यसमुदायत्रये क्रमात् ।
उद्ग्राहादित्रय यत्र गान श्रेष्ठ तदीरितम् ।।२२३।।
समहस्त भवेदादौ ततो रिघवणिर्भवेत् ।
तत पर पदं ज्ञेय वेसार तदनन्तरम् ।।२२४।।
वाद्यपद्धतिरित्युक्ता पेरणस्य विचक्षणै ।

पेक्खणवाद्यपद्धति —

झेङ्कार वादयेत् पूर्वं घल्लण[2] च तत परम् ।।२२५।।
ततो वाद्यञ्च कवितमोत्वर[3] च तत क्रमात् ।
[4]अन्तरोपलयञ्चेति पेक्खणे[5] वाद्यपद्धति ।।२२६।।

ठवण मे घुघरुओ के गुच्छो को ताल और पाट के अनुसार हिलाने से 'घर्घर' होता है ।।२२०।।

वानर, पिशाच, इत्यादि हास्यवेशयुक्त तथा विकट अभिनय से युक्त 'वागड' होता है ।।२२१।।

रागालप्तियुत जो कुछ भी शुद्ध या संकीर्ण रागो का आश्रय लेकर गाया जाता है सभ्यो के चित्त का अनुरञ्जक वह कार्य्य 'गीत' कहलाता है ।।२२२।।

रङ्गस्थित व्यक्तियो के द्वारा तीन वाद्य समुदायो पर क्रमशः उद्ग्राह आदि तीन वस्तुओ का गान श्रेष्ठ है ।।२२३।।

आरम्भ मे समस्त, तत्पश्चात् रिघवणि, तदनन्तर वेसार यह पेरण की वाद्य-पद्धति विद्वानो ने कही है ।

झेङ्कार, घल्लण, वाद्य, कवित, अन्तरा तथा उपलय (अपडप) का क्रम से वादन पेक्खणवाद्यपद्धति है समहस्त, प्रहरण, आरभट,

---

१ (क) एकदा । २ (क) टल्लण । ३ (क) पन्तरा च । ४ (क) अवत्समुलय ।
५ (क) पक्खणी

समहस्तप्रहरण ततस्त्वारभटाह्वया ।

गुण्डलीवाद्यपद्धति —

मुखवाद्य ततो ज्ञेय तकारं तदनन्तरम् ॥२२७॥
झेङ्कार च तत. पश्चाद्दुवक्करसमाह्वयम् ।
तवो रिघवणिर्वाद्य तत प्रहरणाभिधम् ॥२२८॥
तुडुकञ्चेति विज्ञेया गुण्डलीवाद्य पद्धति ॥

पेरणादित्रये गीतपद्धति —

पेरणादित्रये गीतपद्धति कथ्यतेऽधुना ॥२२९॥
[2]वाद्येन सह गीतायामेलाया तदनन्तरम् ।
तेनैव खलु तालेन वाद्यते शुष्कमन्तरा ॥२३०॥
प्रतिरूपकपर्य्यन्त यत्र सा शुद्धपद्धति ।
प्रथम पाटकरण[3] बन्धाख्य चित्रसज्ञकम् ॥२३१॥
कैवाडो वर्णसरकस्त्वन्ये वा पाटमिश्रिता ।
प्रबन्धा यत्र गीयन्ते वाद्यन्ते च यथाक्षरम् ॥२३२॥
यथाक्षरञ्च नृत्यन्ते चित्रा सा शुद्धपद्धतिः ।
ध्रुवो मण्ठश्च[4] निस्सारुश्चण्डनिस्सारुकस्तथा[5] ॥२३३॥

मुखवाद्य तकार झेङ्कार दुवक्कर रिघवणि प्रहरण और तुडुक का क्रमश प्रयोग गुण्डली वाद्य पद्धति है ।

अब पेरण पेक्खण और गुण्डली मे गीत-पद्धति कही जाती है । २२४-२२९॥

जहा वाद्यसहित एला का गान होने पर उसी ताल का आश्रय लेकर अन्तरा का प्रत्येक रूपक तक शुष्क वादन होता है वह 'शुद्ध पद्धति' है ।

जहाँ चित्रबन्ध नामक पाटकरण कैवाड वर्णसरक तथा अन्य पाटमिश्रित प्रबन्धो का क्रमश गायन व वादन होता है, और यथाक्षर नृत्त भी किया जाता है वह 'चित्राशुद्ध पद्धति' है ।

ध्रुव, मण्ड, निस्सारु, चण्डनिस्सारु, अड्ड ताली, रासक, एकताली यह विद्वानो ने सालग' पद्धति बताई है ॥२३०-२३५॥

१ (क) कुण्डीरी । २ (क) वाक्येन । ३ (क) पादकरण ।
४. (क) निस्सारी । ५ (क) निस्सारिक ।

अड्डताली रासकश्च तत स्यादेकतालिका ।
इत्येषा पद्धतिर्ज्ञेया सालगाख्या विचक्षणै ॥२३४॥
[1]पेरण्याद्याश्च गुण्डल्या शुद्धे छायालगे तथा ।
दुवक्करपहरणे[2] यतिश्चान्तरवादनम्[3] ॥२३५॥
पद्धतित्रितये शुद्धचित्रसालग सज्ञके ।
तत्तत्पद्धतिभेदेन वाद्य[4] कुर्याद्यथोचितम् ॥२३६॥
यतो हस्तस्ततो दृष्टिर्यतो दृष्टिस्ततो मन ।
यतो मनस्ततो भावो यतो भावस्ततो रस ॥२३७॥
यत्र व्यग्रावुभौ[5] हस्तौ तत्र दृष्टिविलोकितै ।
व्यलीकाभिनय[6] कुर्याद्दिगतैरर्थदर्शनै ॥२३८॥
अङ्गेनालम्बयेद गीत हस्तेनार्थं प्रदर्शयेत् ॥
चक्षुर्भ्यां भावयेद् भाव पादाभ्या तालनिर्णय ॥२३९॥
तालश्च कास्यतालश्च घण्टिका जयपूर्विका ।
पटहश्च हुडुक्का च मृदङ्ग करटा[7] तथा ॥२४०॥

शुद्ध मे पेरणी इत्यादि तथा गुण्डली छायालग मे दुवक्कर, प्रहरण, यति और अन्तर का वादन होता है ॥२३५॥

शुद्ध चित्र एव सालग इन पद्धतियो में पद्धति के अनुसार यथोचित वादन होना चाहिये ॥२३६॥

जिधर हस्त उधर दृष्टि जिधर दृष्टि उधर मन, जिधर मन उधर भाव और जिधर भाव उधर रस होता है ॥२३७॥

जहाँ दोनो हाथ अन्यथा व्यस्त हो वहाँ अर्थहीन दर्शनो से विभिन्न दिशाओं मे दृष्टिपात करके झूठमूठ का अभिनय उचित है ॥२३८॥

अङ्ग से गीत का आलम्बन हाथ से अर्थ का प्रदर्शन, नेत्रो से भाव का भावन और चरणो से ताल का निर्णय किया जाना चाहिये ॥२३९॥

---

१ (क) प्रेरणाख्ये। २ (क) पहरणा। ३ (क) यदि।
४ (क) नृत्य। ५ (क) मुखी।
६ (क) व्रीडिते। ७ (क) करडा।

इत्यादिवाद्यसन्दोहो वाद्यते[1] दण्डरासके ।

पात्रम्—

रूपयौवनवर्णैस्तु[2] समाना दीर्घलोचना ॥२४१॥
कृशमध्या नितम्बाढ्या पीनवृत्तपयोधरा
चलणैं कञ्चुकैर्युक्ता नानावर्णविचित्रितैं ॥२४२॥
दण्डाभ्या रञ्जितकरा[3] नूपुरालङ्कृताङ्घ्रय ।
माल्यानुलेपसम्पन्ना सर्वाभरणभूषिता ॥२४३॥
सावधानाः प्रगल्भाश्च स्त्रिय पात्र प्रकीर्तिता ।
पात्रद्वय समारभ्य द्वे द्वे पात्रे विवर्धयेत् ॥२४४॥
भवेयुरष्टद्वन्द्वानि यावत्तावद्यथारुचि ।
अन्योऽन्याभिमुख वापि परावृत्तमुख तथा ॥२४५॥
एधोदण्डानुविद्धञ्च वाद्यतालसमन्वितम् ।
स्थानकैर्हस्तचलनै वलनैर्वर्तनैर्युतम् ॥२४६॥

ताल, कास्यताल, जयघण्टिका पटह हुडुक्का मृदङ्ग करटा इति वाद्यसमूह दण्डरासक' मे बजाया जाता है ।

रूप, यौवन एव वर्ण मे समान दीर्घलोचन, पतली कमर वाली, पुष्टनितम्ब पुष्ट एव गोल पयोधरो से शोभित, रङ्गविरङ्गी झीनी चोलियो से युक्त हाथो मे दो दो डण्डो से सुभूषित, नूपुरो से सुसज्जित चरणो वाली माल्यानुलेपयुक्त समस्त आभूषणो से अलकृत नारियाँ 'पात्र' कहलाती है ।

दो पात्रो से आरम्भ करके दो दो पात्र तब तक बढाना चाहिये, जब तक आठ जोडे न हो जायें, वे जोडे अन्योन्याभिमुख अथवा परावृत्तमुख हो ॥२४०-२४५॥

विशेषज्ञो ने 'दण्डरासक' को काष्ठदण्डयुक्त, वाद्यतालसमन्वित,

१ (क) दण्डरासक । २ (क) वृत्तैस्तु । ६ (क) रचित ।

नानाबन्धैस्समायुक्तं लयत्रयसमन्वितम् ।
दण्डरासमिति प्रोक्तं नृत्तभेदविचक्षणै ॥२४७॥

इति श्रीमदभयचन्द्रमुनीन्द्रचरणकमलमधुकरायितमस्तक
महादेवार्यशिष्यस्वरविमलविद्यापुत्रसम्यक्त्वचूडामणि
भरतभाण्डीकभाषाप्रवीणश्रुतिज्ञानचक्रवर्ति
सङ्गीताकरनामधेयपार्श्वदेवविरचिते
सङ्गीतसमयसारे सप्तममधिकरणम् ।

स्थानको, हस्तचलनों, वलनो और वर्तनो से युक्त, विभिन्न बन्धो मे समन्वित और तीनो लयो से युक्त कहा है ।

श्रीमद् अभयचन्द मुनीन्द्र के चरण कमलो मे मधुकरवत् आचरण करने वाले मस्तक से युक्त महादेव आर्य के शिष्य स्वरविद्या से युक्त, सम्यक्त्वचूडामणि, भरत-भाण्डीक—भाषाप्रवीण, श्रुतिज्ञानचक्रवर्ती संगीताकर नाम वाले पार्श्वदेव द्वारा विरचित सगीतसमयसार का सप्तम अधिकरण पूर्ण हुआ ।

अष्टमाधिकरणम्

उद्देश :—

[1]गीतं वाद्यं च नृत्तं च यतस्ताले विराजते ।
तस्मात्तालस्वरूपञ्च वक्ष्ये लक्ष्यानुसारतः ॥१॥

[2]तालशब्दस्य निष्पत्तिः प्रतिष्ठार्थेन धातुना ।
स तालः कालमानं यत् क्रियया परिकल्पितम् ॥२॥

द्विविधा मानगति :—

मनोगा हस्तगा चास्य द्विविधा मानकल्पना ।
द्विविधस्यास्य भेदस्य लक्षणं तावदुच्यते ॥३॥

उपर्युपरिविन्यस्तपद्मपत्रशते सकृत् ।
यः कालस्सूचिसम्भेदात्[4] स क्षणं स्याद्दलं प्रति ॥४॥

चूंकि गीत, वाद्य और नृत्त ताल में विराजित है, अत लक्ष्य के अनुसार ताल का लक्षण कहूँगा ॥१॥

प्रतिष्ठार्थक (तल्) धातु से ताल शब्द की निष्पत्ति हुई है, वह 'ताल' क्रिया के द्वारा परिकल्पित कालमान है ॥२॥

मान की कल्पना द्विविध है, 'मनोगा' और हस्तगा, इस द्विविध भेद का लक्षण कहा जाता है ॥३॥

नीचे ऊपर रखे हुए सौ कमल पत्रों में एक बार सुई छेदने का काल प्रत्येक दल मे एक 'क्षण' है ॥४॥

---

१. (क) सङ्गीतवाद्य नृत्य च तालहीनं न राजते । २. (ख) लय ।
३ श्लोक एष जगदेकस्य । ४. (ख) तत्क्षण सादज प्रति । ५. कालोस्त्रियिमचतुर्भागः ।

लव क्षणैरष्टभि स्यात् काष्ठा चाष्टलवात्मिका ।
अष्टौ काष्ठा निमेष स्यात् कालत्वष्टनिमेषित ॥५॥
[1]कालैस्त्रुटिश्चतुर्भिः स्यात्ताभ्यामर्धद्रुत भवेत् ।
अर्धद्रुताभ्या बिन्दु स्याद् बिन्दुभ्या तु लघुर्भवेत् ॥६॥
लघुभ्या तु गुरु प्रोक्तो लैस्त्रिभिः प्लुत एव च ।
इति मानगति प्रोक्ता मनोगा तालवेदिभि ॥७॥
[2] आवापादिर्ध्रुवादिर्वा हस्तगा परिकीर्तिता ।
तत्रावापोऽथ निष्क्रामो विक्षेपोऽथ प्रवेशनम् ॥८॥
शम्या तालश्च विज्ञेय सन्निपातश्च सप्तम ।
आवापसज्ञक ज्ञेयमुत्तानाङ्गुलिकुञ्चनम् ॥९॥
अधस्तलेन हस्तेन निष्क्रामाख्य प्रसारणम् ।
तस्य दक्षिणत क्षेपो विक्षेप परिभाष्यते[3] ॥१०॥

आठ क्षणो का लव' आठ लवो की एक काष्ठा', आठ काष्ठाओ का एक निमेष', आठ निमेषो का एक 'काल', चार कालो से एक 'त्रुटि', दो त्रुटियो से एक अर्धद्रुत, दो अर्धद्रुतो से एक 'बिन्दु', दो बिन्दुओ से एक लघु' दो लघुओ से एक 'गुरु और तीन लघुओ से एक 'प्लुत' होता है। तालज्ञो ने यह मनोगा मानगति बताई है ॥४-७॥

'आवाप' आदि या ध्रुव' इत्यादि हस्तगा' मानगति कहलाती है। आवाप, निष्काम, विक्षप, प्रवेशन, शम्या ताल और सन्निपात ये सात क्रियाएँ है।

चित (उत्तान) हाथ की अँगुलियो का सिकोडना 'आवाप', पट (अधस्तल) हाथ का प्रसारण निष्काम', हाथ का दाहिनी ओर फेंकना 'विक्षेप' अधस्तल (पट) हाथ का सिकोडना प्रवेश', दक्षिण हस्त से वाम हस्त पर आघात 'शम्या', वाम हस्त से दक्षिण हस्त पर आघात 'ताल' और दोनो हाथो का परस्पर आघात 'सन्निपात' है।

---

१ (क) ध्रुवादीर्वा ।
२. (क) नि क्रमाख्या प्रसारणा । ३ (क) परिभाष्यते ।

भूयश्चाकुञ्चनं ज्ञेयं प्रवेशाख्यमधस्तलम् ।
[1]शम्या दक्षिणपातस्तु तालो वामेन कीर्तितः ॥११॥
उभयोर्हस्तयो. पात. सन्निपात इतीरितः ।

मात्रा :—

ध्रुवका सर्पिणी कृष्या बन्धिनी च विसर्जिता ॥१२॥
विक्षिप्ता च पताका च पतिता चाष्टमी मता ।
[2]घनाभिघातो ध्रुवका सर्पिण्यग्रे प्रसारिता ॥१३॥
कृष्याकुञ्चनमात्रा च बन्धाकारा च बन्धिनी ।
विसर्जितोपरिष्टेन विक्षिप्तोत्तानवामत. ॥१४॥
ऊर्ध्वाङ्गुलिः पताका स्यात् पतिता पातिता पुन. ।
लघ्वक्षराणां पञ्चाना मानमुच्चारणे हि तत् ॥१५॥
तत्प्रमाणा परिज्ञेया मात्रा तालगता बुधै ।
द्विमात्रा च कला चित्रे चतुर्मात्रा तु वार्तिके ॥१६॥
अष्टमात्रा च विद्वद्भि दक्षिणे समुदाहृता ।

लय :—

तालान्तरालवर्ती य कालोऽसौ लयनाल्लय· ॥१७॥

ध्रुवका, सर्पिणी, कृष्या, बन्धिनी, विसर्जिता, विक्षिप्ता, पताका और पतिता, ये आठ मात्राएँ है ।

'ध्रुवका' घनाभिघातयुक्त, 'सर्पिणी' आगे की ओर प्रसारित, 'कृष्या' आकुञ्चनमात्र, 'बन्धिनी' बन्धाकार, विसर्जित ऊपर की ओर, विक्षिप्ता' उत्तान बाये हाथ से, 'पताका' ऊर्ध्वाङ्गुलि और 'पतिता' पातित है।

पॉच लघु अक्षरो के उच्चारण का काल तालगत मात्रा है। चित्र मार्ग मे दो मात्राओ की, वार्तिक मार्ग मे चार मात्राओ की और दक्षिण मार्ग मे आठ मात्राओ की एक 'कला' विद्वानो ने कही है।

तालान्तरवर्ती काल लयन के कारण 'लय' कहलाता है ॥८-१७॥

---

१. (क) सम्याद्क्षिणणादस्तु । २. (क) घनाभिपूतो ।

त्रिविधस्स च विज्ञेयः द्रुतो मध्यो विलम्बितः ।

यतय :—

लयमानाद्यतिः प्रोक्तश्चित्रादिषु यथाक्रमम् ।।१८।।

[1]समा स्रोतोवहाख्या च गोपुच्छा सेति सा त्रिधा ।

मार्गा :—

अथ देशीगता मार्गा वक्ष्यन्ते लक्ष्यसम्भवाः[2] ।।१६।।

तत्र चित्रतरश्चैकस्तथा चित्रतमोऽपरः ।

अतिचित्रतमश्चेति तत्स्वरूपन्निरूप्यते ।।२०।।

मात्रा चित्रतरे[3] ज्ञेया त्वर्धं चित्रतमे मता ।

अति[4] चित्रतमेमार्गे कलानुद्रुतसंज्ञका ।।२१।।

चतुर्विधस्तालः—

अथ चित्रादि मार्गेषु स तालः स्याच्चतुर्विधः ।

चतुरस्रस्तथाऽत्र्यस्रो मिश्रः खण्डश्च नामतः ।।२२।।

वह लय त्रिविध है, द्रुत मध्य और विलम्बित । चित्र इत्यादि मार्गों मे लय के प्रमाण के अनुसार क्रमश 'यति' होता है ।।१८।।

'यति' के तीन प्रकार समा, स्रोतोवहा और गोपुच्छा है ।
अब लक्ष्य के अनुसार देशीसम्बद्ध मार्ग कहते है ।।१६।।

उनमे एक 'चित्रतर', दूसरा 'चित्रतम' और तीसरा 'अतिचित्रतम है, उनका स्वरूप निरूपित किया जाता है ।।२०।।

चित्रतर मे एक मात्रा, चित्रतम' मे आधी मात्रा और 'अतिचित्रतम' में अनुद्रुत नामक कला होती है ।।२१।।

'चित्र' इत्यादि मार्गों में 'ताल' चतुर्विध होता है, 'चतुरस्र', त्र्यस्र', 'मिश्र' और 'खण्ड' ।।२२।।

उनमें चञ्चत्पुट 'चतुरस्र', उसके तीन प्रकार 'एककल,, 'द्विकल' और 'चतुष्कल' है ।।२३।।

---

१. (क) सव । २. (क) लक्ष । ३. (ख) चित्रतरा ।
४. (क) अतिचित्रतमो ।

तत्र चञ्चत्पुट [1] प्रोक्तश्चतुरस्रो मनीषिभि ।
स त्रिधैककल पूर्व द्विकलश्च चतुष्कल ॥२३॥
तथा चाचपुटस्त्र्यस्रो [2] मिश्रो युग्मौजमिश्रणात् ।
विशिष्टैरप्यविशिष्टैस्तालाङ्गैर्यो द्रुतादिभि ॥२४॥
क्रियते बहुभङ्गीभि स ताल खण्डसज्ञक ।
[3]खण्डोऽपि चतुरस्राख्य त्र्यस्रो मिश्रस्तथैव च ॥२५॥
सङ्कीर्णश्चेति निर्दिष्ट चतुर्धा तालवेदिभि ।

अथ तालोद्देश *

चञ्चत्पुटश्चाचपुट षट्पितापुत्रकस्तथा ॥२६॥
सम्पक्वेष्टाक उद्घट्ट आदितालश्च दर्पण ।
चच्चरी सिहलीलश्च कन्दर्प सिहविक्रम ॥२७॥
श्रीरङ्गो रतिलीलश्च [4] त्रिभिन्नो वीरविक्रम ।
हसलीलो वर्णभिन्नो [5] राजचूडामणिस्तत ॥२८॥
रङ्गोद्योतो राजताल सिहविक्रीडितस्तत ।
वनमाली वर्णतालस्ततो रङ्गप्रदीपक ॥२९॥

चाचपुट 'त्र्यस्र' है, युग्म' और ओज' के मिश्रण से 'मिश्र' तथा विशिष्ट एव अविशिष्ट द्रुत' इत्यादि ताला ङ्गो के द्वारा ढङ्ग ढङ्ग से बनाया हुआ ताल खण्ड' कहलाता है। खण्ड के भी चार प्रकार चतुरस्र, त्र्यस्र, मिश्र और सङ्कीर्ण तालवेत्ताओ द्वारा निदिष्ट है।

अब तालनिरूपण है —

चञ्चत्पुट, चाचपुट, षट्पितापुत्रक, सम्पक्वेष्टाक, उद्घट्ट आदि ताल, दर्पण, चच्चरी, सिहलील, कन्दर्प, सिहविक्रम ॥२४-२७॥

श्रीरङ्ग, रतिलील, त्रिभिन्न, वीरविक्रम, हसलील, वर्णभिन्न, राज चूडामणि, रङ्गोद्योत, राजताल, सिहविक्रीडित, वनमाली, वर्णताल, रङ्ग-प्रदीपक ॥२९॥

---

१ (क) चच्छत्पुट । २ चञ्चत्पुट । ३. (क) चण्डोऽपि ।
४ (ख) रतिशीलश्च । ५ (ग) वर्णराज ।
* तालोद्देशबोधका एकोत्तरशततालात्मका श्लोका पार्श्वदेवेन जगदेकात् गृहीताः ।

हंसनादस्सिंहनादो मल्लिकामोदसंज्ञकः ।
भवेच्छरभलीलश्च[1] रङ्गाभरण एव च ।।३०।।

ततस्तुरङ्गलीलः स्यात्स्यात्ततः सिंहनन्दनः ।
जयश्रीविजयानन्दः प्रतितालो द्वितीयक. ।।३१।।

मकरन्द. कीर्तितालो विजयो जयमङ्गलः ।
राजविद्याधरो मट्टो जयताल. कुडुक्ककः ।।३२।।

ततो निस्सारुकः क्रीडा त्रिभङ्गिः कोकिलप्रियः[2] ।
श्रीकीर्तिर्बिन्दुमाली[3] च समतालश्च नन्दनः ।।३३।।

उदीक्षणो मट्टिका च ढेङ्किका वर्णमण्ठयकः ।
[4] अभिनन्दो नरक्रीड. मल्लतालश्च दीपकः ।।३४।।

अनङ्गतालो विषमो नान्दी कुमुदकन्दुकौ[5] ।
[6]एकतालश्च ककालश्चतुस्तालश्च डोम्बुलो ।।३५।।

हसनाद, सिहनाद, मल्लिकामोद, शरभलील, रङ्गाभरण ।।३०।।

तुरङ्गलील, सिहनन्दन, जयश्री, विजयानन्द, प्रतिताल, द्वितीयक, ।।३२।।

मकरन्द, कीर्तिताल, विजय, जयमङ्गल, राजविद्याधर, मट्ट, जय-ताल, कुडुक्क, ।।३२।।

निस्सारु, क्रीडा, त्रिभङ्गि, कोकिलप्रिय, श्रीकीर्ति, विन्दुमाली, सम-ताल, नन्दन, ।।३३।।

उदीक्षण, मट्टिका, ढेङ्किका, वर्णमण्ठ्यक, अभिनन्द, नरक्रीड, मल्ल-ताल, दीपक ।।३४।।

अनङ्गताल, विषम, नान्दी, कुमुद, कुन्दुक, एकताल, कङ्काल, चतु-स्ताल,डोम्बली ।।३५।।

---

१. (क) तरभलीलश्च २. (ख) केरलप्रिय. । ३. (क) बिन्दुशाली ।
४. (क) अथानन्दोन्नरक्रीडा । ५. (क) कुन्दमुकुन्दको, (ख) पुष्कुन्दकन्दुकौ ।
६. (क) एकतालीच ।

अभङ्गी रायबङ्गालस्तथैव[1] लघुशेखरः ।
प्रतापशेखरश्चान्यो जगझम्पश्चतुर्मुखः ॥३६॥

झम्पा च प्रतिमट्टश्च तथा तालस्तृतीयकः ।
तस्मादुपरि विज्ञेयो वसन्तो[2] ललितो रतिः ॥३७॥

करणाख्ययतिश्चैव षट्तालो[3] वर्द्धनस्तथा ।
ततो वर्णयतिश्चैव राजनारायणस्तथा ॥३८॥

मदनश्चैव विज्ञेयः पार्वतीलोचनस्तत ।
ततो गारुगितालः[4] स्यात्ततः श्रीनन्दनो जयः ॥३९॥

लीलाविलोकितश्चान्यो ललितप्रिय एव[5] च ।
जनकश्चैव[6] विज्ञेयो लक्ष्मीशो रागवर्द्धनः ॥४०॥

उत्सवश्चेति तालानामेकेनाभ्यधिक शतम् ।

चतुरस्रादितालाना मध्ये व्यवहारयोग्यताललक्षण प्रस्तारसहित वक्ष्ये—

प्रस्तारे तालसम्बन्धि ह्यक्षर स्याच्चतुर्विधम् ॥४१॥

अभङ्गी, रायबङ्गाल, लघुशेखर, प्रतापशेखर, जगझम्प, चतुर्म्मुख ॥३६॥

झम्पा, प्रतिमट्ट, तृतीयक, वसन्त, ललित, रति ॥३७॥

करणयति, षट्ताल, वर्द्धन, वर्णयति, राजनारायण, मदन, पार्वती-लोचन, गारुगि, श्रीनन्दन, जय, लीलाविलोकित, ललितप्रिय, जनक, लक्ष्मीश, रागवर्द्धन ॥४०॥

और उत्सव ये एक सौ एक ताल है ।

चतुरस्र इत्यादि तालों मे व्यवहार के योग्य तालो के लक्षण प्रस्तारसहित कहूंगा ।

प्रस्तार मे ताल सम्बन्धी अक्षर चतुर्विध है ॥४१॥

---

१. (क) रायचिङ्कोल, (ख) रायवेङ्काल. । २ (क) वसितो । ३. (ख) षट्टालो ।
४. (ख) गारुकि । ५. (ख) साव च । ६. (ख) जनकट्टश्चव ।

संज्ञया तत्परिज्ञेयं द्रुतं लघु गुरु प्लुतम् ।
प्रत्येकं च द्रुतादीनां भवेत्पर्य्यायपञ्चकम् ॥४२॥

अर्धमात्रं द्रुतं व्योम व्यञ्जनं विन्दुकं तथा ।
मात्रिकं सरलं ह्रस्व लघु व्यापकमित्यपि ॥४३॥

द्विमात्रिक कलावक्र गुरुदीर्घमिति स्मृतम् ।
सामोद्भवं प्लुतं दीप्तं तथाव्यङ्गं त्रिमात्रिकम् ॥४४॥

ताले चञ्चत्पुटे ज्ञेय गुरु द्वन्द्व लघु प्लुतम् ।
गुरुर्लघू गुरुश्चैव भवेच्चाचपुटाभिधे ॥४५॥

पलगा गलपाश्चैव षट्पितापुत्रके स्मृताः
[१]मगणः स्यात् प्लुताद्यन्तो सपक्वेष्टाकसंज्ञके ॥४६॥

उद्घट्टे मगणस्त्वेकः आदिताले लघु स्मृतः ।
अष्टकृत्वस्तु चच्चर्या विरामान्तौ द्रुतौ लघुः ॥४७॥

उनके नाम द्रुत, लघु, गुरु, और प्लुत हैं। 'द्रुत' आदि शब्दों के पर्य्याय पाँच है ॥४२॥

अर्धमात्र, द्रुत, व्योम, व्यञ्जन और बिन्दुक परस्पर पर्य्याय वाची हैं,मात्रिक, सरल, ह्रस्व, लघु और व्यापक समानार्थक है, द्विमात्रिक, कला, वक्र, गुरु और दीर्घ सदृशार्थबोधक है। सामोद्भव, प्लुत, दीप्त, व्यङ्ग तथा त्रिमात्रिक पर्य्यायवाचक हैं ॥४३, ४४॥

चञ्चत्पुट ताल में गुरु, गुरु, लघु और प्लुत है, चाचपुट में गुरु, लघु, लघु और गुरु है ॥४५॥

षट्पितापुत्रक में प्लुत, लघु, गुरु, गुरु, लघु, प्लुत, हैं, संपक्वेष्टाक में प्लुतादि और प्लुतान्त भगण है ॥४६॥

उद्घट्ट में एक भगण है, आदिताल में एक लघु है। 'बिरामान्त दो द्रुत और लघु' चच्चरी में आठ बार होते हैं ॥४७॥

---

१. (क) मगणाद्यं प्लतंज्ञेयं, (ख) मगणाद्यन्तं प्लुतंज्ञेयम् ।

सिंहलीले विधातव्यं लघ्वाद्यन्तं द्रुतत्रयम् ।
सिंहविक्रमताले स्युः मगणो ल. पला गपौ ॥४८॥

[1]लचतुष्कं विरामान्तं गजलीले प्रकीर्तितम् ।
सविरामं लघुद्वन्द्वं तालेस्याद्हसलीलके ॥४९॥

राजचूडामणौ ताले द्रुतौ नश्च द्रुतौ लगौ ।
[2]द्विर्ल. पो गो लगौ पश्च सिंहविक्रीडिते लपौ ॥५०॥

[3]यगणो लो गुरुश्चैव सिंहनादे निरूपिताः ।
लघुर्द्रु तचतुष्क लौ स्यातां शरभलीलके ॥५१॥

तुरङ्गलीलताले स्याद्द्रुतद्वन्द्व लघुस्ततः ।
तपौ लगौ द्रुतौ गौ लः[4] पलपा लश्च गद्वयम् ॥५२॥

सिंहलील मे एक लघु, तीन द्रुत और एक लघु होना चाहिये, सिंह विक्रम मे मगण, लघु, प्लुत, लघु, गुरु और प्लुत हैं ॥४८॥

गजलील में चार लघु और एक विराम तथा हंसलील में दो लघु और एक विराम होते है ॥४९॥

राजचूडामणि मे दो द्रुत, एक नगण, दो द्रुत एक लघु और एक गुरु है, तथा सिंहविक्रीडित में दो लघु, एक प्लुत, एक गुरु, एक लघु, एक गुरु, प्लुत, लघु, तथा प्लुत होते है ॥५०॥

सिंहनाद मे एक यगण, लघु और गुरु तथा शरभलील मे एक लघु, चार द्रुत, दो लघु होते है ॥५१॥

तुरङ्गलील मे दो द्रुत, एक लघु, तगण, प्लुत, लघु, गुरु, दो गुरु, एक लघु, प्लुत, लघु, प्लुत, लघु और दो गुरु होते है ॥५२॥

---

१. (क) सविराम लघुर्द्वन्द्व । २. (क) द्वितीय यगणञ्चैव सिंहविक्रीडिते लपौ ।
३. (क) यगणाल्लघु । ४. (क) पलपागश्च लपद्वयम् ।

[1] निशब्दलचतुष्कं च ताले स्यात् सिंहनन्दने ।
लौ द्रुतौ प्रतितालः स्यात् द्रुतौ नश्च[2] द्वितीयके ।।५३।।

[3]सकारश्च सकारश्च जयमङ्गलनामनि ।
सकारो मट्टताले[4] स्यात् कल्पितं लचतुष्टयम् ।।५४।।

द्रुतद्वन्द्वं लघुद्वन्द्वं भवेत्ताले कुडुक्कके ।
लघुद्वयं विरामान्तं ताले निस्सारुके भवेत् ।।५५।।

मट्टिकायां विधातव्या गुरुबिन्दुप्लुता क्रमात् ।
ढेङ्किका जगणेन[5] स्यात् केषाञ्चित् सैव योजना ।।५६।।

एकेनैव द्रुतेन स्यादेकतालीति संज्ञया ।
चतुस्ताले गुरुः[6] पूर्वं ततो बिन्दुत्रयं भवेत् ।।५७।।

सिंहनन्दन में निश्शब्द चार लघु, प्रतिलाल में दो लघु, दो द्रुत और द्वितीयक में दो द्रुत और एक नगण है ।।५३।।

जयमङ्गल में दो सगण और मट्टताल में एक सगण और चार लघु होते हैं ।।५४।।

कुडुक्क में दो द्रुत, दो लघु तथा निस्सारु में दो लघु और एक विराम है ।।५५।।

मट्टिका में क्रमशः एक एक गुरु, बिन्दु और प्लुत होते हैं, तथा ढेङ्किका में किन्ही की योजना के अनुसार एक जगण होता है ।।४६।।

एकताली में एक ही द्रुत होता है ।

चतुस्ताल में एक गुरु और तीन बिन्दु होते हैं ।।५७।।

---

१. (क) निः शब्दं च चतु ल च । २. (क) लश्च । ३. (ख) चकारश्च ।
४. (क) सकारान्मट्टताले स्यात् नि. शब्दं च चतुष्टयम् । ५. (क) रगणेन ।
६. (क) गतः पूर्वं ।

एकेन सविरामेण लघुना लघुशेखरः ।
प्रतापशेखरे श्यशो विरामान्तं द्रुतद्वयम् ॥५८॥

व्योमद्वयं विरामान्तं लश्च झम्पाभिधे भवेत् ।
[1]गलौ तु प्रतिमट्टश्च प्रोक्तो लक्षणकोविदैः ॥५९॥

तृतीयताल्लेबिन्दुः[2] स्यात् विरामान्तं लघुत्रयम् ।
ताले करणयत्याख्ये ज्ञेयं बिन्दुचतुष्टयम् ॥६०॥

गारुगिः कथ्यते तज्ज्ञैर्विरामान्तं चतुर्द्रुतम् ।
गुरुषोडशक यत्र द्वात्रिंशल्लघवस्तथा ॥६१॥

चतु षष्टिद्रुता पाता चतुरस्राक्षिप्तकस्तदा ।
सप्त गुर्वक्षराण्यादौ दशलघ्वक्षराणि च ॥६२॥

एक लघु और एक विराम के द्वारा लघुशेखर होता है प्रतापशेखर मे प्लुत, दो द्रुत और एक विराम है ॥५८॥

दो द्रुत, विराम और लघु झम्पा में है तथा प्रतिमट्ट में एक गुरु और एक लघु ॥५९॥

तृतीय ताल में बिन्दु तीन लघु और एक विराम है और करण यति मे चार द्रुत जानने चाहिए ॥६०॥

गारुगि मे चार द्रुत और एक विराम विज्ञ पुरुषो द्वारा कहा जाता है, चतुरस्र आक्षिप्तक में सोलह गुरु, बत्तीस लघु और चौसठ द्रुत हैं। सात गुरु, दस लघु तथा दो गुरु मद्रक में हैं।

चञ्चत्पुट, चाचपुट, षट्पितापुत्रक, सम्पक्वेष्टाक, हेला, त्रिगता, नत्कुट, नत्कुटी, खञ्जिका, खञ्जक, आक्रीडित और विलम्ब, ये बारह भङ्ग तथा कुटिला, आक्षिप्तिका, त्र्यस्रा, चतुरस्रा, चटुला, मिश्रा ये छः विभङ्ग है।

---

१. (क) गले प्रतिमट्टश्च । २. (क) तालबिन्दु ।

अन्ते च गुरुणी यत्र मद्रकस्सोऽभिधीयते ।

भङ्गा विभङ्गाश्च —

चञ्चत्पुट, चाचपुट, षट्पितापुत्रक, सम्पक्वेष्टाक, हेला, त्रिगता, नत्कुट, नत्कुटी, खञ्जिका, खञ्जकः, आक्रीडित, विलम्ब इति द्वादश भङ्गाः, कुटिला, आक्षिप्तिका, त्यस्रा, चतुस्रा, चटुला, मिश्रा षडेते विभङ्गा इतरे विभङ्गाः

तालमूलानि गेयानि ताले सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥६३॥

तालहीनानि गेयानि मन्त्रहीना यथाहुतिः ॥

इति श्रीमदभयचन्द्रमुनीन्द्रचरणकमलमधुकरायितमहादेवा-
र्य्यशिष्यमस्तकस्वरविमलविद्यापुत्रसम्यक्त्वचूडामणि-
भरतभाण्डीकभाषाप्रवीणश्रुतिज्ञानचक्रवर्ति
सङ्गीताकरनामधेयपार्श्वदेवविरचिते-
सङ्गीतसमयसारेऽष्टमाधिकरणम् ।

गेय तालमूलक होते हैं, ताल में सब कुछ प्रतिष्ठित है, तालहीनगेय मंत्रहीन आहुति जैसे है ॥६१-६३॥

श्रीमद् अभयचन्द्र मुनीन्द्र के चरण कमलो में मधुकरवत् आचरण करनेवाले मस्तक से युक्त महादेव आर्य के शिष्य, स्वरविद्या से युक्त, सम्यक्त्वचूडामणि, भरत-भाण्डीक भाषाप्रवीण, श्रुतिज्ञानचक्रवर्ती संगीता-कर नाम वाले पार्श्वदेव द्वारा विरचित सङ्गीतसमयसार का अष्टम अधि-करण पूर्ण हुआ ।

(अष्टम अधिकरण समाप्त)

नवमाधिकरणम्

उद्देशः—

गीते वाद्ये च नृत्ये च तत्तद्विज्ञा[1] परस्परम् ।
भवेयुर्वादिनस्तस्माद् वक्ष्यते वादनिर्णय ॥१॥

परस्परसमाक्षेपो यो वादिप्रतिवादिनो ।

वाद —

स्वपक्षपरपक्षाभ्या वादस्स परिकीर्तित ॥२॥
सभापतिश्च सभ्याश्च तौ वादिप्रतिवादिनौ ।
इति प्रोक्त मतङ्गाद्यैर्वादस्याङ्गचतुष्टयम् ॥३॥
कथयामि क्रमादेषा लक्षण च समासत ।

सभासन्निवेश —

आस्थान मण्डपे रम्ये[2] सर्वलक्षणसयुते ॥४॥

गीत, वाद्य और नृत्य मे अपने अपने विषय के विशेषज्ञ परस्पर प्रतिस्पर्धी होते है अत वाद निर्णय कहा जायेगा ॥१॥

वादी और प्रतिवादी मे स्वपक्ष और प्रतिपक्ष के द्वारा परस्पर किया जाने वाला सम्यक् आक्षेप 'वाद' कहलाता है ॥२॥

सभापति, सभ्य, वादी और प्रतिवादी, मतङ्ग के अनुसार, ये चार वाद के अङ्ग है ॥३॥

क्रमश सक्षेपपूर्वक इनका लक्षण कहूँगा । समस्त लक्षणो से युक्त, चित्राभास, विचित्रार्थक रगविरंगे चित्रो से सजे हुए, चन्दन, अगर, कपूँर

---

१ (क) विधा । २ (क) मण्टये ।

चित्राभासविचित्रार्थं चित्रचित्रोपशोभिते ।
चन्दनागुरुकर्पूरधूपैस्तु परिवासिते ॥५॥
बहुवर्णपटीपट्टवितानपरिशोभिते[1] ।
नानारत्नसमाकीर्णनानालंकारशोभितम् ॥६॥
सिंहासनं पूर्वमुखं मध्यतो विनिवेशयेत् ।
श्रीमान् दाता गुणग्राही भावज्ञः कीर्तिलम्पटः ॥७॥

भूपति —

सङ्गीतगुणदोषज्ञः सर्वभाषाविचक्षणः[2] ।
प्रियवाग्वादमध्यस्थः पारितोषिकदायकः ॥८॥
सत्यवादी च शृङ्गारी मार्गदेशिप्रभेदवित् ।
[3]धीमान् सर्वकलाध्यक्षः तदध्यासितभूपतिः ॥९॥

देवी—

रूपयौवनसम्पन्ना सदा शृङ्गारलोलुपा ।
सौभाग्यशालिनी भर्तुश्चित्तनेत्रानुसारिणी ॥१०॥

धूपों से सुवासित, रङ्गविरङ्गी पट्टियों, पट्टों और वितान से शोभित मनोहर सभामण्डप के बीच में पूर्वाभिमुख सिंहासन रखा जाना चाहिये।

उस पर श्रीमान् दानशील गुणग्राही, भावज्ञ यशःकामी, सङ्गीत के गुण दोषों को समझने वाला, समस्त भाषाओं में निपुण, प्रियभाषी, पारितोषिकदायक, सत्यवादी, शृङ्गारयुक्त, मार्ग और देशी के भेदों में निपुण, बुद्धिमान्, सर्वकलाध्यक्ष और वाद का मध्यस्थ राजा आसीन होना चाहिये ॥४-९॥

रूपयौवनसम्पन्न, शृङ्गारप्रिय, सौभाग्यशालिनी, पति के चित्त और नेत्रों के अनुसार आचरण करने वाली रानी, राजा के बाईं ओर बैठी होनी चाहिये।

---

१ (क) पत्ती ।
२ विशारद । ३ (क) डिमान् ।

देवी चोपविशेत्तस्य वामभागे महीपतेः।

विलासिन्यः —

रूपयौवनसम्पन्ना. सर्वाभरणभूषिताः ॥११॥
[1]हावभावविलासाढ्या विभ्रमादिगुणान्विताः।
विलासिनीर्महीपस्य पश्चाद्भागे निवेशयेत् ॥१२॥

सचिवाः —

कार्य्याकार्य्यविभागज्ञा नीतिशास्त्रविशारदाः[2]।
स्वामिभक्ताश्च सचिवा [3] सर्वकार्य्यकृतिक्षमाः ॥१३॥

सभ्या —

सभ्यास्सङ्गीतशास्त्रज्ञास्तल्लक्ष्यज्ञा[4] अनुद्धता.।
मध्यस्था वादसमये गुणदोषनिरूपका ॥१४॥
कवयो रसभावज्ञाश्छन्दोऽलङ्कारवेदिनः।
अमन्दा प्रतिभायुक्ता रीतिनिर्वाहकोविदा ॥१५॥

रूपयौवन-सम्पन्न, समस्त आभूषण युक्त, हाव-भाव-विलास शालिनी, विभ्रम इत्यादि गुणो से सम्पन्न विलासिनियाँ राजा के पीछे बिठाई जानी चाहिये।

कार्य-अकार्य्य के विभाग को जानने वाले, नीतिशास्त्रविशारद, कार्य्यों को करने मे समर्थ स्वामिभक्त 'सचिव', सङ्गीत के शास्त्र एव व्यवहार को जानने वाले, वाद के समय गुण दोष का निरूपण करने वाले विनम्र 'मध्यस्थ', रस, भाव, छन्द, अलङ्कार के मर्मज्ञ, रीति-निर्वाह में निपुण, प्रतिभायुक्त अमन्द 'कवि', सूक्ष्म भाव तथा अर्थ के ज्ञान से आनन्दितचित्त 'रसिक', ये सब यथायोग्य राजा के दक्षिण भाग में होना उचित है।

---

१ (ख) भावाभाव। २ (ख) विचक्षणा.।
३. (क) काय। ४. (क) लक्ष्मज्ञाः।

काव्यनाटकसञ्जातरसास्वादनलम्पटाः ।
रसिकाः सूक्ष्मभावार्थज्ञानानन्दितचेतसः ॥१६॥

एते सर्वे यथायोग्यं भवेयुस्तस्य दक्षिणे ।
वाग्गेयकारकविताकारा ये नर्तकादयः ॥१७॥

लक्ष्यलक्षणदक्षाश्च सङ्गीताङ्गविचक्षणाः ।
वामभागे महीपस्य स्यात्तेषामुपवेशनम् ॥१८॥

अन्येऽपि ये यथायोग्यास्तत्तद्विद्या विशारदाः ।
भवेयुस्ते महीपस्य[1] नातिदूरोपवेशिन. ॥१९॥

वादी—

[2]अनुवाददृढःप्रज्ञः स्वशास्त्रश्रवणान्वितः ।
परोक्तदूषणोद्धर्ता वादी स्यात् पक्षसाधकः ॥२०॥

प्रतिवादी—

वक्तार शास्त्रवेत्तारं बुद्धिमन्तं बहुश्रुतम् ।
वादिपक्षनिहन्तार त विद्यात्प्रतिवादिनम् ॥२१॥

वाग्गेयकार, कविताकार, नर्तक इत्यादि, जो लक्ष्यलक्षण में दक्ष और सङ्गीत के अङ्गों में विचक्षण हों, वे राजा के वाम भाग में होना चाहिये और भी जो विशिष्ट विशिष्ट विद्याओं के विशेषज्ञ हों, वे राजा से अधिक दूर नही बैठे होने चाहिये ।

प्रतिपक्षी के आशय को अनूदित करने मे कुशल, गुरुमुख से पढ़ने के कारण अपने शास्त्र में निपुण, प्रतिपक्षी के निकाले हुए दोषों का निराकरण और अपने पक्ष का मण्डन करने वाला 'वादी' होता है ॥१०-२०॥

जो वक्ता, शास्त्रज्ञ, बुद्धिमान्, बहुश्रुत, वादी-पक्ष का खण्डन करने वाला हो वह प्रतिवादी है ॥२१॥

---

१. (ख) तस्य भूपस्य ।
२. (क) अनुवाददृढः प्राज्ञः, (ख) अनुवाददृढप्रज्ञ. ।

वादहेतव —

निर्वाहाधिक्यवाञ्छा च मत्सर. स्वामिकौतुकम् ।
स्वैरगोष्ठिपरीभावः कारणान्तरवैरिता ॥२२॥
प्रतिपत्ति· स्पृहासूया[1] कीर्तिव्यसनिता तथा ।
विद्यामदश्च निर्दिष्टास्तज्ज्ञैर्वादस्य हेतवः ॥२३॥

वर्जितवाद —

स्त्रीपु सयोर्वृद्धयूनो दरिद्रश्रीमतोस्तथा ।
विनीतोद्धतयोः[2] खिन्नतुष्टमानसयोरपि ॥२४॥
शिष्योपाध्याययोर्भिन्नविद्ययोर्भीरुशूरयो ।
न वादो विहितस्सद्भि. वादहेतुषु सत्स्वपि ॥२५॥
वित्तेन विद्यया रूढ्या समयोर्वाद इष्यते ।
तस्मादत्र प्रवक्ष्यन्ते गुणदोषाश्च वादिनाम् ॥२६॥

शास्त्रज्ञगुणा· —

ग्रन्थार्थस्य परिज्ञान तात्पर्य्यार्थनिरूपणम् ।
आद्यन्तमध्यव्याख्यानशक्ति· शास्त्रविदो गुणा ॥२७॥

निर्वाह से अधिक की इच्छा, ईर्प्या, स्वामी का विनोद, निजी गोष्ठियो मे पराजय, किसी अन्य कारण से वैर, विशिष्ट दृष्टिकोण या मत, स्पृहा, असूया कीर्ति-विस्तार की इच्छा अथवा विद्यामद, ये बाते वाद में कारण होती है ॥२३॥

स्त्री और पुरुष, वृद्ध और युवक, दरिद्र और श्रीमान्, विनीत और उद्धत, खिन्न और सन्तुष्ट, शिष्य और उपाध्याय, विभिन्न विद्याओ के विद्वान्, तथा भीरु और शूर मे 'वाद' विहित नही, भले ही वाद के कारण विद्यमान हो ॥२४,२५॥

धन, विद्या तथा सम्प्रदाय मे जो समान हो, उन्ही मे वाद उचित हैं, अब यहाँ वादियो के गुण-दोप कहे जायेंगे ॥२६॥

ग्रन्थ के अर्थ का भलीभाँति ज्ञान, तात्पर्य्यार्थ का निरूपण आदि, अन्त और मध्य की व्याख्या मे सामर्थ्य शास्त्रज्ञ के गुण है ॥२७॥

१ (क) स्त्वह । २ (क) खिन्न ।

शास्त्रज्ञदोषाः —

पूर्वापरविरोधानामज्ञत्वमविदग्धता ।
निरुत्तरत्वं प्रश्नेषु सम्प्रदायविहीनता ॥२८॥
इत्यादयस्तु [1]शास्त्रज्ञदोषास्सद्भिरुदाहृताः ।

शास्त्रज्ञकोटय :—

लक्ष्म लक्ष्यञ्च यो वेत्ति मार्गदेशिसमाश्रयम् ॥२६॥

उत्तमः स परिज्ञेयः शास्त्रज्ञेषु मनीषिभिः ।
वेत्ति मार्गाश्रय लक्ष्यं लक्षणं य स मध्यमः ॥३०॥

सम्यग्जानाति यो देशिलक्ष्म लक्ष्यञ्च सोऽधमः ।
शास्त्रवादे समुत्पन्ने गुणदोषैस्तदीयकैः ॥३१॥

तारतम्यं तयोर्ज्ञात्वा दद्याज्जयपराजयौ ।

वाग्गेयकारगुणाः —

शब्दशास्त्रपरिज्ञान छन्दोविचितिनैपुणम् ॥३२॥

पूर्वापर विरोधो के विषय मे अज्ञान, असहृदयता, प्रश्न होने पर मौन, सम्प्रदायविहीनता इत्यादि शास्त्रज्ञो के दोष है ।

जो मार्ग और देशी से सम्बन्ध लक्ष्य और लक्षण का ज्ञाता हो, उसे मनीषियों को शास्त्रज्ञों में उत्तम जानना चाहिये । जो केवल मार्गाश्रित लक्ष्य और लक्षण का ज्ञाता हो, वह मध्यम है ॥२८-३०॥

जो केवल देशी का लक्ष्य और लक्षण जानता है, वह 'अधम' शास्त्रकार है । शास्त्रसम्बन्धी वाद होने पर वादी और प्रतिवादी के गुण दोषों के आधार पर तारतम्य का निश्चय करके जय-पराजय का निर्णय देना चाहिये।

शब्दशास्त्र का सम्यक् ज्ञान, छन्दो के चुनाव (छन्दोविचिति नामक ग्रन्थ) मे निपुणता, कोषों मे दक्षता, कलाओ में भी कुशलता, सप्तगीतों में प्रवीणता, रसभाव में चातुर्य, (भाषासम्बन्धी और स्वरसम्बन्धी)

---

१. (क) शास्त्रज्ञैः ।

अभिधानेषु दक्षत्वं कलास्वपि च कौशलम् ।
[1]सप्तगीतप्रवीणत्व चातुर्यं रसभावयो: ॥३३॥

अलङ्कारेषु चातुर्य्यं सुतालत्व सुरागता ।
सुस्वरत्वं सुगेयत्वं देशिरागेष्वभिज्ञता ॥३४॥

देशभाषापरिज्ञान प्रभुचित्तानुवर्तनम् ।
नृत्ते वाद्ये प्रवीणत्वं तथैवास्थानशूरता ॥३५॥

प्रतिभान वचस्वित्व[2] सभ्यचित्तानुरञ्जनम् ।
अनिबद्धस्वरज्ञानं चतुर्धातुषु पाटवम् ॥३६॥

सर्वप्रबन्धबोधश्च मुक्तिकाले प्रदक्षता ।
त्रिस्थानव्याप्तिसुभगः प्रयोगः कोपवर्जनम् ॥३७॥

आदिष्टार्थस्य निर्वाह् साश्चर्य्यकविता तथा ।
यथोचितपदन्यास प्रागल्भ्य वश्यवर्णता[3] ॥३८॥

सावधानत्वमेकाङ्गप्रौढिर्वक्त्रे प्रसन्नता ।
एते वाग्गेयकारस्य गुणास्सद्भिरुदाहृता. ॥३९॥

अलङ्कारो में नैपुण्य, ताल और राग पर अच्छा अधिकार, सुस्वरत्व, सुगेयत्व, देशी रागो मे अभिज्ञता, देश भाषाओ का परिज्ञान, प्रभु के चित्त का अनुवर्तन, अनिबद्ध गान के स्वरो का ज्ञान, चारो धातुओ में पटुता, समस्त प्रबन्धो का बोध, न्यास के समय दक्षता, तीनो स्थानों की व्याप्ति में सुभग प्रयोग, कोपहीनता, आदिष्ट अर्थ का निर्वाह, आश्चर्य्यजनक कविता, यथोचित पदविन्यास, प्रगल्भता, वर्णों पर अधिकार, सावधानता, एकाङ्गप्रौढि, मुख पर प्रसन्नता, ये सब, सज्जनो के अनुसार वाग्गेयकार के गुण है ॥३१-३९॥

---

१. (क) गीति ।
२. (क) वचास्थित्व ।
३. (क) वश्यकतथा ।

वाग्गेयकारदोषा —

ग्राम्योक्तिरपशब्दश्च तद्वदप्रस्तुतस्तुति ।
गमके च पदे जाड्य प्रबन्धज्ञानहीनता ॥४०॥
[1]रसानुरूपरागाणामज्ञत्वमविदग्धता ।
क्रियानिर्वहणाज्ञत्व मन्दशारीरता[2] तथा ॥४१॥
माने न्यूनाधिकाज्ञत्व रीतिभङ्गस्तथा पुन ।
छायापरिच्युतिस्तद्वद् गान चासमये तथा ॥४२॥
[3]अश्राव्य, लक्षण त्यक्त्वा धातुमातू करोति य ।
दोषैरेतैरूपेतो यो निन्द्यवाग्गेयकारक ॥४३॥
सूडक्रमवशादेषा तारतम्यमिहोच्यते ।

वाग्गेयकारकोटय —

शुद्धसालगयो सूड विषम प्राञ्जल तथा ॥४४॥
करोति वयकारो य स भवेदुत्तमोत्तम ।
कर्ता विषमसूडस्य तयोरुत्तममध्यम ॥४५॥
तयो प्राञ्जलसूडस्य कर्ता स्यादुत्तमाधम ।
विषम प्राञ्जलञ्चैव शुद्धे सूड करोति य ॥४६।

ग्राम्योक्ति, अशुद्ध शब्दो का प्रयोग, अनावश्यक का प्रस्तुतीकरण, गमक और पद मे जडता प्रबन्धज्ञान का अभाव, रसानुरूपरागो का अज्ञान असहृदयता क्रिया के निर्वाह मे अज्ञान, दुर्बल शरीर, कालमान मे न्यूनता या अधिकता का अज्ञान, रीतिभङ्ग, छाया से च्युत होना असमय गान अश्राव्य गान लक्षण के विरुद्ध धातु (गय) और मातु की रचना, इन दोषो से युक्त वाग्गयकार निन्द्य है ॥४०-४३॥

अब इनमे सूडक्रम के अनुसार तारतम्य कहा जाता है। शुद्ध और सालग रागो मे विषम और प्राञ्जल सूड का रचयिता उत्तमोत्तम, पूर्वोक्त दोनो प्रकार के रागो मे विषम सूड को प्रणेता उत्तम मध्यम तथा प्राञ्जल सूड का कर्त्ता उत्तमाधम होता है।

१ (क) रसानिरूपारागाणा । २ (क) मन्दशारीरता ।
३ (क) अश्रव्य । ४ (क) मतादेषां ।

वाग्गेयकारस्सोऽय मध्यमोत्तम इष्यते ।
शुद्धे विषमसूडस्य कर्ता मध्यममध्यम ॥४७॥
कर्ता प्राञ्जल सूडस्य शुद्धे स्यान्मध्यमाधम ।
य कुर्य्यात् सालगे सूड विषम प्राञ्जल तथा ॥४८॥
जघन्येषूत्तमस्सोऽयमुद्दिष्टो वयकारक ।
कर्ताविषमसूडस्य सालगे तेषु मध्यम ॥४९॥
सालगे प्राञ्जलस्यैव कर्ता तेष्वधम स्मृत ।
अधमो मातुकारश्च धातुकारश्च मध्यम ॥५०॥
[1]धातुमातुक्रियायुक्त उत्तम परिकीर्तित ।
वाग्गयकारयोर्वादे सूड गातु प्रदापयेत् ॥५१॥
उत्तार बन्धगीत वा पट्टान्तरमथापि वा ।
कुरुप वा ततस्तद्वत् गुणदोषान् निरूपयेत्[2] ॥५२॥

शुद्धराग मे विपम और प्राञ्जल सूड का रचयिता मध्यमोत्तम, विपम सूड का कर्ता मध्यमध्यम और प्राञ्जल सूड का कर्ता मध्यमाधम होता है।

सालग राग मे विपम और प्राञ्जल सूड का रचयिता जघन्योत्तम, विषम सूड का कर्ता जघन्यमध्यम और प्राञ्जल का कर्ता जघन्याधम होता है।

मातुकार अधम धातुकार मध्यम और धातुमातुकार उत्तम है।

वाग्गयकारो मे वाद होने पर गाने के लिए सूड, उत्तार, बन्धगीत, पट्टान्तर या कुरुप दिया जाना चाहिये, तदनुसार गुण दोषो का निरूपण उचित है ॥४४-५२॥

---

१ (क) दातुमातु ।
२ (क) निरूपयेत् ।

गायकाः —

अनिन्द्याश्चैव निन्द्याश्च द्विविधा गायका मताः ।
क्रमेण वक्ष्यते तेषां लक्ष्मोद्देशपुरःसरम् ॥५३॥
क्रियापरः क्रमस्थश्च गतिस्थः सुघटस्तथा ।
सुसञ्चः शिक्षकश्चैव[1] रसिको भावुकस्तथा ॥५४॥
रञ्जकः[2] पररीतिज्ञः सुगन्धोऽनियमस्तथा[3] ।
आलप्तिगायनो गीतगायनश्चौपटस्तथा[4] ॥५५॥
[5]वितालश्च विबन्धश्च[6] मिश्रश्चानिन्द्यगायकाः ।
यथाशास्त्रप्रयोगेण मार्गं देशीयमेव च ॥५६॥
यो गायति विना दोषान् कथ्यते स क्रियापरः ।
उत्तमोत्तमसूडादिसूडान् गायति यः क्रमात् ॥५७॥
प्रतिरूपकपर्य्यन्तं क्रमस्थः स उदाहृतः ।
वश्यकण्ठतया सम्यक् गमकान् यः पृथक् पृथक् ॥५८॥
[7]गमयेल्लक्षणोपेतं गतिस्थः स तु कीर्तितः ।
स्वरं वर्णं च तालञ्च व्यक्तं घटयति त्रयम् ॥५९॥

गायक दो प्रकार के है, अनिन्द्य और निन्द्य । क्रमशः उनका लक्षण पूर्वक कथन किया जाता है । क्रियापर, क्रमस्थ, गतिस्थ, सुघट, सुसञ्च शिक्षक, रसिक, भावुक, रञ्जक, पररीतिज्ञ, सुगन्ध, अनियम, आलप्ति गायन, गीतगायन, चौपट, विताल, विबन्ध और मिश्र, ये अनिन्द्य गायक हैं।

जो शास्त्रानुसार प्रयोग पूर्वक, मार्ग और देशी को दोष रहित गाता है, वह 'क्रियापर' है ।

जो उत्तमोत्तम इत्यादि सूडों को क्रमपूर्वक प्रतिरूपक पर्य्यन्त गाता है, वह 'क्रमस्थ' है ।

---

१. (ख) सिकषश्चै । २. (क) पञ्जक , (ख) रर्दकः ।
३. (क) सुगुडोऽप्यनियमस्तथा । ४. (क) चापट । ५. (क) रितालश्च ।
६. (क) विवृन्दश्च । ७. (क) गमयो

शोभनध्वनिसयुक्त सुघठ[1] त प्रचक्षते ।
सुशारीरवशात्तत्तद्रागालप्तिकृतिक्षम[2] ॥६०॥
अनायासेन गीतज्ञस्सुसञ्च परिकीर्तित ।
द्रुत यः शिक्षते गीत विषम प्राञ्जल तथा ॥६१॥
शुद्धे छायालगे सम्यक् शिक्षाकार[3] स कथ्यते ।
सुश्रव गीतमाकर्ण्य भवेद्य पुलकान्वित ॥६२॥
आनन्दाश्रुकणाकीर्ण सोऽय रसिकगायक ।
[4]नीरस सरस कुर्वन् निर्भाव[5] भावसयुतम् ॥६३॥
श्रोतुश्चित्त परिज्ञाय यो गायेत् स तु भावुक[6] ।
चेतोहरेण गीतेन विदित्वा श्रोतुराशयम् ॥६४॥
रङ्गे गीते विधत्ते यो रञ्जकस्सोऽभिधीयते ।
[7]गीतशारीरचेष्टानामालप्तौ चानुकारकृत्[8] ॥६५॥

जो कण्ठ अधीन होने के कारण, लक्षणयुक्त गमको का प्रयोग पृथक् पृथक् करता है, वह 'गतिस्थ' है।

जो स्वर, वर्ण और ताल की घटना सुन्दर ध्वनि से युक्त करता है, वह 'सुघट' है।

अच्छा शारीर होने के कारण जो प्रत्येक राग की आलप्ति करने मे अनायास समर्थ है वह सुसञ्च है, जो शुद्ध और छायालग राग मे झटपट विषम और प्राञ्जल गीत सीख लेता है वह शिक्षाकार है। जो सुश्राव्य गीत को सुनकर पुलकान्वित (॥५३-६२॥) और आनन्दाश्रुपूर्ण नयन हो जाता है, वह 'रसिक' है।

श्रोता के चित्त को जानने के पश्चात् नीरस को सरस और भाव हीन को भावयुक्त करने वाला गायक 'भावुक' कहलाता है।

मनोहर गीत के द्वारा श्रोताओ के आशय को जानकर रङ्गस्थल मे ही गीत का विधान करने वाला गायक 'रञ्जक' है।

---

१ (क) सुपुड । २ (क) रागसञ्चकृतिक्षय । ३ (क) सेक्षाकार । ४ (ख) निरस । ५ (ख) निभाव ६ (ख) भावक । ७ (ख) गति । ८ (क) भानुकार ।

गीतोत्तमगुणैर्युक्तः परीतिज्ञ[1] इष्यते ।
विषमं प्राञ्जलं वापि सुचिरं यस्य गायतः ॥६६॥
कण्ठे न याति माधुर्यं सुगन्धः स तु कीर्तितः ।
गीतादपि य आलप्तिं कुर्यात्[2] सौख्यविधायिनीम् ॥६७॥
आलप्तिगायनस्सोऽयं निर्दिष्टो गीतवेदिभिः ।
आलप्तेरपि यद्गीत भवेदतिमनोहरम् ॥६८॥
उक्तो गायकभेदज्ञैः सोऽयं रूपकगायनः ।
शुद्धे छायालगे चैव गीतमालप्तिसंयुतम् ॥६९॥
यो गायति स विज्ञेयश्चौपटो[3] गीतवेदिभिः ।
ध्वनिशारीरयोर्यस्य नानादेशीयरीतय.[4] ॥७०॥
विलगन्ति स विज्ञेयो रीतालो[5] (वितालो) गीतवेदिभिः ।
नानाविधां विभक्ताञ्च ध्वनौ[6] यश्चिन्तयेद् गतिम् ॥७१॥
[7]विबन्ध. स परिज्ञेयो गीततत्वविचक्षणैः ॥॥७२॥
रागे रागान्तरच्छायां मिश्रयन् दोषवर्जिताम् ।
प्रवीणत्वेन यो गायेत् सोऽयं मिश्र उदाहृतः ॥७३॥

आलप्ति में गीत और शरीर की चेष्टाओ का अनुकरण करने वाला गीत के उत्तम गुणो से युक्त गायक 'परीतिज्ञ' है। बहुत समय तक विषम और प्राञ्जल गीत गाते गाते भी जिसके कण्ठ से माधुर्य नही जाता, वह 'सुगन्ध है।

जो गीत की अपेक्षा भी अधिक सुख देने वाली आलप्ति करता है, वह 'आलप्ति गायन' है।

जिसका गीत आलप्ति की अपेक्षा भी अत्यन्त मनोहर हो, वह गीतज्ञों के द्वारा 'रूपकगायन' कहा गया है।

---

१. (ख) परि। २. (ख) श्रुतौ।
३. (क) चोपटा। ४. देशेषु। ५. (क) रितालो।
६. (क) ध्वनीयश्चिन्तयेद्। ७. (क) विबन्दस्स।

गायकेषु निन्दा —

सन्दष्ट कम्पितो[1]भीत शङ्कित सानुनासिक ।
[2]उद्घुष्टश्च तथा काको सूत्कारो चाव्यवस्थितः ।।७४।।
कराली झोम्बका[3] वक्री प्रसारी च निमीलक ।
तथा निरवधानश्च वितालश्चोष्ट्रकी तथा ।।७५।।
उद्घडी मिश्रकश्चेति निन्द्या एकोनविशति ।
दन्तसन्दशतो[4] गाता सन्दष्ट परिकीर्तित ।।७६।।
न्यूनाधिकस्वरैर्गीता कपिलस्समु दाहृत [5] ।
यो गायति[6] भयाविष्टम्त[7] भीत गायनञ्जगु ।।
शङ्काकुलस्तु यो गायेत् स शङ्कित उदाहृत ।
गीत नासिकया गायेत् विज्ञय सोऽनुनासिकः ।।७८।।
[8]उद्घुष्ट सर्वत क्षुब्धो गायन् गायन[9] इष्यते ।
[10]काकस्येव स्वरो यस्य स काकी परिकीर्तित ।।७६।।

जो शुद्ध और छायालग राग मे आलप्ति युक्त गीत गाता है वह चौपट है।

जिसकी ध्वनि और शारीर म विभिन्न देशो की रीतियो का स्पर्श होता है वह रीगाल है।

जो ध्वनि म ढङ्गढङ्ग से विभक्त गति का चिन्तन करता है वह विबन्ध है।

जो एक राग मे दूसरे राग की छाया का प्रयोग निर्दोप रूप मे तथा कुशलता पूर्वक करता है, वह मिश्र है।

---

१ (क), (ख) कपिलो । २ (क) उददुष्ट ।
३ (क) झोम्बकी । ४ सन्दष्टतो । ५ (क) कधिल ।
६ (क) भयाक्रान्ता । ७ (क) स्तम्भित । ८ (क) उदघृष्ट ।
९ (क) गायण । १० (क) काकास्येव ।

[1]सूत्कारी सूत्कृतिप्रायो गायकः कथितो बुधैः ।
अव्यवस्थित इत्युक्तः स्थानकेष्वव्यवस्थितः ॥८०॥
उद्घाट्य वदनं गायन् करालीति निगद्यते ।
उत्फुल्लगल्लनयननासिको झोम्बकः स्मृतः ॥८१॥
[2]गानवक्रीकृतग्रीवो नाम्ना वक्री प्रकीर्तितः ।
गीतस्यातिप्रसारेण प्रसारीति निगद्यते ॥८२॥
निमील्य नयने गायन् कथितोऽसौ निमीलकः ।
गीतावधानरहितः स स्यान्निरवधानकः ॥८३॥
वितालो गायकः प्रोक्तो वितालं यस्तु गायति ।
गायन्नुष्ट्रवदासीनः उष्ट्रकी सम्प्रकीर्तितः ॥८४॥
हनुसञ्चलनाद् गायन् छागवद् गमकान्वितम्[3] ।
उद्घडस्सोपहासार्हो[4] कीर्तितो गीतवेदिभिः ॥८५॥

सन्दष्ट, कम्पित, भीत, शङ्कित, सानुनासिक, उद्घुष्ट, काकी, सूत्कारी, अव्यवस्थित, कराली, झोम्बक, वक्री, प्रसारी, निमीलक, निरवधान, विताल, उष्ट्रकी, उद्घड और मिश्रक ये उन्नीस निन्द्य गायक हैं ।

दाँत चबाकर गाने वाला 'सन्दष्ट' न्यूनाधिक स्वर लगाने वाला 'कपिल' भयभीत होकर गाने वाला 'भीत', शङ्काकुल होकर गाने वाला 'शङ्कित' नाक से गीत गाने वाला 'सानुनासिक', सब ओर से क्षुब्ध होकर गाने वाला उद्घुष्ट, कौए जैसे स्वर वाला 'काकी' 'सू-सू' करके गाने वाला सूत्कारी, स्थानो मे व्यवस्था न रखने वाला 'अव्यवस्थित', मुँह फाड़कर गाने वाला 'कराली', गला, आँखे और नाक फुलाकर गाने वाला 'झोम्बक', गाते समय गर्दन टेढी करने वाला 'वक्री', गीत को अधिक फैलाकर गाने वाला 'प्रसारी', आँखें बन्द करके गाने वाला 'निमीलक', गीत पर एकाग्र न रहने वाला 'निरवधान', बेताला गाने वाला 'विताल', ऊँट की भाँति बैठ कर गाने वाला 'उष्ट्रकी' बकरे की भाँति ठोड़ी चला चला कर गमकयुक्त गाने वाला उपहासास्पद गायक 'उद्घड' कहा गया है ॥६३-८५॥

---

१. (क) शूत्कारी शूत्कृतिप्रायी । २. (क) गायन्वक्रीकृतग्रीवा ।
३. (ख) गमकान्वित । ४. (ख) सोपहो ।

गायकभेदा :—

करोति शुद्धरागे च छायालगविमिश्रणम् ।
छायालगे वा कुर्यात् शुद्धरागविमिश्रणम् ॥८६॥

मिश्रकः स परिज्ञेयो गीततत्त्वार्थदर्शिभिः ।
[1]एकलो यमलोचैव सामुदायिक इत्यपि ॥८७॥

गायत्यन्यानपेक्षो[2] य सुगीतं लक्षणान्वितम् ।
एकलो गायकः स स्याद् द्वौ चेद् यमलगायकौ ॥८८॥

मिलित्वा बहुभिर्यस्तु गीतं गायति गायनः ।
स वृन्दगायनस्तेषा पूर्वः पूर्वो भवेद् वर ॥८९॥

गुणैर्बहुभिरल्पैश्च तारतम्यमथोच्यते ।

गायककोटय —

विविधालप्तिचातुर्य ग्रहमोक्षे च दक्षता ॥९०॥

स्थानत्रयप्रयोगश्च गम्भीरमधुरो ध्वनि. ।
सर्ववस्तुषु गातृत्वं तालज्ञत्व सुरेखता ॥९१॥

जो शुद्ध राग में छायालग का अथवा छायालग मे शुद्ध राग का मिश्रण करता है, वह 'मिश्रक' है ।

गायको के तीन और भेद एकल, यमक और सामुदायिक हैं ॥८६, ८७॥

जो अकेला ही निरपेक्षरूप में लक्षणयुक्त गीत गाता है, वह 'एकल', मिलकर दो गाने वाले 'यमल' और अनेक के साथ मिलकर गाने वाला 'वृन्दगायन' है, इनमें प्रत्येक की अपेक्षा उससे पूर्व श्रेष्ठ है ।

अब उनमें गुणों के बाहुल्य और अल्पत्व के कारण तारतम्य कहा जाता है ।

---

१. (क) यक्कलो । २ (क) क्ष ।

[1]प्रयोगे सुघटत्वञ्च रागरागाङ्गकौशलम् ।
जितश्रमत्वं कण्ठस्य वश्यत्वमवधारणा[2] ॥६२॥

मध्ये मध्ये च रागस्य प्रौढौचित्योपवेशनम् ।
शिक्षा च सदुपाध्यायादुत्तमे[3] गायके गुणाः ॥६३॥

एषां मध्ये गुणैर्द्वित्रैर्विहीनो मध्यमो मतः ।
चतुर्भिः पञ्चभिर्वापि गुणैर्हीनः कनिष्ठकः ॥६४॥

उत्तमोत्तमपूर्वञ्च भेदजातमथोच्यते ।
शुद्धं छायालगञ्चैव गतिमालप्तिसंयुतम् ॥६५॥

स्थानत्रयेण यो गायेत् स भवेदुत्तमोत्तमः ।
स्थानकद्वितयेनैतत् गायन्नुत्तममध्यमः ॥६६॥

एकस्थानेन यो गायेत् स भवेदुत्तमाधमः ।
स्थानत्रयेण यश्शुद्धगीतमालप्तिसंयुतम् ॥६७॥

विविध आलप्तियो में चातुर्य, ग्रह और मोक्ष में दक्षता, तीनों स्थानों का प्रयोग, गम्भीर और मधुर ध्वनि, सभी वस्तुएं गाने का सामर्थ्य, तालज्ञता, सुरेखता, प्रयोग में सुघड़पन, रागरागाङ्ग में कौशल, जितश्रमता, कण्ठ पर अधिकार, धारणा, राग के मध्य मध्य में प्रौढताजन्य औचित्य का सयोग तथा अच्छे गुरु से प्राप्त शिक्षा ये गुण उत्तम गायक में होते हैं।

इनमें दो तीन गुणों से हीन मध्यम और पांच गुणो से हीन कनिष्ठ होता है।

अब इनके उत्तमोत्तम इत्यादि प्रकार कहे जाते है। जो व्यक्ति शुद्ध और छायालग राग में आलप्तिपूर्वक गीत गाता है, वह उत्तमोत्तम है, जो यह कार्य्य दो स्थानों में करता है, वह उत्तममध्यम है, जो यही कार्य्य एक स्थान में करता है, वह उत्तमाधम है।

---

१. (क) प्रयोगेषु पुटत्वं ।
२. (क) णे । ३. (ख) तदुपाध्यायात् ।

शुद्धरीत्या युतं गायेत् स भवेन्मध्यमोत्तमः ।
स्थानद्वयेन चैतस्य गाता मध्यममध्यमः ॥९८॥
स्थानेनैकेन यो गायेत् स भवेन्मध्यमाधमः ।
गीत छायालगे सम्यक् आलप्तिमपि तादृशीम् ॥९९॥
स्थानत्रयेण यो गायेत् स कनिष्ठोत्तमः स्मृतः ।
स्थानद्वयेन यो गायेत् स कनिष्ठेषु मध्यमः ॥१००॥
स्थानेनैकेन यो गायेत् स कनिष्ठाधमः स्मृतः ।
जाते गायकयोर्वादे शुद्धे छायालगेऽथवा ॥१०१॥
सूडौ ठायौ तयोरत्र प्रवक्ष्येते यथाक्रमम् ।
एलादिसूड विषम शुद्धे गातु प्रदापयेत् ॥१०२॥
आलप्ति तादृशीमेव स्थायमेकादशाङ्गुलम् ।
सूड छायालगे दद्यात् ध्रुवादि विषम तथा ॥१०३॥
आलप्ति तादृशीमेव स्थायमपि दशाङ्गुलम् ।
इत्युक्तेन प्रकारेण गुणदोषान्निरूप्य च ॥१०४॥

जो गायक शुद्ध राग मे तीनो स्थानों का प्रयोग करके आलप्तियुक्त गीत गाता है, वह मध्यमोत्तम, जो दो स्थानों में गाता है, वह मध्यमध्यम (८६-९८) और जो एक स्थान मे गाता है, वह मध्यमाधम है ।

जो आलप्तियुक्त गीत छायालगराग में तीनों स्थानों का प्रयोग करके गाता है, वह कनिष्ठोत्तम, जो दो स्थानों का प्रयोग करके गाता है, वह कनिष्ठमध्यम और जो एक स्थान का प्रयोग करके गाता है, वह कनिष्ठाधम है ।

शुद्ध और छायालग राग में दो गायकों के वाद के समय दिये जाने वाले सूड और स्थाय कहे जायेंगे ।

शुद्धराग के वाद में एलादि विषम सूड और वैसी ही आलप्ति और एकादश अङगुल का स्थाय छायालग राग में ध्रुवादि विषम सूड, वैसी ही आलप्ति और दशाङ्गुल स्थाय देना चाहिये ।

तारतम्यं तयोर्ज्ञात्वा दद्याज्जयपराजयौ ।
गायकानाञ्च निर्दिष्टा गुणदोषा मनीषिभिः ॥१०५॥
तथैव गायनीनाञ्च ज्ञेया गीतविशारदैः ।

गाने योषितां प्रमुख्यम्—

प्रामुख्यं योषितामेव गाने भवति कुत्रचित् ॥१०६॥
नृणां तदनुसारेण प्रामुख्यं वा विधीयते ।

तथा चादिभरते*—

प्रायेण तु स्वभावात् स्त्रीणां गानं नृणाञ्च पाठ्यविधिः ।
स्त्रीणां स्वभावमधुराः कण्ठाः नृणां च बलवन्तः ॥१०७॥
यः स्त्रीणां पाठ्यगुणो[1] भवति नराणां[2] च गानमधुरत्वम् ।
ज्ञेयस्सोऽलङ्कारो नहि स्वभावो[3] ह्ययं तेषाम् ॥१०८॥
यद्यपि पुरुषो गायति[4] गीतविधानं तु लक्षणोपेतम् ।
[5]स्त्रीविरहितः प्रयोगः तथापि न सुखावहो भवति ॥१०९॥

पूर्वोक्त प्रकार से गुण-दोषों का निरूपण और तारतम्य का निश्चय करके जय-पराजय घोषित करना चाहिये ।

बुद्धिमानों ने गायकों के जो गुण-दोष बताये हैं, वही गायिकाओं के भी समझे जाने चाहिये ।

कही गान में नारियों की प्रमुखता होती है और कही पुरुषों की । आदि-भरत के अनुसार—

स्वभावत तो गाना स्त्रियो का और पाठ्यविधि पुरुषों की है स्त्रियों के कण्ठ स्वभावतः मधुर और पुरुषों के बलवान् (भारी) होते हैं ।

जो नारियों में पाठ्यगुण (वाद्य गुण) और पुरुषों मे गानमाधुर्य हो, तो वह 'अलङ्कार' है, स्वभावज नही ॥९८-१०८॥

यद्यपि पुरुष लक्षणयुक्त गीतविधान गाता है, तथापि नारीविहीन

---

* अत परमादिभरतोक्तं पङ्क्तिषोडशक मुद्रिते सङ्गीतसारे नास्ति । नाट्यशास्त्रस्य चौखम्बासंस्करणे, बटौदर संस्करणे च क्वाचित्पाठभेदयुक्तो विषय एष प्राप्यते । नाट्यशास्त्र चौखम्बा सस्करणे पाठान्तरम्—१. वाद्यगुणो । २. नृणा । ३. भवति । ४. नेता । ५. माधुर्यगुणविहीनं शोभाजननं न तत् भाति ।

एवं स्वभावसिद्धं स्त्रीणां गानं, नृणां च पाठ्यमपि[1] ।
अपरस्परसम्पन्नं कार्य्यं चायत्ननिष्पन्नम् ॥११०॥
[2]प्रायेण देवपार्थिवसेनापति मुख्यपुरुषभवनेषु ।
[3]आभ्यन्तरप्रयोगो भवत्यपुरुषोऽङ्गनाबद्धः ॥१११॥
[4]भूयिष्ठः स्त्रीषु कर्तव्यः प्रयोगः पुरुषाश्रयः ।
[5]यस्मात् स्वभावतः स्त्रीणां चेष्टा प्रीतिकरी भवेत् ॥११२॥
नित्यं व्यायामयोगेन[6] नृणां भवति सौष्ठवम् ।
स्वभावतस्तु मधुरं स्त्रीणामङ्गविचेष्टितम् ॥११३॥
[7]एवं नृभिः सदा स्त्रीणां मुपदेष्टव्यमेव तु ।
गानं वाद्यं च पाठ्यञ्च नानाप्रकृतिसम्भवम् ॥११४॥
अवैस्वर्य्यं भवेस्त्रीणां गानपाठक्रियास्वथ[8] ।
नहि तत्कण्ठमाधुर्य्यं पुरुषेषु भविष्यति ॥११५॥

प्रयोग सुखदायक नहीं होता। इस प्रकार नारियों का गान और पुरुषों का पाठ्य (अथवा वाद्यगुण) स्वभावसिद्ध है। इनका अपरस्परसम्पन्न (स्वतंत्र) कार्य्य प्रयत्न के विना ही निष्पन्न हो जाता है। प्रायः मन्दिर, राजभवन, सेनापति तथा मुख्यपुरुषों के भवनों में पुरुषहीन एवं अङ्गनाश्रित प्रयोग होता है ॥१०९-१११॥

पुरुषाश्रित प्रयोग नारियों मे अधिक करना चाहिये, क्योंकि नारियों की चेष्टा स्वभावत प्रीतिकर होती है ॥११२॥

पुरुषों मे अङ्गसौष्ठव प्रतिदिन व्यायाम का परिणाम है, स्त्रियों की अङ्गचेष्टाएं स्वभावत मधुर होती है।

अतः पुरुषों के द्वारा तो सदा नारियो को विभिन्न प्रकृति के गान वाद्य एवं पाठ्य में प्रशिक्षित किया जाना चाहिये।

गान और पाठ की क्रियाओं में नारियों के द्वारा विस्वरता नहीं होती, उन जैसा कण्ठ माधुर्य्य पुरुषों में नही होगा।

---

१. पाठ्यविधि । २ प्रायेण दानवासुररक्षोयक्षोरगाविविधचेष्टा ।
३. वाक्याश्रिता प्रयोगेभवन्ति पुरुषाङ्गना बद्ध । ४ स्त्रीभि. कार्य्यं प्रयत्नेन प्रयोग.— पुरुषाश्रय । ५. यस्यात् स्वभावोपहितो विलास स्त्रीकृतो भवेत् ।
६. व्यायामयोग्याभिः । ७. एव स्त्रीणान्तु पुरुषैरुपदेष्टव्यमेव हि । ८. वाद्य ।

गायन्त्योर्वादः —

[1]गायन्त्योर्यदि वादः स्यात् शुद्धे छायालगेऽथवा ।
स्थाय्यामेव विशेषोऽस्ति[2] सूडालप्तिस्तु पूर्ववत् ॥११६॥
चतुर्दशाङ्गुलां स्थायीं शुद्धे दद्याद्विचक्षणैः ।
स्थायीं छायालगे दद्यात् द्वादशाङ्गुलसम्मिताम् ॥११७॥

वादिवल्लभं गीतम्—

[3]अभ्यवस्थानकं गीतंतालपाटैरलक्षितम्[4] ।
प्रयोगबहुलं रूक्षं विषमं वादिवल्लभम् ॥११८॥*

वादोपयोगिनो वंशाः —

[5]जयश्रीर्विजयोनन्दो महानन्दाभिधस्तथा ।
वंशाश्चत्वार इत्युक्ता वादेषु भरतर्षिणा ॥११९॥

वंशे वादनियमः —

अथ सूडाश्च थाय्यश्च वादे[6] नियमकल्पना ।
इत्युक्तेन प्रकारेण गुणदोषान्निरूप्य च ॥१२०॥

यदि गायिकाओं में वाद हो, तो शुद्ध और छायालग राग में सूड और आलप्ति तो पूर्ववत् देना चाहिये, स्थायी मे ही अन्तर है ॥११६॥

विद्वानों के द्वारा शुद्ध राग में चतुर्दशाङ्गुल और छायालग में द्वादशाङ्गुल स्थायी देना चाहिये ॥११७॥

जिसके ताल और पाट अलक्षित हो, जिसमें गमक बाहुल्य हो, जो विषम और रूक्ष हो, ऐसा अभ्यवस्थानक (बेढव) गीत वादियों को प्रिय होता है ॥११८॥

भरतऋषि ने वाद में जयश्री, विजय, नन्द और महानन्द नामक चार वंश उपयुक्त बताये हैं ॥११९॥

वाद में दिये जाने वाले सूडों और स्थायों के देने के नियम पूर्वोक्त प्रकार से हैं ।

---

१. (क) गायन्त्यो, (ख) गायन्या । २. (क) विशेषोक्ति । ३. (क), (ख) अत्युस्थानकं । ४. (क) तालपीतैरलङ्कृतम् । (ख) तालपादैरलङ्कृतम् । अस्मत्पठितः पाठ । *सिंहभूपालोद्धृतः सङ्कृतश्च । ५. (क) जयश्च । ६. (ख) वमि ।

तारतम्य तयोर्ज्ञात्वा दद्याज्जयपराजयौ ।

वैणिक गुणा —

जितेन्द्रिय प्रगल्भश्च स्थिरासनपरिग्रह ॥१२१॥
शरीरसौष्ठवोपेत करयोर्विजितश्रम [1] ।
सावधानो भयत्यक्तो [2] रागरागाङ्गतत्वविद् ॥१२२॥
गीतवादनदक्षश्च वैणिक कथितो वर ।

वैणिक दोषा —

वृत्तित्रयानवगतिरवधानविहीनता ॥१२३॥
अलङ्कारस्वराज्ञत्वम् विकलाङ्गत्वमेव च ।
रागगीतस्वराणा च वादनेष्वसमर्थता ॥१२४॥
इत्यादयस्समुद्दिष्टा दोषा वैणिकसश्रयाः ।
[3]पौरत्व सुस्वरत्वञ्च घनत्व फूत्कृते [4] गुणा ॥१२५॥

वांशिक गुणा —

अर्धमुक्तिरमुक्तिश्च मुक्तिश्चेत्यङ्गुलीवहा ।
अगुलीसारणास्तासुगमकेषु च सप्तसु ॥१२६॥

गुणदोषो को जानकर उनका तारतम्य निर्णीत कर जय-पराजय का कथन उचित है।

जितेन्द्रिय, प्रगल्भ स्थिर आसन और परिग्रह से युक्त, शरीर-सौष्ठवसम्पन्न, श्रमजयी सावधान निर्भय, राग-रागाङ्ग मर्मज्ञ गीत-वादन मे दक्ष वैणिक श्रेष्ठ है।

तीनो वत्तियो के विषय मे अज्ञान अवधान का अभाव अलङ्कारो के स्वरो से अपरिचय विकलाङ्गता, राग और गीत के स्वरो का वादन करने मे असामर्थ्य (१२०-१२४) इत्यादि वैणिक के दोष बताए गए है।

भराव, सुस्वरता और प्रागढता ये फूक के गुण है ॥१२५॥

अर्धमुक्ति अमुक्ति, और मुक्ति ये अँगुलियो के द्वारा स्वरनिष्पादन की क्रियाएँ है, इनमे तथा सातो गमको मे निपुणता, सुस्थानता, सुरागत्व,

---

१ (ख) विजिताश्रम । २ (क) भवत्युक्तो ।
३ (क) सौरत्व । ४ (क) स्थूत्कृते ।

सुस्थानता सुरागत्वं दक्षता गीतवादने ।
क्रियाभाषाविभाषासु रागरागांगयोरपि ॥१२७॥
स्वस्थाने चाप्यवस्थाने रागनिर्माणनैपुणम्[1] ।
गातृणां स्थानदातृत्वं[2] तद्दोषाच्छादनं तथा ॥१२८॥
एवमादिगुणैर्युक्तो वांशिकः प्रवरो मतः ।

वांशिकदोषा. —

फूत्कारस्खलितः स्तोकयमलस्फूत्कृतस्तथा ॥१२९॥
निन्दनीया इमे प्रोक्ता वशविद्याविशारदैः ।
वहृणिः कम्पितो[3] मूर्धस्वस्थानाप्राप्तिरेव च॥१३०॥
[4]मिथ्याप्रयोगप्राचुर्य्यमज्ञत्व गीतवादने ।
एते दोषा विशेषेण वांशिकस्य प्रकीर्तिताः ॥१३१॥

वादक श्रेण्यः —

रागे गमकं गीत च शुद्धे छायालगेऽथवा[5] ।
यो वादयेत् स विज्ञेयो वादकेषूत्तमोत्तमः ॥१३२॥
वाद्यन्ते रागगमका येन रागाश्च केवलाः ।
तावुभौ च क्रमाज्ज्ञेयावुत्तमे मध्यमाधमौ ॥१३३॥

गीत के वादन मे दक्षता, क्रियाङ्ग, भाषाङ्ग, विभाषा, राग तथा रागांगों में नैपुण्य, स्वस्थान और अवस्थान मे राग निर्माण का कौशल, गायकों को स्थान दिखाना और उनके दोषों को छिपाना इत्यादि गुणों से युक्त वांशिक श्रेष्ठ है ।

फूँक से फिसलने वाला, कम साँस वाला तथा एक ही समय दुहरी फूक मारने वाला ये वांशिक वंशविशेषज्ञों की दृष्टि मे निन्द्य है ।

सिर का (बकरे की भाँति) हिलना, स्वर कांपना, तारस्थान की अप्राप्ति, मिथ्या प्रयोग की अधिकता और गीतवादन में अज्ञान ये वांशिक के दोष विशेषतया बताये गये है ॥१२६-१३१॥

शुद्ध और छायालग राग में जो गमक और गीत का वादन करता है, वह उत्तमोत्तम वादक है, जो राग और गमक बजाता है, वह 'उत्तममध्यम' और जो केवल राग बजाता है वह उत्तमाधम है ॥१३२-१३३॥

१. (क) निर्वाण । २. (क) गातृत्वं । ३. (क) मूर्ध. । ४. (क) नित्या । ५. (क) तथा ।

रागे च गमकं गीतं शुद्धे यो वादयेत्तथा ।
वादकः स परिज्ञेयो गीतज्ञैर्मध्यमोत्तमः ॥१३४॥

वाद्यन्ते रागगमका येन रागाश्च केवलाः ।
तावुभौ च क्रमाज्ज्ञेयौ मध्यमे मध्यमाधमौ ॥१३५॥

रागे च गमकं गीतं सालगे यश्च वादयेत् ।
वादकस्स परिज्ञेयो जघन्येषूत्तमो बुधैः ॥१३६॥

वाद्यन्ते रागगमका येन रागाश्च केवलाः ।
तावुभौ च क्रमाज्ज्ञेयौ जघन्ये मध्यमाधमौ ॥१३७॥

प्रत्येक नवधा ज्ञेयावित्थ वैणिकवांशिकौ ।

वादकवादनियम —

वादे वैणिकयोर्जाते तथा वांशिकयोरपि ॥१३८॥
वादने रागगमकौ तालपाण्याः[2] प्रदापयेत् ।
शुद्धसालगयोः सूडौ पूर्ववच्च परस्परम् ॥१३९॥

जो शुद्ध राग में राग, गमक और गीत बजाता है, वह मध्यमोत्तम, जो राग और गमक बजाता है, वह मध्यममध्यम और जो केवल राग बजाता है, वह मध्यमाधम है ॥१३४-१३५॥

सालग राग में जो राग, गमक और गीत का वादन करे, वह जघन्योत्तम, जो राग एव गमक का वादन करे, वह जघन्यमध्यम और जो केवल रागों का वादन करे, वह जघन्याधम है ॥१३६, १३७॥

इस प्रकार वैणिक और वाशिक नौ नौ प्रकार के है ।

वैणिको में या वांशिकों में परस्पर वाद होने पर तालपाणि (!) के रागगमक देना चाहिये, शुद्ध और सालग मे सूड का दान पूर्ववत् होना चाहिये । परस्पर उनमें तारतम्य निश्चित करके जय-पराजय का निर्णय उचित है ।

१. (क) वार । २. (क) तालपट्या ।

तारतम्य तयोर्ज्ञात्वा दद्याज्जयपराजयौ ।

कविताकारभेदा –

[1]विद्वान् कुलीनो मनिमान् नीरोगो रूपवान् शुचि ॥१४०॥
षण्मार्गकालभेदज्ञो यतिग्रहविशारद ।
आवापादिक्रियाज्ञश्च तथैव ध्रुवकादिवित् ॥१४१॥
यथावाद्याक्षराणाञ्च[2] पाठप्रकटने[3] पटु ।
कर्ता कुलकवाद्यस्य तालवाद्यविधानवित् ॥१४२॥
[4]यथाक्षरविनिष्पत्तिस्तथैव यतिपूरक ।
चतुस्रादितालेषु बन्धवाद्यकृतिक्षम ॥१४३॥
वाद्याक्षराणा सम्बन्धेष्वर्थोत्पादनकोविद ।
प्रशस्तकविताकारो गुणैरेभिस्समन्वित ॥१४४॥
एभ्यो ये विपरीतास्ते दोषास्सद्भिरुदाहृता ।
अर्थयुक्तस्य वाद्यस्य कर्ता स्यादुत्तमाभिध ॥१४५॥
तथैव बन्धवाद्यस्य कर्ता मध्यम ईष्यते ।
कर्ता कुलकवाद्यस्य कनिष्ठः कथितो बुधै ॥१४६॥

विद्वान्, कुलीन, बुद्धिमान् नीरोग रूपवान्, शुद्ध, छ मार्ग और काल के भेद का मर्मज्ञ, यति एव ग्रह मे निपुण आवाप इत्यादि क्रियाओ का ज्ञाता, उसी प्रकार ध्रुवका इत्यादि (मात्राओ) का मर्मज्ञ, वाद्याक्षरो के अनुसार पाठ के प्रकटन मे पटु कुलकवाद्य का रचयिता, तालवाद्यविधान का वेत्ता, यथाक्षरविनिष्पादन मे कुशल पूरक, चतुरस्र इत्यादि तालो मे बन्धवाद्य की रचना मे निपुण, वाद्याक्षरो के सम्बन्ध मे अर्थ का उत्पादन करने मे कुशल व्यक्ति श्रेष्ठ कविताकार कहलाता है । इनसे विपरीत कर्म्म दोष कहे गये हैं ।

अर्थयुक्त वाद्य का कर्ता उत्तम, वन्धवाद्य का स्रष्टा मध्यम और कुलकवाद्य का प्रणेता कनिष्ठ कहलाता है ॥१३७-१४६॥

---

१ (क) विद्याल् । २ (क) वाद्याक्षररमीया । ३ (क) पाठ । ४ (क) यथाक्षर ।

कविताकारयोर्वादे गुणदोषैस्तदीयकैः ।
तारतम्य तयोर्ज्ञात्वा दद्याज्जयपराजयौ १४७।।

शुभवादक —

सर्वेन्द्रियेष्वविकलो निपुणो निश्चलः स्वयम् ।
अङ्गदोषपरित्यक्त आलापस्य प्रमाणवित् ।।१४८।।
सुस्वर. सुस्वरातोद्यवेदिता[1] साम्प्रदायिकः ।
नादवृद्धिक्षयज्ञश्च ग्रहमोक्षेऽप्यलक्षित. ।।१४९।।
तालप्रपञ्चकुशल. समादिग्रहवेदिता ।
न्यासापन्यासकालज्ञस्ताल[2] कोणप्रहारवित् ।।१५०।।
लघुहस्तो विधानज्ञः[3] कलावेत्ता जितश्रम.[4] ।
तालानुगो लयज्ञश्च तालगीतानुगस्तथा ।।१५१।।
ज्ञाता कुलकवाद्यस्य न्यासापन्यास कोविदः ।
गीते वाद्ये च नृत्ते च छिद्रावरणपण्डित.[5] ।।१५२।।

कविताकारों के वाद में उनके गुण दोषो के द्वारा तारतम्य निश्चित करके जय-पराजय निश्चित करना चाहिए ।।१४७।।

सब इन्द्रियों मे अविकल (पूर्ण) निपुण, निश्चल, अङ्गदोष-हीन, आलाप के प्रमाण से सुपरिचित, सुस्वर, सुस्वर आतोद्य का जानने वाला (वादक), सम्प्रदाय से सम्वद्ध, नाद की वृद्धि और क्षय को समझने वाला, ग्रह और मोक्ष में न पकडा जाने वाला, तालप्रपञ्च में कुशल, समग्रह इत्यादि को जानने वाला, न्यास, अपन्यास तथा काल का मर्मज्ञ, ताल और कोण के प्रहार को समझने वाला, हस्तलाघवयुक्त, विधानज्ञ, कलावेत्ता, जितश्रम, तालानुग, लयज्ञ, ताल और गीत का अनुगामी, कुलक वाद्य का ज्ञाता, न्यास एव अपन्यास मे कोविद, गीत, वाद्य और नृत्त के समय दोषो का आवरण करने मे निपुण, दृढ प्रहार करने पर भी न थकने वाला रञ्जक वादक शुभ है ।

---

१. (ख) वादिता । २ (ख) तल । ३. (ख) वितानज्ञः ।
४. (ख) कालवेत्ता । ५. (क) भेदावरण ।

दृढप्रहारोऽप्यक्षुब्धो[1] रञ्जको वादकः शुभः ।

वादकदोषाः—

खिन्नाङ्गत्वं जडत्वं च भीतिर्निरवधानता ॥१५३॥

चञ्चलत्वमदक्षत्वमप्रगल्भत्वमेव च ।

[2]रागे रागाधिकत्वञ्च शास्त्रश्रवणहीनता ॥१५४॥

इत्यादयः समुद्दिष्टा दोषा वादकसश्रयाः ।

पञ्च सञ्चाः —

स्कन्धस्य मणिबन्धस्य कूर्पराङ्गुष्ठयोरपि ॥१५५॥

वामस्य चरणस्यापि कम्पात्सञ्चस्तु पञ्चधा ।

सञ्चभेदात्पाटहिकस्त्रिधा हौडुक्किकोऽपि च ॥१५६॥

उत्तमादिप्रकारेण तत्स्वरूपन्निरूप्यते ।

पटहवादकोटयः –

अङ्गुष्ठमणिबन्धोत्थ[3]सञ्चात्पाटहिकः शुभः ॥१५७॥

सञ्चात्कूर्परतो[4] जातान्मणिबन्धाच्च मध्यमः ।

स्कन्धकूर्परसञ्चेन यो वादयति सोऽधमः ॥१५८॥

अङ्गों का पसीजना, जडता, भय, असावधानता, चञ्चलता, अदक्षता, अप्रगल्भता, राग में अनुराग का आधिक्य और शास्त्रश्रवण का अभाव इत्यादि वादकों के दोष है।

-- कन्धा, कलाई, कुहनी, अँगुठे और बायें चरण के कम्प से 'सञ्च' पाँच प्रकार का है। सञ्चभेद से पटहवादक, और हुडुक्कवादक के भी पाँच प्रकार हैं ॥१४८-१५६॥

उत्तम आदि प्रकार से उनका निरूपण किया जा रहा है।

वह पाटहिक 'श्रेष्ठ' है, जिसके दोनों अँगूठों और कलाई में कम्पन होता है, कुहनियों और कलाई में सञ्च से 'मध्यम' होता है और जिसकी कुहनियाँ और कन्धे हिले, वह वादक अधम है।

---

१. (क) प्रहारे। २. (क) रागरागादिकत्वं, (ख) रागरागाधिकत्वञ्च।

३. (ख) बन्धोथ.। ४. (ख) कूर्परजो।

हौडुक्किककोटयः —

त्रिसन्धिचालनाज्जातसञ्चाद्धौडुक्किकः शुभः ।
सञ्चात्कूर्परतो जातान्मणिबन्धात्तु मध्यमः ॥१५९॥
वामपादप्रकम्पोत्थसञ्चाद्धौडुक्किकोऽधमः ।
य एव गुणदोषाश्च वादकेषु निरूपिताः ॥१६०॥
मार्दङ्गिकेष्वमी केचित्सञ्चात् भेदोऽपि विद्यते ।
उत्तमोत्तमपूर्वञ्च भेदजातमथोच्यते ॥१६१॥
तालवाद्य त्रिमार्गेषु शुद्ध सालगगीतयोः ।
पेरणस्य च गोण्डिल्या· पेक्खणस्य च वाद्यते ॥१६२॥
येन लक्षणसयुक्त स भवेदुत्तमोत्तम. ।
तालवाद्य न जानाति मार्गलक्षणसञ्ज्ञके ॥१६३॥
पूर्वोक्तलक्षणोपेतः स स्यादुत्तममध्यम. ।
दक्षिणे वार्तिके तालं वाद्यं नैवावगच्छति ॥१६४॥

वह हुडुक्कवादक श्रेष्ठ है, जिसकी त्रिसन्धि में सञ्च हों, कलाई और कुहनियो मे सञ्च वाला 'मध्यम' और बाये पैर को उठाकर हिलाने वाला 'अधम' है।

इस प्रकार हुडुक्कवादको के गुण-दोषो का निरूपण कर दिया, मृदङ्ग वादको मे भी कुछ गुण दोष होते है, सञ्च के कारण कुछ अन्तर भी है।

अब उत्तमोत्तम इत्यादि भेद कहे जा रहे है। जो तीनों मार्गों में शुद्ध सालग गीतों के साथ तालवाद्य बजाता है, पेरण, गोण्डली और पेक्खण का भी वादन करता है, वह लक्षणयुक्त वादक 'उत्तमोत्तम' है। जो मार्ग लक्षणों में तालवाद्य न जानता हो, परन्तु जिसमें अवशिष्ट लक्षण हों, वह 'उत्तममध्यम' है, जो दक्षिण और वार्तिक माग में ताल और वाद्य न जानता हो, वह 'उत्तमाधम' है।

शेषलक्षणसंयुक्तः स भवेदुत्तमाधमः ।
शुद्धसालगगीतानां येन नृत्तत्रयस्य च ॥१६५॥
तत्तन्मानानुसारेण स स्यान्मध्यममध्यमः ।*
येन[1] सालगगीतानां नृत्तानामपि[1] कौशलम् ॥१६६॥
वाद्यते लक्षणोपेतं स भवेन्मध्यमाधमः ।
वाद्यते पेरणाख्यस्य गोण्डल्याः पेक्खणस्य च ॥१६७॥
येन[2] लक्षणसंयुक्तः स जघन्योत्तमः स्मृतः ।
पेरणस्य गोण्डल्याः वादकस्तेषु मध्यमः ॥१६८॥
गोण्डल्या वादकस्तज्ज्ञैरधमः परिकीर्तितः ।
यदि वादो[3] भवेत्तालवाद्यवादकयोस्तदा ॥१६९॥

तालवाद्यवादकवादः—

तालवाद्यं चन्द्रकलां त्रिगुणां च प्रदापयेत् ।

गीतवादकयोर्वादः —

गीतवादकयोर्वादे सूडमेलादि[4] संज्ञकम् ॥१७०॥

(मध्यमोत्तम का लक्षण मूल में नहीं है परन्तु) जिसमें अवशिष्ट लक्षण हों जो शुद्ध एवं सालग गीतों और तीनो पूर्वोक्त गीतों का वादन उनके प्रमाण के अनुसार करता हो, वह मध्यममध्यम है, जो (केवल) सालग गीत और नृत्त ही लक्षणानुसार बजाता हो, वह मध्यमाधम है।

जो वादक पेरण, गोण्डली और पेक्खण का लक्षणयुक्त वादन करता है, वह 'जघन्योत्तम', पेरण और गोण्डली का वादक 'जघन्यमध्य' और गोण्डली का वादक 'जघन्याधम' है।

यदि तालवाद्यवादकों में वाद हो, तो तालवाद्य और त्रिगुणा चन्द्रकला देना चाहिये।

गीतवादकों में वाद हो, तो एला आदि सूड और चित्रा पद्धति देना चाहिये। वाद का न्याय पूर्वोक्त है।

---

*. एतत्पूर्वं मध्यमोत्तमवादकलक्षणमादर्शद्वयेऽपि नास्ति ।

१. (ख),नृत्तानां प्रति ।

२. (क) हीन ३. (क) भावे । ४. (ख) सूडमेकादि ।

नृत्तवादकयोर्वादः—

[1]चित्राञ्च पद्धतिं दद्यात् [2]वादन्यायःपुरोदितः ।
नृत्तवादकयोर्वादे वाद्यमोतादि दापयेत् ॥१७१॥
तत्तद्विद्यावशादेव मान्यानपि[3] परीक्ष्य च ।
तारतम्यं तयोर्ज्ञात्वा दद्याज्जयपराजयौ ॥१७२॥

नर्तक कोटय —

सर्वप्रयोगकुशलः[4] सुरेखोऽन्तर्मुखस्तथा ।
प्राज्ञ. कलाज्ञस्तालज्ञो नर्तनासु विशारदः ॥१७३॥
[5]यतितालकलाभिज्ञो लयविद्विजितेन्द्रिय. ।
[6]पात्रसङ्क्रमणोपायकुशलो नर्तक. स्वयम् ॥१७४॥
[7]सङ्क्रामत प्रयोगाणां मुख्यनृत्तस्य वेदिता ।
शिष्यनिष्पादको न्यूनाधिकविद्गतमत्सरः[8] ॥१७५॥
चार्य्यङ्गहारकुशलः खण्डमण्डनपण्डित. ।
[9]नानादेशसमुत्थस्य देशीनृत्तस्य वेदिता ॥१७६॥

नृत्त वादकों के वाद में 'श्रोता' आदि वाद्य देना चाहिये ॥१५७-१७१॥

सम्बद्ध विद्याओ के अनुसार इस प्रकार अन्यो का भी परीक्षण करके उनमे तारम्य का निश्चय करके जय-पराजय का निर्णय उचित है ॥१७२॥

सभी प्रयोगो मे कुशल, सुरेख, अन्तर्मुख, प्राज्ञ, कला और ताल का ज्ञाता, नर्तनशैलियो में निष्णात, यति, ताल और कला का मर्मज्ञ, लयज्ञ, जितेन्द्रिय, पात्र को शिक्षा देने मे कुशल, स्वय अच्छा नर्तक, शिक्षा के अनुसार प्रयोगों के मुख्य नृत्त को जानने वाला, शिष्य-निष्पादक, न्यूनता और अधिकता को समझने वाला, मात्सर्यहीन चारियों और अङ्गहारों में कुशल, खण्डों के मण्डन मे पण्डित विभिन्न देशो मे उत्पन्न देशी नृत्त का जानने वाला, गीत आतोद्य इत्यादि में निपुण नर्तक श्रेष्ठ है ।

---

१. (क) चित्रञ्च । २. (क) वादनाय पुरोहितम् । ३ (ख) मान्यानपि ।
४. (ख) सुरेखान्तर्मूख । ५ (ख) गीति । ६. (ख) पात्त ।
७. (क) सङ्क्रामक । ८ (क) वीत । ९. (क) चण्डमश समुद्दिश्य ।

[1]गीतातोद्यादिनिपुणो नर्तकः प्रवरः स्मृतः ।

नर्तकदोषाः —

वाद्यतालयतीनाञ्च माने न्यूनाधिकेऽज्ञता[2] ॥१७७॥

[3]स्वतो लास्यविहीनत्वं रसभावाविवेकिता[4] ।
वैरूप्यमङ्गवैकल्यं प्रयोगेऽप्यकौशलम् ॥१७८॥

देशीमार्गविभेदेन नृत्तशिक्षास्वनैपुणम् ।
इत्यादयस्समुद्दिष्टा दोषा नर्तकसंश्रयाः ॥१७९॥

नर्तककोटयः —

यथोक्त लक्षणोपेतं मार्गदेशीयमेव च ।
नृत्तं सुशिक्षयेत् यस्तु स भवेन्नर्तकोत्तमः ॥१८०॥

केवलं मार्गनृत्त यः शिक्षयेत् स तु मध्यमः ।
अधमस्स परिज्ञेयो देशीनृत्तस्य[5] शिक्षकः ॥१८१॥

वाद्य, ताल, यति की न्यूनता और अधिकता के सम्बन्ध में अज्ञान, स्वयं न नाच सकना, रस और भाव का अपरिचय, विरूपता, अङ्गविकलता, प्रयोगो में अकुशलता, देशी और मार्ग के भेद की शिक्षा का अभाव, नृत्त शिक्षाओं में अनैपुण्य इत्यादि नर्तकाश्रित दोष है ॥१७३-१७९॥

जो लक्षणयुक्त मार्ग एवं देशी नृत्त की शिक्षा देता है, वह नर्तकों में 'उत्तम' है, जो केवल मार्ग की शिक्षा देता है, वह 'मध्यम' है, जो 'देशी' नृत्त की ही शिक्षा देता है, वह 'अधम' है ।

लावक, भावक और द्रावक ये तीन प्रकार के नर्तक है, उनमें से प्रत्येक के तीन प्रकार है, इस प्रकार इनके भेद नौ है ।

---

१. सङ्गीताद्योतनिपुण ।
२. (क) न्यूनाधिकाज्ञता ।
३. (ख) स्वरो ।
४. (ख) हावा ।
५. (क) गीत ।

लावको भावकश्चैव द्रावकश्चेति नर्तकाः ।
प्रत्येक ते त्रिधाचैव[1] नवधा परिकीर्तिता ॥१८२॥
वादे नर्तकयोर्जाते[2] सम्यगेलादिवादनै ।
[3]पादपाटैस्समुचितै पात्रसङ्क्रमणैरपि ॥१८३॥
[4]स्वतो लास्यादपि तयोर्गुणदोषान्निरूप्य[5] च ।
तारतम्य परिज्ञाय दद्याज्जयपराजयौ ॥१८४॥

पेरणसश्रया गुणा —

भावकत्व रसिकता[6] ना नाभाषासु नैपुणम् ।
नानादेशसुचारित्रव्यवहारेषु दक्षता ॥१८५॥
पञ्चाङ्गपरिपूर्णत्व रञ्जकत्व विदग्धता ।
[7]प्रौढि प्रस्तावाक्येषु विकृताशविदग्धता ॥१८६॥
[8]अवधान तथा रागरागाङ्गादिप्रवीणता ।
इत्यादयस्समुद्दिष्टा गुणा पेरणसश्रया ॥१८७॥
एभ्यो ये विपरीतास्ते दोषास्सद्भिरुदाहृता ।
उत्तमस्तत्र विज्ञेय पञ्चाङ्गैस्सम्यगन्वितः ॥१८८॥

नर्तको मे वाद होने पर एला इत्यादि के वादन, समुचित पाद-पाट पात्रो मे शिक्षा का सक्रमण और नर्तक के अपने लास्य से, दोनो के गुणो, दोषो का निरूपण करके जय-पराजय निश्चित करना चाहिये ।

भावकत्व रसिकता, विभिन्न भाषाओ मे निपुणता, अनेक देशों के सुचारित्र और व्यवहार मे दक्षता पाँचो अङ्गो मे परिपूर्णता, रञ्जकत्व, विदग्धता प्रस्तावाक्यो में प्रौढि, विकृताशमर्मज्ञता, एकाग्रता, राग-रागाङ्ग इत्यादि में प्रवीणता आदि पेरण के गुण है ॥१८०-१८७॥

जो इसके विपरीत है वे सज्जनो ने दोष बताये हैं ।

---

१ (क) पञ्चा। २ (क) वादनर्तकयो ।
३ (क) पायपाल । ४ (क) स्वय । ५ (क) ते ।
६ (क) रसिकत्व । ७ य प्रसादवाक्येषु । ८ (ख) अपलान ।

घर्घरागीतकैवारप्रौढो मध्यम इष्यते ।
नृत्तवागडकैवारनिपुणेष्वधमो मतः ॥१८९॥

वादेपेरणयोजाते गुणैरेभिः सभापतिः ।
तारतम्यं तयोर्ज्ञात्वा दद्याज्जयपराजयौ ॥१९०॥

नर्तकी गुणाः —

प्रागल्भ्यं सौष्ठवं रूपं यौवनञ्च सुरेखता ।
लाघवं गात्रवश्यत्वं गीतावाद्यानुवर्तनम् ॥१९१॥

सौमनस्यमरोगित्वं स्मितपूर्वाभिभाषणम् ।
नात्युच्चवामनस्थूलकृशदेहत्वमेव च ॥१९२॥

वलनं वर्तनं गात्रे दक्षत्वं ग्रहमोक्षयोः ।
[1]यतितालगतिज्ञत्वं श्यामत्वं गौरता तथा ॥१९३॥

अवधानं सुमेधत्वं दीर्घलोचनता तथा ।
चरणन्यासचातुर्यं मलपादिषु कौशलम् ॥१९४॥

[2]पाटज्ञता रङ्गशोभा नानादेशिप्रदर्शिता[3] ।
एवं गुणगणोपेता प्रशस्ता नर्तकी मता ॥१९५॥

जो भलीभाँति पाँचों अङ्गों से युक्त हो, वह पेरणों में उत्तम, घर्घरा गीत और कैवार में निपुण 'मध्यम', और नृत्त, वागड तथा कैवार में निपुण अधम कहलाता है।

पेरणों में वाद होने पर सभापति को चाहिये कि वह इन गुणों के द्वारा तारतम्य का निश्चय करके जय-पराजय का निर्णय दे ॥१८८-१९०॥

प्रगल्भता, सौष्ठव, रूप, यौवन, सुरेखता, लाघव, अङ्गों की अधीनता, गीतवाद्य का अनुवर्तन, सौमनस्य, अरोगित्व, स्मितपूर्वक भाषण, अधिक ऊँचा, बौना, कृश या स्थूल न होना, शरीर में लचक और घुमाव, ग्रह मोक्ष में दक्षता, यति, ताल, गति का ज्ञान, सलोनापन, गौरत्व, एका-

---

१. (क) यति । २. (ख) पारी । ३. (क) पारिज्ञता ।

आञ्चिताद्यैश्च विषमं प्राञ्जलं गीतसंश्रयम् ।
या नृत्यति समीचीन पेक्खणे सोत्तमा मता ॥१९६॥

या नृत्यति समीचीनं नृत्त गीतसमाश्रयम् ।
विषमत्वं समीचीन पेक्खणे सा तु मध्यमा ॥१९७॥

विषम तु समीचीनं सामान्यं गीतसंश्रयम् ।
या नृत्यति परिज्ञेया पेक्खणे सा कनीयसी ॥१९८॥

नर्तक्योर्यदि वादः स्यात् पेक्खणे तद्गुणागुणैः ।
तारतम्यं तयोर्ज्ञात्वा दद्याज्जयपराजयौ ॥१९९॥

गोण्डलीगुणा —

ललिभावौ तूकली च तथा मुखरसः परः ।
अक्षोभिता कान्तदृष्टि. गाम्भीर्य विनयस्तथा ॥२००॥

ततो बहुलिकत्वञ्च रञ्जकत्वं विदग्धता ।
अङ्गानङ्गपरिज्ञानप्रौढिर्मत्सरहीनता ॥२०१॥

ध्वनिः श्रेष्ठं च शारीरं तारे गानं मनोहरम् ।
शारीरसादचे ठायौ ठायश्चंशकपूर्वकः ॥२०२॥

ग्रता, बुद्धिमत्ता, दीर्घलोचनता, चरणन्यास में चतुरता, 'मलप' इत्यादि में कौशल, पाटज्ञता, रङ्गशोभा, विभिन्न देशी नृत्त के प्रदर्शन में योग्यता इत्यादि गुणों से युक्त नर्तकी उत्तम है। जो गीताश्रित नृत्त में और विषमत्व मे अच्छा नाचती है, वह मध्यम है,जो विषम अच्छा और गीताश्रित सामान्य नाचती है, वह 'अधम' है ॥१९१-१९८॥

यदि पेक्खण मे नर्तकियों का वाद हो, तो उनके गुणावगुण से तारतम्य निश्चित करके जय-पराजय का निर्णय करना चाहिए।

ललि, भाव, तूकली, मुखरस, अक्षोभ, कान्तदृष्टि, गाम्भीर्य, विनय, बहुलिकत्व, रञ्जकत्व, विदग्धता, अङ्ग और अनङ्ग का प्रौढ परिज्ञान, मत्सरहीनता, ध्वनि और शरीर में श्रेष्ठता, तार स्थान में मनोहर गान, शरीर और साद के ठाय, अंशठाय, इत्यादि गुण्डली के गुण हैं।

इत्यादयस्तु गोण्डल्या गुणास्सद्भिरुदाहृताः ।
एभ्यो ये विपरीतास्ते दोषास्तज्ज्ञैरुदाहृताः ॥२०३॥

गुण्डलीकोटय :—

यत्र गीतञ्च नृत्तञ्च स्यातामतिमनोहरे ।
नर्तकी सा परिज्ञेया गोण्डलीषूत्तमा बुधै. ॥२०४॥

सामान्यनर्तनं यत्र सम्यग्गीतं प्रवर्तते ।
मध्यमा कथिता सेयं गोण्डलीति मनीषिभिः ॥२०५॥

यत्र प्रवर्तते सम्यक् नृत्तं गीतं तु मध्यमम् ।
अधमा सा परिज्ञेया गोण्डलीषु विचक्षणैः ॥२०६॥

गोण्डल्योर्यदिवादः स्यादेभिरेव गुणागुणैः ।
तारतम्य तयोर्ज्ञात्वा दद्याज्जयपराजयौ ॥२०७॥

पणबन्धे वारणीयानि :—

मतेन पणबन्धेन वादिनोर्वादिकल्पना ।
पणबन्धे तु कर्तव्ये वादयोश्च विशेषतः ॥२०८॥

अत्युक्ति देहदण्डञ्च सर्वस्वहरणं तथा ।
दुर्वाक्यं वारयेदेव वादकाले सभापतिः ॥२०९॥

जिसमें गीत और नृत्त अत्यन्त मनोहर हो, वह 'उत्तम', जहां गीत अच्छा, नाच सामान्य हो, वह मध्यम और नृत्त अच्छा और गीत सामान्य हो, वह 'अधम' गोण्डली है ॥२०४॥-२०६॥

गोण्डलियों के वाद में इन्हीं गुणावगुणों से तारतम्य निश्चित करके जय-पराजय का निर्णय उचित है ॥२०७॥

वादियों में शर्त बाँध कर वाद होता है। शर्त होने पर सभापति का कर्तव्य है कि वह वादकाल में अत्युक्ति, देह दण्ड, सर्वस्वहरण, और दुर्वचनों का निवारण करे।

मीमांसाद्वयवेदान्तन्यायवैशेषिकागमैः[1] ।
षड्भिस्तर्कैरगम्योऽपि गम्यो गीतेन शङ्करः ॥२१०॥
पाराशर्य्यपराशरौ भृगुयमौ संवर्तकात्यायना,
वापस्तम्बवृहस्पती[2] सुलिखितौ हारीतदक्षौ मनुः ।
[3]विश्वग्ग्रीवसगौतमौमुनिवरश्शङ्खोऽपि दक्षादयः,
[4]सर्वे मोक्षदमित्युशन्ति मुनयो गीत तदेवोक्तित· ॥२११॥

इति श्रीमदभयचन्द्रमुनीन्द्रचरणकमलमधुकरायितमस्तक
महादेवार्यशिष्यस्वरविमलविद्यापुत्रसम्यक्त्वचूडामणि
भरतभाण्डीकभाषाप्रवीणश्रुतिज्ञानचक्रवर्ति
सङ्गीताकरनामधेयपार्श्वदेवविरचिते
सङ्गीतसमयसारे नवमधिकरणम् ।

पूर्वमीमासा, उत्तरमीमासा, वेदान्त, न्याय, वैशेषिक, आगमसमुदाय तथा छहो तर्कों से भी अगम्य शङ्कर गीत के द्वारा गम्य है ॥२१०॥

वेदव्यास, पराशर, भृगु, यम, संवर्त, कात्यायन, आपस्तम्ब, बृहस्पति, सुलिखित, हारित, दक्ष, मनु, विष्वग्ग्रीव, गौतम, मुनिवर शङ्ख और दक्ष इत्यादि सभी मुनियो ने अपनी उक्तियो के द्वारा गीत को मोक्ष दायी कहा है ॥२११॥

श्रीमद् अभयचन्द्र मुनीन्द्र के चरण कमलों मे मधुकरवत् आचरण करने वाले मस्तक से युक्त महादेव आर्य के शिष्य, स्वरविद्या से युक्त, सम्यक्त्वचूडामणि, भरत-भाण्डीक- भाषाप्रवीण, श्रुतिज्ञानचक्रवर्ती संगीताकर नाम वाले पार्श्वदेव द्वारा विरचित मगीनसमयसार का नवम अधिकरण पूर्ण हुआ ।

---

१. (क) मनैं ।
२ (क) च सरभी ।
३. (क) विष्णत्री च सगौरमी ।
४. (क) सर्व ।

द्वितीय खण्ड

परिशिष्ट

भाग (क)

परिशोधन विनादर्शे यथोप्यलभ्यते तथैव प्रकाश्यते ।

ताल शब्दस्य निष्पत्ति प्रतिष्ठार्थेन धातुना ।
स ताल कालमानायः क्रियाय परिकल्पत ।।

इन्द्रवज्रा—

तालद्वय कासमय त्रिहस्त,
शाखानन दिवमान पिण्डम् ।
गुञ्जा प्रमाणाच्छिद्रितमध्य निम्नम्,
विस्तारम्प्यङ्गुल युग्ममेव ।।

उपेन्द्रवज्रा—

परस्पर सन्निभमेववर्तुल,
विचित्र पट्टावलि पाश बन्धितम् ।

कनिष्ठिका नामिक मध्यमाङ्गुली,
प्रसार्य साङ्गुष्ठक तर्जनी द्रुतम ।।

सव्येन हस्तेन तु ताडनीय,
क्रमेण मध्ये रमणीय नादम् ।

बिन्दूद्भव भक्ति शिव स्वरूप,
माधारमाधेय वशादनिन्द्यम् ।।

मनोगा हस्तगा चास्य द्विविधा मान कल्पना ।
प्रमाण मानस यस्तु चतुर्भाग इतीरित ।।

हस्तागमनमान यत्तदर्ध ध्रुवमुच्यते ।
अङ्गुलि द्वय सयोगान्मनोग सार्ध पादक ॥
छोटिका कालमान यद्विन्दुस्ताल सुहृस्तग ।
बिन्दुभ्या तु लघु प्रोक्त लघुभ्या तु गुरु स्मृत ।
लैस्त्रिभिश्च प्लुतो ज्ञेयमिति मानमुदाहृतम् ॥

वि०वृ० |

समताल सु मध्य विवर्तित
समयोऽयमभूल्लयनाल्लयः ।
द्रुतमध्य विलम्बित मानत
त्रिविधोलयभेदमुदाहृत ॥
प्रोक्ता यति स्याल्लयमानमाना
त्रेधेति पश्चादनति क्रमेण ।
चित्रादि मार्गेषु यतिस्समा स्यात्
स्रोतो वहो गोकुल पुच्छकेति ॥

ग्रहस्त्रिधा समोतीतस्तथा नागत इत्यपि ।
गीत वाद्ये च नृत्ये च सममेव प्रवर्तते ॥
यस्तालस्य तु विज्ञेय समग्रह समाह्वय ।
किञ्चिद्गीते समारब्धे वाद्ये नृत्ये तथा पुन ॥
ग्रहण यत्र तालस्य सोतीत ग्रह इष्यते ।
योलङ्कारेण गीते स्यात् तकारेण च वादने ॥
नृत्याङ्ग वर्तनैस्सार्ध सतालो नागत ग्रह ।
प्रस्तार सङ्ख्यया युक्त नष्टमुद्दिष्टमेव हि ॥
एकद्वयादि लघूपेत मध्य योग प्रचक्ष्महे ।
अक्षराणि प्लुत यावत् तदभावे गुरुन्यसेत् ॥

लघुर्वा तदभावे स्यात् द्रुत शेष यथोचितम् ।

आर्या—

दलगप मभ्यमे प्राक्तन पिण्ड भित्वा यथाक्षरम् ।
रचयेत्तन्समममालिख पुरतो तदल्लघु बिन्दुतामेति ॥

। इति प्रस्तार सूत्रम् ।

एकेनैव द्रुतेन स्यादेक तालीति सज्ञया ।

आदि तालो लघु प्रथमज आदि तालो लघु स्मृत अयमेवरञ्चाल—ताल तद्वितीय ।

एकेन सविरामेन लघुना लघु शेखर ॥
द्रुत द्वन्द्व विरामान्त क्रीडाताल्ने प्रकीर्तित ।

अयमेव चण्ड निस्सारू एतेत्रयस्ताला द्रुतलघुरवान्तर भेदा आदि तुरङ्गलीलाग तद्वितीय भेदा निस्सारु सत्रितयभेदस्तुरगलील ।

तुरङ्ग लील ताले स्यात् द्रुत द्वन्द्व लघुस्तत ॥

अयमेव द्वितीय ताल । अयमेव विरामान्तश्चेत झम्पाताल तत्पञ्चम भेद प्रतिताल तोदृतौ प्रति तालस्य । ततषष्ठ भेद । करणयति ताल करणयात्याख्या ज्ञेय बिन्दु चतुष्टयम । अयमेव भोजदेवकृत द्वितीयताल ।

अयमेव विरामान्तश्चैतदायुगलतत. कुर्याल्लघुड्कृते ।

लघु द्वन्द्व विरमान्त ताले निस्सारुगे भवेत् ।
गारुगि कथ्यते प्राज्ञैः विरामान्तश्चतुर्द्रुतम् ॥

अयमेव रति ताल एतेत्रयस्ताला आदि वर्धनावान्तर भेदा । आदि रति ताल तद्वितीय भेद रति ताल ।

रति ताले लघु कार्य ततस्चेको गुरु स्मृत ।

ततृतीय भेदाद्दर्पण —

दर्पण स्याद्द्रुतद्वन्द्व गुरुश्चेक प्रकीर्तित ।
अयमेव विरामान्तश्चेन्मदनः तत्पञ्चम भेद ॥

हंसलीलाताल —

हंसलीले विधातव्यं सविराम लघु द्वयम् ।

तत् षष्ठभेद कुडुक्कताल —

द्रुतद्वय लघुद्वन्द्व भवेत्ताले कुडुक्कके ॥

तत्पञ्चादश भेदो वर्णताल —

लघुद्वय द्रुतद्वन्द्व वर्णताले प्रकीर्तिता ।

तदेकोनविंशति भेद षटताल —

षटताल सञ्ज्ञके ताले बिन्दुषटक निरन्तरम् ॥

आदिसिंहलीलादया, तद्वितीय भेदो राजमृगाङ्क —

एकोद्रुतो लघुश्चेको यत्रैकश्च गुरुर्भवेत् ।

इय राजमृगाङ्केति यतितिष्ठा मनीषिणा ॥

तत्त्रयोदशभेद सिंहलीलाताल —

सिंहलीले विधातव्यं लघ्वाद्यन्त द्रुतत्रयम् ॥

तदष्टादशभेदो राजमार्तण्ड :—

गुरुरेको लचुश्चेको यस्याचेको द्रुता भवेत् ॥

राजमार्तण्ड सञ्जैषा यतिमानविशारदाः ॥

तदष्टादशभेदश्चतुस्ताल —

चतुस्तालो गुरुश्चैक ततो बिन्दुत्रयं भवेत् ॥

आदिवर्ण भिन्नो लया । अयमेव अभङ्गताल तच्चतुर्थ भेदो मट्टा —

सगणो भगणो वापि मठ्ठेति परिकीर्तिता ।

अयमेवोदीक्षण ताल तत्पञ्चमभेदो ललित ।

ताले ललित सञ्ज्ञे स्यात् द्रुतद्वन्द्व लघुर्गुरुः ।

अयमेव वर्णभेद भिन्न । तत्सप्तमभेदो वीर विक्रम

वीरविक्रमताले तु लोद्रुतौ च गुरुस्तत ।

तदष्ट तत्सप्तमभेदो रङ्ग ताल चतुर्द्रुतगा । त्रयोदशभेदो गजलोला लित । चतुर्लघु विरामान्तश्चेत् ।

तत्रिचत्वारिंशत्तमभेदो राज विद्याधर ।

लघुर्वक्रो द्रुतौ ताले राजविद्याधराभिधे ॥

षड्त्तरपञ्चाशद्भेदो मल्लिकामोद —

ताले स्यान्मल्लिकामोदे लद्वयाश्च चतुष्टयम् ॥

आदि ढेकि गपौ । तत्तृतीयभेदो आनन्द वर्धन वर्धने बिन्दु युगल तत कार्यो लघु प्लुत तदष्टम भेदो विषम कङ्काल —

एकोलघुर्गुरुद्वन्द्व कङ्काले विषमे भवेत् ।

तन्नव भेद खण्ड कङ्काल —

द्रुतद्वय गुरुखण्डे खण्ड कङ्काल नामनि ॥

तद्दशम भेदो ढेङ्कि ताल —

ढेङ्किकार गणे नस्या तेशोचित्सैवयोजने ।

तच्चतुर्दश भेदो मुकुन्द —

मुकुन्द सञ्ज्ञके ताले लघुर्बिन्दू लघुर्गुरु ॥

तदेकोत्तर विंशति भेदोऽभिनन्दन —

लद्वय बिन्दु युगल गुरुश्चैवाभिनन्दने ।

तदष्टाविंशति भेद समकङ्काल —

गुरुद्वय लघुश्चैको समकङ्काल नामनि ॥

तत्त्रयस्त्रिंशत्तम भेद पूर्ण कङ्काल —

पूर्णो द्रुतचतुष्केण गुरुणा लघुना क्रमात् ।

आदि चाच पुट पौ । तद्वितीय भेद त्रिभिन्न —

लघुर्गुरु प्लुतश्चैव त्रिभिन्ने परिकीर्तिता, ॥

तत्तृतीय भेद कोकिला प्रिय —

कोकिलप्रिय तालेस्यु क्रमाद्गुरु लघु प्लुता ।

तदष्ट भेद उद्घुट उद्घट्टे मगनिस्त्वेक । तत्समभेदस्त्रिभङ्गि —

सकराद्गुरुणैकेन त्रिभङ्गिरभिधीयते ॥

अयमेव रतिलीला । तद्द्वाम भेदश्चाचपुट —

गुरुर्लघु गुरुश्चैव भवेच्चाच पुटाभिधे ।

तदेकादश भेद कण्डुक —

लघुद्वन्द्व सकारेण कन्दुक परिकोर्तित ॥

तदेकोनविशति भेद श्रीकीर्ति —

श्रीकीर्ति सज्ञके ताले गुरु द्वन्द्व लघुद्वयम् ।

लघु सहित प्रस्तारे तालभेद । स उद्दिष्ट —

इतो द्रुत सहित प्रस्तारे । तदष्टादश भेदो नन्दन ।

तत्पचविशतितम भेद श्रीकन्दर्प । दौलाङ्गा ।

अयमेव परिक्रमताल । तत्रयस्त्रिशदभेद त्रयश्वर्ण ।

लाद्रौ लोग । तत्षष्टितमभेदो वनमालि चतुर्द्रा लादौग तदेकोत्तर सप्तम भेदो विन्दुमाश्चलिगश्चतुर्दाङ्ग —

आदि चच्चपुट गपपा । तद्द्वितीय भेदो वणयति —

वर्णयत्याभिधे ताले लघु द्वन्द्व प्लुत द्वयम् ।

तदष्टमभेद चच्चपुट —

ताले चच्चपुटे ज्ञयौ गुरुद्वन्द्वौ लघु प्लुतौ ॥

तन्नवभेद श्रीरङ्ग —

श्रीरङ्ग सज्ञके ताले सगणा लघु प्लुतौ मता, ।

तद्विशतितम भेदो विजयानन्द

भवेयुर्विजयानन्दे लद्वयौ गुरवस्त्रय, ॥

तत्त्रयोविशतितमभद श्रोतृ मट्ठम्—

गुरुर्लघु गुरुश्चैव श्रोत्रमट्ठ इति स्मृत, ।

तदष्टाविशतितम भेद सिहनाद —

यगणे ला गुरुश्चैव सिह् नादे निरूपिता, ॥

तदेकोत्तरत्रिशत्तम भेद । अनङ्गताल लपौ लोग तत्त्रयस्त्रित्तम भेदो जय मङ्गल द्विसकारो जय मङ्गले । तत्त्रिषष्टितमभेद प्रत्यङ्गस्त्रिगुरुभौं । इति द्रुतहीन प्रस्तारे तस्त्रिशदुत्तरतमभेदो हस नाद लपौदौप तत्पचाद्दादुत्तर चतुद्दात भेदो राजचूडामणि ।

राज चूडामणौ ताले द्रुतौ लगौलम् ।
आदि सपग्वेष्टाक सञ्ज्ञके । तन्नवाशीतितमभेद षट्पिता पुत्रक —
पलगा गलपाश्चैवषट्पिता पुत्र ॥

(इति षट प्रत्ययस्समाप्त)

अष्ट कृद्वस्तु चर्चार्यां विरामान्तौ लघु ।
सिहविक्रम तालेस्यु मगणो लपला गपै ॥

लचतुष्क विरामान्त गजलीले प्रकीर्तित ।
गपाद्रुतौ लगोपश्च राजताले प्रकीर्तित ॥

रङ्गप्रदीपतालेस्यु तगणाङ्ग प्लुतौ यदि ।
तगणौ ल प्लुतः कार्यो रङ्गाभरण सञ्ज्ञके ॥

तपौ लोगौ द्रुतौ गौलो पलपागश्चलद्वयम् ।
निहहाण्दञ्च चतुष्कञ्च तालेस्यात्सिहनन्दने ॥

लगौ पगौ लयश्चैव कीर्ति ताले प्रकीर्तिता ।
प्लुतोगश्च प्लुतोलश्च ताले विजय सञ्ज्ञके ।
जगणो लद्रुतौगश्च जयताले निरूपिता ॥

प्रताप शेखरे त्र्यङ्गाद्विरामान्त प्लुतद्वयम् ।
वसन्त ताले कर्तव्यो नगणो मगणस्तथा ॥

रायनारायणे बिन्दु द्विलर गणो गुरू ।
पार्वती लोचने ताले लौद्रुतौ तनभा क्रमात् ॥

श्री नन्दनस्य तालस्य भगण प्लुत इष्यते ।
इति चर्चर्यादि तालाना षट्प्रत्ययावेदितव्या ॥

नानाराजसभान्तरालरसिकस्तुत्यञ्च सगीतके ।
चक्रेशरसभावभेदनिपुणस्साहित्यविद्यापति ॥

सङ्गीताकरनामधेय विबुध श्रीपार्श्वदेवोऽधुना ।
चित्र सर्वजगत्रय व्यरचयत्तालस्य षटप्रत्ययम् ॥

इति श्रीमदभयचन्द्रमुनीन्द्रचरणकमल मधुकरायितमस्तकमहोदेवार्य
शिष्यस्वरविमलविद्यापुत्र सम्यक्त्वचूडामणिभरत
भाण्डीकभाषाप्रवीणश्रुतिज्ञानचक्रवर्ती
सङ्गीताकरनामधेयपार्श्वदेवविरचिते
सङ्गीतसमयसारे तालषटप्रत्याधिकारे
दशमाधिकरणम् ।

भाग (ख)

तालस्य लक्षण × × × × × × × × × × ।
तथा सलक्षण वक्ष्ये पूर्वशास्त्रानुसारत ॥१॥

श्री सोमेश्वर दत्तिल प्रभृतिभिस्ताल स्वरूपपुरा,
प्रोक्त सर्व जगद्धिताय चतुरश्रादि प्रभेदादिभि ।

× × ×(तादि ?)तादि भेद सहित तालस्य षटप्रत्यय ।
सगीताकर सूरिणा निगदित चित्रायमानभुवि (१) ॥

तालद्वय कास्यमय त्रिहस्त शाखान्त × × द्यवमान पिण्डम् ।
गु जाप्रभाच्छिद्रित निम्नमध्य विस्ताररुप्यड्गुल युग्ममेवच ॥३॥
परस्पर सन्निभवर्तु लानन प्रचित्र पट्टावलि × × वन्धितम् ।
कनिष्ठकानामिकमध्यमागुली, प्रसार्यसागुष्ठकतर्जनीधृतम् ॥४॥
सव्येन हस्तेन तु ताण्ड ×××,××××××रमणीय नादम् ।
विन्दूद्भव शक्तिशिवास्वरूपमाधारका×××शाद नित्यम् ॥५॥

मनोगाहस्तगाचास्य द्विविधा मान कल्पना ।
प्रमाण मानस यत्तु चतुर्माग इतीरित ॥६॥

हस्तागमनमान यत् तदर्धीत् द्रुतमुच्यते ।
अर्धांगुलिद्वय सयोगाम्मनोग सार्ध पादकः ॥७॥

घाटिकावयमान यद बिन्दुस्तालस्ततस्तत ।
विन्दुभ्या तु लघु प्रोक्त लघुभ्या तु गुरु स्मृत ॥८॥

लैस्त्रिभिश्च प्लुतो ज्ञेय इति मान उदाहृत ।
समताल समुध्य विर्वजित समयोऽयमभूल्लपालय ॥६॥

द्रुतमध्य विलम्वित माननस्त्रिविधोलयभेद उदाहृत ।
प्रोक्ता यति स्याल्लय यानमानात्रेधे+पश्चादनतिक्रमेण ।
चित्रादि मार्गेषु यति समास्यात् स्रोतोवहा गोकुल पुच्छिकेति

॥१०॥

प्रस्तारसंख्यायुक्त (नष्ट) मुद्दिष्टमेव च ॥११॥
एक द्वयादि लघुपेत मध्ययोग प्रचक्ष्महे ।

दलगपपिण्डप्राक्तन पिण्ड भित्त्वाथाक्षर रचयेत् ।
तत्सममालिख पुरतो यावल्लघुविन्दुतामेति ॥१२॥

॥ प्रस्तार ॥

पीयूषद्यु तिलोचन त्रिपुर जिद्दि व्याम्वर दिव्यदग्—
ग्रथोपेतदशाङ्कमालिखपुरा त त्रान्तिमाङ्ग द्वयम् ।

एकैकान्तरितैक राशि सहित राशि विदध्यात् सुधी
सगीनाक रदेव निर्मितद्रुतो सख्यार्थमाप्तोक्तित ॥१३॥

॥ द्रुत सख्या ॥

हिमकर नयनाम्भो राशि सख्या लिखेत् तत्—
ग्रयमिलितमधस्तात् तद्वदासन्न सस्थम् ।

उपरितननिविष्टामङ्कमाला क्रमेण,
त्यज लघुगणनार्थं यावदस्ति प्रयोग ॥१४॥

॥ लघु संख्या ॥

सख्याराशावपहृर तथा नष्ट ताल प्रमाण,
शेष तस्मिन्नपि च सदृशे लेख्यहीने च तत्र ।
वर्ण कार्य स्व पर सहित चेन्नवर्ण परेण,
प्रागङ्केन द्वयमपि पुनर्दीर्घमेतत् प्लुत वा ॥१५॥

॥ नष्टम् ॥

लग पानामधस्तात् यत् तदशक लोप्यमेव च ।
सख्यात तु तदुद्दिष्ट निर्दिष्ट शेषदर्शनात् ॥१६॥

॥ उद्दिष्टम् ॥

विन्दु प्रस्तरणात पर लिख तथा द्वयन्तक्रमाद् द्वयादिना ।
यत्तत तद्द्वयमेकशोऽप्यपहृत द्वन्द्व मिलित्वाधुना ॥
आसन्नद्वयमेलनाद द्रुत लघु प्रान्त तदूर्ध्वक्रमा,
देकैकान्तारतोऽङ्कत परिमित दीर्घ प्लुत धीमता ॥१७॥

॥ द्रुतस्यैकद्वयादिलघुक्रिया ॥

एकद्विपचक्रमतो मिलित्वा लघु प्रसख्याद्वितयादि युक्तम् ।
अधो विखासन्न गतित्रिराशलध्वादि (स) ख्यापरिमाण हेतो ?

॥ लध्वेक द्वयादि लघुक्रिया ॥

आलिख्य ताल सख्या तत्सख्या द्विगुणयेत् पुनर्धीमान् ।
तत्रेक विहीन चेदङ्गुल्य स्या क्रमादध्वे (?) ॥१९॥

॥ अध्वयोग ॥

द्वादशागुलिभिस्तु वितस्तिस्तद्द्वयेन तु हस्त इति स्यात् ।
तच्चतुर्दण्ड तद्द्विसहस्त्र कोष तद्वार्थ योजन एक (?) ॥२०॥
नानाराजसभान्तराल (सरि ? रसि) कस्तुत्य च सगीतके,
च्चक्रेशोरसभावभेदनिपुण साहित्यविद्यापति ।
संगीताकर नामधेय विवुध श्री पार्श्वदेवोऽधुना,
चित्र सर्वजगत्प्रिय व्यरचयत् तालस्य पट् प्रत्ययम् ॥२१॥

इति श्री मदभिनवभरताचार्य स्वरविमलहेम्मणार्यपुत्रश्रुतिज्ञानच (क) र्वात सगीताकरनामधेय पार्श्वदेव विरचिते सगीतसमयसारे तालषट्प्रत्ययलक्षणम् नाम नवमधिकरणम् ।।

भाग (ग)

श्री पार्श्वज्ञानमानम्य देशीतलानु लक्षणम् ।
तालस्य लक्षण वक्ष्ये पूर्व शास्त्रानुसारत ।।
श्री सोमेश्वर दत्तिल प्रभृतिभिस्ताल स्वरूपं पुरा,
प्रोक्त सर्व जगद्धिताय चतुर श्रीदप्रभेदान्वितम् ।
एतद्ध्येकद पूर्व भेद सहित तालस्य षट् प्रत्यय
सङ्गीताकरण सूरिणा निगदित चिन्तायमान ब्रुवे ।।

तालशब्दस्य निष्पत्ति प्रतिष्ठार्थेन धातुना ।
सताल कालमान य क्रियया परिकल्पित ।।
तालद्वयकास्यमय त्रिहम्त च शिखाननम् ।
।। तद्यवमानपिण्डम् ।।

मु जोपमाच्छिद्रितमध्यनिम्न,
विसारमप्यङ्गुल युग्ममेव ।
परस्पर सन्निभमेव वर्तुल,
विचित्र पट्टावलि पाशवर्धितम् ।।
कनिष्ठिकानामिक मध्यमाङ्गुली,
प्रसार्य साङ्गुष्ठक तर्जनीधृतम् ।
सव्येन हस्तेन तु नाडनीय,
क्रमेण मध्ये रमणीय नादम् ।।

बिन्दूद्भव शक्तिशिवस्वरूप,
आधारमाधेयवशादनिन्द्यम् ।

मनोगा हस्तगाभास्य द्विविधाधून कल्पना ।
प्रमाण मानन यस्तु चतुर्भाग उदीरित ॥

हस्ता गमनमान यत्तदग द्रुतमुच्यते ।
अङ्गुलीद्वय संयोगान्मनोगस्सार्ध पादक ।

धोटिका कालमान यद्विन्दुस्तालानु हस्तग ।
बिन्दुभ्या तु लघु प्रोक्त लघुभ्या गुरुरुच्यते ।

लघुत्रयै प्लुतो ज्ञेय इति मानमुदाहृतम् ।
समताल सु मध्य विर्वातिन
स्समयोयस्य मभूयनाल्लय ।

द्रुत मध्य विलम्बिमानत
त्रिविधोय लयभेदईरित ॥

प्राक्तायतिस्साल्लयमान
तिपश्चादनति क्रमेण ।

चित्रादि मार्गेषुयतिस्सभास्या
च्छतोवहारो कुल पुच्छकेति ॥

ग्रहास्त्रिधा समोतीनिस्तथा गाय इत्यपि ।
गीते वाद्ये च नृत्ये च सममेव प्रवर्तते ॥

यस्तालस्सनु विज्ञेस्समग्रह समाह्वय ।
किञ्चिद्गीत समारब्धे वाद्ये नृत्ते तथा पुन ॥

ग्रहण यत्ततालस्य सोतीत ग्रह इष्यते ।
योलकारेण गीतेन तकारेण च वादने ॥

नृत्ताग वर्तनैस्साधं सतालो नागतग्रह ।
प्रस्तार सख्य या युक्त नष्ट मुद्दिष्टमेव च ॥
एकाद्यादि लघुपेत मध्ययोग प्रचक्ष्महे ।
अक्षराणि प्लुत यावत्तदभावे गुरु न्यसेत् ॥
लघु भावस्स्याद्द्रुत शेष यथोचितम् ।

अथ प्रस्तार —

दल गप मध्ये प्राक्तनपिण्ड भित्वा यथाक्षर रचयेत् ॥
यत तत्स पुरतोयावल्लघु बिन्दुतामेति ।
पीयूष द्युतिलोचन त्रिपुर मालिखयुता तत्वान्तिमा ॥

द्रुतादि सख्या

हिमकर नयनाभोराशि सख्या लिखेत
त्रयमिलित मधस्तात्तद्वादासन्न सस्थम्
उ ननिविष्टामकमालाक्रमण
त्यज लघु गणनार्थं यावदस्ति प्रयोग ।

॥ इति लघु सख्या ॥

सख्याराशाव पहर तदा नष्ट ताल प्रमाण
शेष त्वस्मिन्नवि च सदृश योजयेल्लक्षणज्ञ
वर्ण कार्य स्वपर रहित चेन्न वर्ण परेण
प्राग केवद्वयमपिपुनर्दीर्घमेतत्प्लुतवा ॥

॥ इति नष्ट लक्षणम ॥

लगपानामधस्थ यत्तदक घमेवहि ।
अन्तस्यान्तदुद्दिष्टनिर्दिष्ठ शेषदर्शनात् ॥

॥ इत्युद्दिष्टम् ॥

बिन्दु प्रस्तरणात्पर लिखनदा द्वय न ।

क्रमा द्वादिना युक्त तद्द्वमेक सव्यवृहत ।

द्वन्द्वलिखित्वाधुनाग्रासन्नद्रुतमेलानाद्रुतलघुव्राततदूर्ध्वं क्रमात्, एकैकान्तरिताङ्कल परिमित दीर्घ प्लुत धीमता ।

परिशिष्ट-२

पार्श्वदेव के द्वारा स्मृत महाविभूतियाँ

१. कश्यप

सोमरस इत्यादि से उत्पन्न मद्य को 'कश्य' कहा जाता है।[1] 'कश्य' का 'पान' करने के कारण ब्रह्मा के पौत्र और मरीचि के पुत्र मुनि का नाम (कश्य+पा+क=) 'कश्यप' पड़ा।[2] कश्मीर देश का वर्तमान नामकरण 'कश्यपमेरु' का अपभ्रंश है और 'कश्यपमेरु' का अर्थ है, वह पर्वत-शिखर, जिस पर कश्यप मुनि का निवास हो। विद्वानों के एक विशिष्ट वर्ग का यह दृष्टिकोण है।

'भरतनाट्यशास्त्र' के प्रसिद्ध टीकाकार अभिनवगुप्त ने सङ्गीतशास्त्रकार कश्यप को 'षट्साहस्त्रीकार' भरतमुनि की अपेक्षा प्राचीन माना है।[3] सम्भव है, 'द्वादशसाहस्त्रीकार' भरत कश्यप के समकालीन या कुछ परवर्ती हो।

अभिनवभारती के प्रथमखण्ड के द्वितीय सस्करण के सम्पादक श्री के० एस० रामास्वामी शास्त्री ने भूमिका मे 'नाट्यशास्त्र' के कर्ता भरत के कश्मीरी होने की सम्भावना व्यक्त की है।[4] रागो के रस-भावानुसारी प्रयोग के सम्बन्ध मे आचार्य अभिनवगुप्त ने कश्यप के मत को विस्तारपूर्वक उद्धृत किया है।

---

१ 'कश्य सोमरसादि जनित मद्य पिबति इति कश्यप।'' शब्दकल्पद्रुम' सम्बद्ध भाग, पृ० ६८।

२ ''ब्रह्मणस्तनयो योऽभूत् मरीचिरितिविश्रुत।
कश्यपस्तस्य पुत्रोऽभूत् कश्यपानात् स कश्यप॥'' मार्क० पु०/१०४-३

३ 'कश्यपादिभिस्तावान् यो विनियोग उक्त सो ऽप्यत्र। अयमपि मुनिविनि क्तोऽस्तु। परमतमप्रतिषिद्धमभिमतमिति स्थित्या हि न्यायात्।''

—अभिनवभारती, २८ अध्याय, पृ० ७०

४ अभिनवभारती, प्रथम खण्ड द्वितीय सस्करण, भूमिका, पृ० १६, गायकवाड सीरीज।

मतङ्गकृत बृहद्देशी के उपलब्ध सस्करण मे भी ग्रामरागो और भाषा-रागो के प्रसङ्ग मे कश्यप का उल्लेख है। सम्भव है कश्यप कश्मीर-परम्परा के आदि पुरुषो मे हो। शारदामठ से लेकर कुङ्कुमादितट तक पचास योजन तक की भूमि कश्मीर कहलाती है।[1]

२. तुम्बुरु

इन्हे गन्धर्व कहा जाता है और इनकी चर्चा प्राय नारद के साथ-साथ आती है। जैन आचार्य सुधाकलश के अनुसार तुम्बुरु की वीणा का नाम 'कलावती' था।[2] अभिनवभारती के रेचक-प्रकरण मे तुम्बुरु के मत का उल्लेख हुआ है।[3] सगीतरत्नाकर के वाद्याध्याय मे अवनद्ध वाद्यो के प्रसङ्ग मे तुम्बुरु की चर्चा आई है।

तुम्बुरु को धैवत' और निषाद' स्वरो का द्रष्टा माना गया है।[4] अत तुम्बुरु ही स्वर-सप्तक को पूर्ण करने वाले मनीषी हैं। सप्तक की पूर्णता के पश्चात् ही ग्रामभेद पर विचार हुआ। ग्रामभेद का आधार प्रमाण श्रुति का ज्ञान है। इस दृष्टि से तुम्बुरु वे आदि पुरुष है स्वर-सप्तक की पूर्णता जिनकी अन्तर्दृष्टि का प्रसादमात्र है।

हरिपाल (१२ शती ई०) ने कहा है कि श्रुति का मार्दव ही मूर्च्छना है।[5] प्राचीन स्वर-शास्त्र के मर्मज्ञ जानते हैं कि मध्यमग्रामीय

---

१ शारदामठमारम्य कुडकुमादितटान्तक ।
तावत्कश्मीरदेश स्यात पञ्चाशद्योजनात्मक ॥ शक्तिसङ्गमतत्र पटल ७

२ कलावती तुम्बुरोस्तु गणानाञ्च प्रभावती।'
सङ्गीतसमयसारोद्धार' चतुर्थ अध्याय श्लोक ८ पृ० ७५ गायकवाड सीरीज, १९६१ ई०।

३ तुम्बुरुणेऽभुक्तम अङ्गहाराभिधानात्तु करणै रेचकान विदु ।' अभिनवभारती द्वितीय सस्करण चतुथ अध्याय पृ० १६३

४ 'वह्निर्वेधा शशाङ्कश्च लक्ष्मीकान्तश्च नारद ।
ऋषयो ददृशु पञ्च षड्जादीस्तुम्बुरुधनी। सङ्गीतरत्नाकर स्वरगताध्याय
धैवतश्च निषादश्च गीतौ तुम्बुरुणा स्वरौ।
वृहद्देशी स्वर निर्णय पृ० १९, श्लोक ८३

५ 'श्रुतेर्मार्दवमेवस्यान्मूर्च्छनेत्याह तुम्बुरु । —भरत-कोष पृ० ५०० पर उद्धृत

धैवत को 'मार्दव' के द्वारा षड्जग्रामीय द्विश्रुति गान्धार बना देने से मध्यमग्राम की प्रथम शुद्ध मूर्च्छना ही षड्जग्राम की प्रथम शुद्ध मूर्च्छना बन जाती है।[1] यह रहस्य ग्राम-मूर्च्छना-पद्धति के रहस्य से अपरिचित मेलवादियों के लिए दुर्बोध है।

३. भरत मुनि

नाट्यशास्त्र के वर्तमान सस्करण के अनुसार नाट्यशास्त्र के आदिम प्रयोक्ता भरतमुनि वैदिक कालीन नरेश महाराज नहुष के समवर्ती थे।[2] नाट्यशास्त्र के चौखम्बा-सस्करण मे भगवान् बाल्मीकि का नाम भी उन मुनियो मे है, जिन्होने भरतमुनि से नाट्यशास्त्र का श्रवण किया था।[3] कालिदास ने उर्वशी इत्यादि अप्सराओ में अष्टरसाश्रय प्रयोग का नियोजक भरतमुनि को ही बताया है।[4]

आदिभरत अथवा वृद्धभरत के द्वारा निर्मित नाट्यशास्त्र मे बारह सहस्र श्लोक थे, अत यह सस्करण 'द्वादशसाहस्री' कहलाता था, भाव प्रकाशनकार शारदातनय ने 'द्वादशसाहस्री' की चर्चा की है। नाट्यशास्त्र के उपलब्ध सस्करणो को 'षट्साहस्री' कहा जाता है, धनिक, अभिनवगुप्त और शारदातनय ने नाट्यशास्त्र के षट्साहस्री सस्करण की चर्चा की है। नाट्यशास्त्र की अभिनवगुप्तकृत टोका अभिनवभारती षट्साहस्री पर ही

---

१ तद्वन्मध्यमग्रामे धैवतमार्दवाद द्वैविध्य तुल्यश्रुत्यन्तरत्वाच्च सज्ञान्यत्वम्।''
भरतनाट्यशास्त्र, गाय० सी०, अध्याय २८ पृ० २६

२ अस्माक चैव सर्वेषा नहुषस्य महात्मन ।
आप्तोपदेशसिद्ध हि नाट्य प्रोक्त स्वयम्भुवा ॥
नाट्यशास्त्र, गायकवाड-सीरीज़ अध्याय ३७ श्लोक १७

३ बाल्मीकि-रामायण पर भरतमुनि का प्रभाव देखने के लिए भरत का सगीत-सिद्धान्त', ले० आचार्य बृहस्पति प्रकाशन शाखा सूचना-विभाग उत्तर प्रदेश १९५९ ई० प्राक्कथन, पृष्ठ ३९-४२ तथा सङ्गीत-चिन्तामणि' द्वितीय सस्करण (१९७६), पृ० ३०-३६ प्रकाशक, सङ्गीत कार्यालय, हाथरस उत्तर प्रदेश, देखिये।

४ चित्रलेखे त्वरय त्वरयोर्वशीम्—
मुनिना भरतेन य प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो नियुक्त ।
ललिताभिनय तमद्य भर्ता महता द्रष्टुमना स लोकपाल ॥
विक्रमोर्वशीयम्

है। षट्साहस्री की कुछ पाण्डुलिपियाँ अलमोडा और काठमांडू मे पाई गई हैं। अलमोडा वाली पाण्डुलिपि पाँचसौ वर्ष से अधिक पुरानी है।

आदि भरत की कुल परम्परा के व्यक्ति भी भरत' कहलाये और आगे चलकर भरत का लाक्षणिक अर्थ भरतोक्त शास्त्र हो गया। आदि-पुराण के अनुसार जगदगुरु भगवान वृषभदेव ने अपने पुत्र भरत चक्रवर्ती को 'ससग्रहभरत' (सग्रहश्लोकयुक्त भरतनाट्यशास्त्र) की शिक्षा दी और शताध्यायात्मक गन्धवशास्त्र की शिक्षा अपने दूसरे पुत्र वृषभसेन को दी।[1]

आदिपुराण के अनुसार गभवती महारानी मरुदेवी के मनोविनोद के लिए सुराङ्गनाएँ गीतगोष्ठियाँ वाद्यगोष्ठियाँ नृत्यगोष्ठिया और प्रेक्षणगोष्ठियाँ करती थी।[2]

---

१ भरतायार्थशास्त्र च **भरत च ससग्रहम्**।
अध्यायैरतिविस्तीर्णै स्फुटीकृत्य जगौ गुरु ॥
विभुवृषभसेनाय गीतवाद्यार्थसग्रहम।
गन्धवशास्त्रमाचख्यौ यत्रा याया परश्शतम ॥

आदिपुराणम षोडश पव पृ० ३५७ श्लोक ११९ १२० भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

२ कदाचित **गीतगोष्ठीभिर्वाद्यगोष्ठीभिरन्यदा**।
कर्हिचि**न्नृत्यगोष्ठीभिर्देव्यस्त**, पर्यपासत ॥
काश्चित्प्रेक्षणगोष्ठीषु सन्नीता नर्तितभ्रुव।
वधमानलयैर्नेटु साङ्गहारा सुराङ्गना।
काश्चिन्नृत्तविनोदेन रेजिरे **कृतरेचका**।
नभोरङ्गे विलोलाङ्ग्य सौदामिन्य इवोद्गुच।
काश्चिदारचितै स्थानैर्बभुर्विक्षिप्तबाहव।
शिक्षमाणा इवानङ्गाद धनुर्वेद जगज्जये ॥
पुष्पाञ्जलि किरत्येका परितो **रङ्गमण्डलम्**।
मदनग्रहमावेशे योक्तुकामेव लक्षिता ॥
तदुरोजसरोजानमुकुलानि चकम्पिरे।
अनुनर्तितुमेतासामिव नृत्त कुतूहलात ॥

आदिपुराण में इन गोष्ठियों का जो सविस्तर वर्णन किया गया है, वह इस तथ्य का साधक है कि 'आदिमभरत' अथवा 'वृद्धभरत' जैन विश्वास के अनुसार भगवान् वृषभदेव की अपेक्षा पूर्ववर्ती हैं, तथा आदिपुराण के रचयिता के द्वारा जो गान्धर्वशास्त्र चर्चा का विषय बना, उसमें सौ अध्याय थे।

नाट्यशास्त्र के वर्तमान षट्साहस्री संस्करण में छत्तीस अध्याय हैं, जिनमे सत्ताईस अध्याय नाट्य-विषयक और अवशिष्ट नौ अध्याय गान्धर्व विषयक हैं। अर्थात् नाट्यशास्त्र का वर्तमान षट्साहस्री सस्करण नाट्य एवं गान्धर्व दोनो का सग्रह है।

अभिनवभारतीकार आचार्य अभिनवगुप्त के एक नास्तिकधुर्य्य (जैन ?) आचार्य का मत था कि नाट्यशास्त्र का षट्साहस्री संस्करण भरतमुनि की कृति नही, अपितु किसी ऐसे व्यक्ति के द्वारा किया हुआ सङ्कलन है, जिसने सदाशिवमत, ब्रह्ममत और भरतमत के ग्रन्थों के खण्ड

अपाङ्गशरसन्धानैर्भ्रूलताचापकर्षणै ।
धनुर्गुणनिकेवासीत् **नृत्तगोष्ठी** मनोभुव ।।
स्मितमुद्भिन्नदन्ताशु **पाठ्यं** कलमनाकुलम् ।
सापाङ्गवीक्षित चक्षु **सलयश्च परिक्रमः** ।।
इतीदमन्यदप्यासा धत्तेऽनङ्गशराङ्गताम् ।
किमङ्ग संगतं भावैराङ्गिकै रसतांगतै ।।
चारिभिः करणैश्चित्रैः साङ्गहारैश्च रेचकैः ।
मनोऽस्या सुरनर्तक्यश्चक्रु सप्रेक्षणोत्सुकम् ।।
काश्चित्सङ्गीतगोष्ठीषु दरोद्भिन्नस्मितैर्मुखैः ।
बभु. पद्मैरिवाब्जिन्यो विरलोद्भिन्नकेसरै ।।
काश्चिदोष्ठाग्रसदष्ट**वेणवो**ऽणुभ्रुवो बभु ।
मदनाग्निमिवाध्मातु कृतयत्ना **सफूत्कृतम्** ।।
वेणुध्मा वैणवी यष्टी **मार्जन्त्यः** करपल्लवै ।
चित्र पल्लविताश्चक्रु प्रेक्षकाणा मनोद्रुमान् ।।
सङ्गीतकविधौ काश्चित् स्पृशन्त्यः **परिवादिनीः** ।
कराङ्गुलीभिरातेनुर्गान**मामन्द्रमूर्च्छना**. ।।
तन्त्र्यो मधुरमारेणुस्तत्कराङ्गुलिताडिता. ।
अयं तान्त्रो गुणः कोऽपि ताडनाद् याति तद्वशम् ।।

लेकर ब्रह्ममत की सारवत्ता का प्रतिपादन करने के लिए प्रस्तुत षट्साहस्री सस्करण बना डाला है।[1]

अस्तु, आदिभरत की प्राचीनतमता सिद्ध है। आचार्य पार्श्वदेव ने नवम अधिकरण में छन्द १०७-११५ को आदिभरत की उक्ति कहा है और नाट्यशास्त्र के अनेक श्लोकों को अनेक स्थलों पर जैसा का तैसा उद्धृत किया है।

४. दत्तिल

नाट्यशास्त्र के वर्तमान संस्करणो में 'दत्तिल' को भी भरतमुनि का पुत्र कहा गया है। अनन्तशयनम् सीरीज नं० २ के रूप में 'दत्तिलम्' नामक एक पुस्तिका छप चुकी है, जो मूलकृति का सक्षिप्त रूपान्तर प्रतीत होती है।

वक्षे सन्दष्टमालोक्य तासा तु दशनच्छदम्।
वीणालाबुभिराश्लेषि घन तत्स्तनमण्डलम्॥
मृदङ्गवादनं काश्चिद् **बभ्रुरुत्क्षिप्तबाहवः**।
तत्कला कौशले श्लाघा कर्तुकामा इवात्मनः॥
मृदङ्गास्तत्करस्पर्शात् तदा **मन्द्रं** विसस्वनु।
तत्कलाकौशल तासामुत्कुर्वाणा इवोच्चकैं॥
मृदङ्गा न वय सत्य पश्यतास्मान् हिरण्मयान्।
इतीवारसित चक्रुस्ते मुहुस्तत्कराहता॥
मुरजा. सुरवा नैते वदनीया कृतश्रमम्।
इतीव सस्वनुर्मन्द्र **पणवाद्या. सुरानका.**॥
प्रभातमङ्गले काश्चित् **शङ्खानाध्मासिषु** पृथून्।
स्वकरोत्पीडन सोढुमक्षमानिव सारवान्॥
काश्चित्**प्राबोधिकैस्तूर्य्यैः सममुत्तालतालकैं।**
जगु कल च मन्द्र च मङ्गलानि सुराङ्गना।

पूर्वोक्त, द्वादश पर्व, पृ० २६७-२६६, श्लोक १८८-२०६

[1] एतेन सदाशिवब्रह्मभरतमतत्रयविवेचनेन ब्रह्ममतसारताप्रतिपादनाय मतत्रयी सारासारविवेचन तद्ग्रन्थप्रक्षेपेण विहितमिद शास्त्रम्। न तु मुनिविरचितमिति यदाहुर्नास्तिकधुर्य्योपाध्यास्तत्प्रत्युक्तम्।

अभिनव-भारती, प्रथम अध्याय, द्वितीय संस्करण, १०६

दत्तिल ने मूर्च्छना के चार भेद पूर्णा, षाडवा, औडुविता और साधारणी माने हैं, 'बृहद्देशी' मे इस दृष्टिकोण का भी उल्लेख है।[1] प्रथम शती ई० के एक शिलालेख में दत्तिल की चर्चा है। नान्यदेव (११ वी शती ई०) तथा आचार्य अभिनवगुप्त ने अनेक स्थानो पर दत्तिल का उल्लेख किया है। 'सङ्गीत-रत्नाकर' के प्रसिद्ध टीकाकार सिहभूपाल ने दत्तिल की कृति की एक टीका 'प्रयोगस्तवक' की चर्चा की है।

५. कोहल

नाट्यशास्त्र के अनुसार 'कोहल' भरतमुनि के सौ पुत्रो में से एक है।[2] नाट्यशास्त्र के ही अनुसार जो ज्ञान भरत मुनि को ब्रह्मा के द्वारा

---

१ कुम्भ ने इस मत को भरत-विरोधी एव असङ्गत बताते हुए इसका खण्डन किया है। सिहभूपाल इसे दत्तिल और मतङ्ग का मत बताते हैं भरत का नही।

अभिनवगुप्त के अनुसार भरत का मत है :—

क्रमयुक्ता स्वरा सप्त मूर्च्छनेत्यभिसज्ञिता ।
षट्पञ्चस्वरकास्ताना षाडवौडुविताश्रया ।
साधारणकृताश्चैव काकलीसमलङकृता ।
अन्तरस्वरसयुक्ता मूर्च्छना ग्रामयोर्द्वयो ॥

अभिनवभारती, २८ वाँ अध्याय, पृष्ठ २५

अर्थात्— क्रमयुक्त सप्त स्वर मूर्च्छना' कहे जात हैं, षाडव और औडुव विधि का आश्रय लेने पर षट्स्वरक एव पञ्चस्वरक रूप 'तान' कहलाते हैं। शुद्ध-स्वरयुक्त मूर्च्छनाओ के अतिरिक्त मूर्च्छनाओ के तीन अन्य भेद साधारणकृत', 'काकलीसमलङ्कृत' तथा अन्तरस्वरसयुक्त' है।

झगड़े का निपटारा करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि षट्स्वर, पञ्च स्वर रूपो को भी 'मूर्च्छना' कहा जा सकता है, क्योकि एक देश के विकृत होने पर भी वे अनन्य (वही) जैसी भासित होती हैं। आचार्य्य अभिनवगुप्त के शब्द हैं —

'कदाचिच्चौडुवे एता इति स्वरलोपे चैकदेशविकृतत्वेऽप्यनन्यतया भासना सैवासौ मूर्च्छना।" वही, पृष्ठ वही

२ "शाण्डिल्य चैव वात्स्य च कोहल दत्तिल तथा।"

ना० शा०, गायक० सीरीज, प्रथम अध्याय, पृ० १८

हुआ, उसे 'उत्तर तन्त्र' अथवा 'प्रस्तारतत्र' के द्वारा कोहल कहेगा।[1] इस उक्ति का तात्पर्य्य यह है कि कोहल ने भरतोक्त सिद्धान्तों के 'प्रस्तार' (सोदाहरण विवेचन) किये। दत्तिलकृत कहे जाने वाले ग्रन्थ 'दत्तिलम्' (पृ० १२, श्लोक १२८) मे भी कोहल का उल्लेख है। मतङ्गकृत 'बृहद्देशी' के श्रुतिस्वर-निर्णय तथा अलकारप्रकरण मे कोहल के मत का उल्लेख किया है। आचार्य्य अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभाग्ती' मे 'नाट्याधिकार' और 'गेयाधिकार' के प्रसङ्ग मे कोहल के अनेक उद्धरण दिये है। लगता है कि नाट्य, नृत्य और गीत सभी पर कोहल ने विचार किया था। कुट्टनीमतम्' के लेखक दामोदरगुप्त (८वी शती ई० का उत्तरार्द्ध) ने भी कोहल का उल्लेख आदरपूर्वक किया है। सङ्गीतरत्नाकर के प्रसिद्ध टीकाकार कल्लिनाथ (पन्द्रहवी शती ई० का पूर्वार्द्ध) के अनुसार कोहल की एक रचना का नाम, सङ्गीतमेरु' है, जो शार्दूल कोहल के सवाद के रूप मे है, जिस का प्रथम भाग 'नाट्य' और दूसरा भाग 'सङ्गीत' से सम्बद्ध है। सम्भव है इसका आधार कोहल की ही कोई प्राचीन कृति हो। मद्रास-मैन्युस्क्रिप्ट-लायब्रेरी मे कोहलीयमभिनयशास्त्रम्' तालकरहस्यम्' और कोहलरहस्यम्' नामक कुछ हस्तलिखित ग्रन्थ है।

आचार्य्य पार्श्वदेव ने कोहल के मत का उल्लेख 'सङ्गीतसमयसार' मे किया है।

६. मतङ्ग

मतङ्ग को मुनि कहा जाता है। आचार्य्य अभिनवगुप्त का कथन है कि भगवान् महेश्वर की आराधना के साथ 'वश' नामक आतोद्य का निर्माण 'वेणु' के द्वारा 'मतङ्ग' इत्यादि मुनियो ने किया।[2] इसका अर्थ यह है कि दशम शती ई० के अन्त मे विद्यमान आचार्य्य अभिनवगुप्त मतङ्ग मुनि को एक पौराणिक व्यक्ति मानते थे।

कालिदास के अनुसार एक मतङ्ग मुनि ने गन्धर्वराजपुत्र प्रियवद

---

१ "शेषमुत्तर (प्रस्तार) तन्त्रेण कोहल कथयिष्यति।"

पूर्वोक्त, सैंतीसवाँ अध्याय, पृ० ५११

२ "वशातोद्यमिति पूर्व भगवन्महेश्वराराधनसाधन मतङ्गमुनिप्रभृतिभिर्वेणुनिर्मित ततो वश इति प्रसिद्धम्।" —अभिनवभारती, तीसवाँ अध्याय, पृ० १२६

को उसके गर्व के कारण शाप दिया और उससे मुक्त होने का उपाय भी बताया था।[१] सम्भव है, यही मतङ्गमुनि वेणुवाद्य के आविष्कर्ता हो। मतङ्ग ने 'भरत' को गुरु कहा है।[२]

'बृहद्देशी' को मतङ्ग की कृति कहा जाता है, जो खण्डित रूप मे उपलब्ध है और के० साम्बशिव शास्त्री द्वारा सम्पादित होकर ट्रावनकोर से प्रकाशित हो चुकी है, इसमे वाद्याध्याय नही है।

'बृहद्देशी' के प्राप्त रूप मे नारद प्रश्नकर्त्ता है और मतङ्ग समाधानकर्ता।[३] बृहद्देशी के उपलब्ध रूप मे काश्यप, नन्दी, कोहल, दत्तिल, दुर्गशक्ति, याष्टिक, वल्लभ, विश्वावसु, शार्दूल, विशाखिल इत्यादि पूर्वाचार्यों की चर्चा है और नन्दिकेश्वर के द्वादश-स्वर मूर्च्छनावाद को रागसिद्धि के लिए आवश्यक माना है।[४]

मतङ्ग सप्ततत्री वीणा 'चित्रा' के वादक थे, इसलिए इन्हे 'चैत्रिक' भी कहा जाता है।[५] रामकृष्ण कवि के अनुसार मतङ्ग किन्नरी वीणा के आविष्कारक है, जो विश्व का आदिम सारिकायुक्त वाद्य है। नाट्यशास्त्र अथवा वाल्मीकि रामायण मे किन्नरी वीणा की चर्चा नही है।

'सङ्गीतराज' मे महाराणा कुम्भ ने किन्नरी वीणा के सम्बन्ध में केवल मतङ्ग के मत का उल्लेख किया है।

---

१ "मतङ्गशापादवलेपमूलादवाप्तवानस्मि मतङ्गजत्वम्।
अवेहि गन्धर्वपतेस्तनूज प्रियवद मा प्रियदर्शनस्य ।।
— रघुवश, सर्ग ५, श्लोक ५३

२ भरत गुरुमाह मतङ्ग। भरत-कोष, सम्पादक रामकृष्ण कवि, पृ० ४५४

३ मतङ्गस्य वचो श्रुत्वा नारदो मुनिरब्रवीत्।
ननु ध्वनेस्तु देशीत्व कथ जात महामुने ।। पूर्वोक्त सस्करण, पृ० १
श्रीमतङ्गमुनि प्राह मुनीनुद्दिश्य तद्यथा। ,, पृ० १४१

४ द्वादशस्वरमूर्च्छनावाद और उसके खण्डन के लिए देखिये 'भरत का सगीत-सिद्धान्त', पृ० ५१-५४

५. 'मतङ्गो वादकस्तस्याश्चैत्रिको नाम चापर।
नान्यदेव, भरतकोष, पृ० ६२८ पर उद्धृत

७. याष्टिक

याष्टिक की रचना 'याष्टिकसहिता' कही जाती है, जो इस युग में उपलब्ध नही है। बृहद्देशी' के० अनुसार भाषा, विभाषा, तथा अन्तरभाषा नाम तीन गीतियो के प्रवक्ता याष्टिक मुनि है।[१] याष्टिक मुनि ने काश्यप (कश्यपगोत्रीय व्यक्तिविशेष) को 'भाषालक्षण' का उपदेश दिया।[२] बृहद्देशी' के चतुर्थ अध्याय को 'सर्वागमसंहिता के अन्तर्गत याष्टिक प्रमुख्य (प्रयुक्त ?) भाषा लक्षणाध्याय' कहा गया है।[३] 'सङ्गीतसुधा' (सत्रहवी शती ई०) के अनुसार याष्टिक 'दक्ष' इत्यादि महापुरुषो के भी उपदेष्टा थे और आञ्जनेय भी देशी रागो के विषय मे याष्टिक मुनि के शिष्य थे।[४]

पार्श्वदेव ने सङ्गीतसमयसार' मे वराटी' का जो जगदेककृत श्लोक उद्धृत किया है, उसमे 'याष्टिक' की चर्चा है।[५]

८. अनिलसुत (आञ्जनेय, हनुमान्)

वाल्मीकि-रामायण के आञ्जनेय हनुमान् ऋग्वेद, एव सामवेद पर पूर्ण अधिकार रखते थे, ये व्याकरण के भी पूर्ण पण्डित थे।[६] तीनो स्थानो मे यथावसर व्यक्त होने वाले इनकी विचित्र वाणी के व्यञ्जन खड्गहस्त शत्रु को भी वशीभूत कर सकते थे।[७]

---

१ भाषा चैव विभाषा च तथा चान्तरभाषिका ।
तिस्रस्तु गीतय प्रोक्ता याष्टिकेन महात्मना ॥"
बृहद्देशी पृ० ८२ श्लोक २८६

२ शृणुष्वावहितो भूत्वा भाषालक्षणमुत्तमम् ।
यत पृथिव्या प्रयत्नेन गीयते गीतवेदिभि ॥' —वही, पृ० १०५

३ सर्वागमसहिताया याष्टिक प्रमुख्य (प्रयुक्त ?) भाषालक्षणाध्याय चतुर्थ ।
—वही, पृ० १३३

४ कदाचिदागात् कदलीववान्तमासेदिवान याष्टिकमाञ्जनेय ।
सङ्गीतविद्योपनिषद्रहस्यमध्यापयन्त घुरिदक्षमुख्यान् ॥
भरतकोष, पृ० ५४३ पर उद्धृत

५ समशेषस्वरा पूर्णा शृङ्गारे याष्टिकोदिता।"
स० स० सार अध्याय ४ श्लोक ८०, पृ० ८१

६ नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिण । नासामवेदविदुष शक्यमेव विभाषितुम् ।
वाल्मीकि-रामायण किष्किन्धाकाण्ड, सर्ग ३, श्लोक ८

७ अनया चित्रया वाचा त्रिस्थानव्यञ्जनस्थया ।
कस्य नाराध्यते चित्तमुद्यतासेररेरपि । वही, काण्ड वही, सर्ग वही, श्लोक ३३

'सङ्गीत-सुधा' के लेखक (१७वी शती ई०) के अनुसार आञ्जनेय देशी रागो में याष्टिक के शिष्य थे[1] और उन्होने याष्टिक के उपदेश के अनुसार तथा यक्षसमूह की गान शैली का भी आश्रय लेकर लक्ष्य के अविरोधी शास्त्र का निर्माण किया।[2]

आञ्जनेय का कथन है कि जिन रागो मे श्रुति, स्वर, ग्राम, जाति इत्यादि का नियम नही होता और विभिन्न देशो की गति की छाया होती है, वे देशी राग होते हैं।[3]

आञ्जनेय के सिद्धान्तो का प्रतिपादक ग्रन्थ 'आञ्जनेयसंहिता', 'हनुमत्सहिता' या 'भरतरत्नाकर' है प्रो० रामकृष्ण कवि के अनुसार 'हनुमन्मत' मे अठारह श्रुतियाँ हैं। यह कहा जाना सम्भव नही कि इन पुस्तको के आधारग्रन्थ या आञ्जनेयकृत मूल ग्रन्थ की कितनी सामग्री पूर्वोक्त पुस्तको मे है। सङ्गीतदर्पणकार दामोदर (१६वी शती ई०) ने स्वय को हनुमन्मत का अनुयायी कहा है।

९. भोज

विद्याव्यसनी प्रसिद्ध धारानरेश महाराज भोज ने महमूद गजनवी के आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिए सङ्घटित एक राजसङ्घ मे सहायता की थी। इनके द्वारा विरचित ग्रन्थो की सख्या चौहत्तर बताई जाती है, उनमे शृङ्गार-प्रकाश' अलङ्कारशास्त्रविषयक है। व्याकरण, काव्यालङ्कार तथा सङ्गीत पर इनके तीन ग्रन्थ कहे जाते है।[4] पार्श्वदेव ने 'सगीतसमयसार' के ठाय-प्रकरण मे महाराज भोज के मत की चर्चा

---

१ कदाचिदागतकदलीवमान्तमासेदिवान् याष्टिकमाञ्जनेय ।
सङगीतविद्योपनिषद्रहस्यमध्यापयन्त धुरिदक्षमुख्यान् ॥

भरत-कोष पृ० ५४३ पर उद्धृत

२ ता याष्टिकोक्तामविरोधरीतिं यक्षौघगीतामपि गानशैलीम ।
आलोच्य बुद्ध्या चिरमाञ्जनेयो लक्ष्याविरुद्ध प्रणिनाय शास्त्रम् ॥

भरत-कोष पृ० ५४३ पर उद्धृत

३ येषा श्रुतिस्वरग्रामजात्यादिनियमो नहि ।
नानादेशगतिच्छाया देशीरागास्तु ते स्मृता ।

सगीतरत्नाकर रागविवेकाध्याय की टीका मे कल्लिनाथ द्वारा उद्धृत

४ भरतकोष पृ० ४४७

सम्मानपूर्वक की है।[1] अतः वह सिद्ध है कि पार्श्वदेव को भोजकृत सङ्गीतविषयक कोई ग्रन्थ प्राप्त रहा होगा।

१०. सोमेश्वर

महाराज सोमेश्वर (राज्य काल ११२७-११३४ ई) पश्चिम चालुक्यचक्रवर्ती महाराज त्रिभुवनमल्ल परमर्दी बिक्रमाङ्कदेव (राज्यकाल १०७६-११२६) के प्रतापी पुत्र थे। महाराज सोमेश्वर ने अपने पिता के यशोगान में विक्रमाङ्काभ्युदय' नामक रचना तो की ही, राजविद्या के एक विश्वकोष 'अभिलषितार्थचिन्तामणि' की रचना भी की, जिसमे पाँच प्रकरण हैं और इन प्रकरणो मे सौ अध्याय है। चोथे प्रकरण में एक हज़ार एक सौ सोलह सङ्गीतविषयक श्लोक है। महाराज सोमेश्वर ने भाषा, विभाषा, क्रियाङ्ग इत्यादि में विभक्त छियानवे देशी रागो का कथन किया है। प्रबन्धो का स्पष्टीकरण उदाहरणो के द्वारा किया है।

महाराज सोमेश्वर को 'भूमल्ल' भी कहा जाता है। ये 'कुण्डलीनृत्त' के आविष्कर्ता और प्रवर्तक हुए है। पश्चादवर्ती आचार्य्यों ने अत्यन्त आदर पूर्वक इनके मत का उल्लेख किया है।[2] हैदराबाद (दक्षिण) के पास 'कल्याण' नामक स्थानक इनकी राजधानी था।

११. जगदेकमल्ल (प्रतापपृथिवीभुक्)

'प्रतापचक्रवर्ती' महाराज जगदेकमल्ल (राज्य-काल ११३४-११४५ ई०) पूर्वोक्त महाराज सोमेश्वर के पुत्र थे। इनके ग्रन्थ का नाम 'सङ्गीत चूडामणि' है, जिसमे इनके पितामह परमर्दी (त्रिभुवनमल्ल) पिता (महाराज सोमेश्वर) पाण्डुसूनु (अर्जुन) एव बृहद्देशी की चर्चा तो है ही, 'प्राकृतच्छन्द' के रचयिता स्वयम्भू भी इस में चर्चा का विषय बने है।

'सङ्गीतचूडामणि' के पाँच अध्यायो मे प्रबन्ध, ताल, राग, वाद्य एवं नृत्य का वर्णन हुआ है। वाद्याध्याय एव नृत्याध्याय असम्पूर्ण रूप में

---

१. भाण्डीकभाषयोद्दिष्टा भोजसोमेश्वरादिभि ।
ठाया· लक्षणत. केचिद् वक्ष्यन्ते लक्ष्यसम्भवा ॥
—सं० स० सार, अध्याय ४, पृ० ४३, श्लोक १

२. भरत का सङ्गीत-सिद्धान्त, पृ० ३००, ३०१, 'भरत-कोष', भूमिका, पृ० ४

प्राप्त हुए हैं।[1] 'सङ्गीतचूडामणि' जिस रूप में प्रकाशित हुआ है, वह अनेक दृष्टियों से खण्डित एवं अपूर्ण है।[2] 'भरत-कोष' के विद्वान् सम्पादक प्रो० रामकृष्ण कवि को जो 'सङ्गीतचूडामणि' की प्रति मिली थी, वह अपेक्षया अधिक पूर्ण थी। 'भरतकोष' में जगदेककृत ऐसे अनेक ऐसे विषय सविस्तर प्राप्त हैं, जो 'सङ्गीतचूडामणि' के प्रकाशित रूप मे उपलब्ध नहीं हैं।[3]

(स्व० महामहोपाध्याय एस्. कुप्पूस्वामी शास्त्रियर, एम्. ए. आई० ई० एस्० 'गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट-लायब्रेरी मद्रास के क्यूरेटर' की सिफारिश पर गवर्नमेण्ट ने स्व० प्रो० रामकृष्ण कवि के निर्देशन में संस्कृत-पण्डितों की एक शोध-समिति बनाई थी, जिन्होंने स्थान स्थान पर घूमकर अनेक बहुमूल्य ग्रन्थ एकत्र किये थे। उनमें से अनेक ग्रन्थों के आधार पर प्रो० कवि ने 'भरतकोष' जैसे ग्रन्थ का सङ्कलन ढाई वर्ष में किया। यह १९५१ ई० में तिरुपति से प्रकाशित हुआ, परन्तु न जाने क्यों कवि महोदय ने 'भरत-कोष' में चर्चित ग्रन्थों का प्राप्ति-स्थान बताने की आवश्यकता नही समझी। भरत-कोष' मे पाठदोष असंख्य है तथापि अनेक शोध-विद्यार्थी इस कोष के ऋणी हैं।)

१. भरत-कोष, पृ० ६९३

२ सङ्गीत-चूडामणि, गायकवाड-सीरीज़, १९५८ ई०

३ देखिये, प्रकाशित 'सङ्गीत-चूडामणि' की संस्कृत-भूमिका।

परिशिष्ट-३

अर्धश्लोकानुक्रमणिका

अ

आ

म

ल

व

स

—

शुद्धि-पत्रम्

शुद्धिपाठ	अशुद्धिपाठः	पृष्ठम्	पंक्ति
सम्यत्कर्मठो	सम्मत्कर्मठो	१	५
श्रीपार्श्वदेव पठितान्	श्रीपार्श्व पठितान्	२	३
नाथाऽग्रेश्वापि	नाथार्ग्रश्चापि	२	३
सम्पादक प्रार्थना	सम्पादक प्रार्थनाप	२	१४
वार्धिलहरी	वाधिलहरी	३	१०
वन्दना	बन्दना	३	१९
किञ्चिदेतद्	किञ्चिदेतद	४	३
ब्रुवे	कथम् (?)	४	१४
स्थानलक्षणम्	स्थानमक्षणम्	५	१
शारीरी वीणा	शरीरी वीणा	५	१९
मूर्च्छितो	मूर्च्छतो	११	१०
चार्य	चार्यं	१२	२
विवक्षितत्वात्	ववक्षितत्वात्	१२	२
व्यञ्जनत्वात्	त्यञ्जनत्वात्	१२	७
व्यञ्जकाना	व्यञ्जकाना	१२	७
समुच्छ्रय	समुच्छ्र	१६	१५
व्याख्याकृता	व्याख्ताकृता	२१	२५
चक्रवर्ती	चक्रवर्ति	२२	१०
शरीरादिध्वनि	शरीराद्विध्वनि	२४	८
मासभेद	मासमेद	२६	१
मतङ्गशब्दा	मतङ्क शब्दा	२६	२७
सिद्ध्यति	सिद्धयति	२७	४
वह्निरुच्यते	वन्हिरुच्यते	२७	१०
क्षणिकांश	क्षाणिकांश	२९	१६
श्लोकार्सिंहभूपालेन	श्लोकार्सिंहभूपालेम	३०	२६
पृथक्	प्रथक्	३१	१९
होती	होती	३३	१५
भङ्गयु	भङ्गयु	४१	३
रामाकार मपस्थाने	राणा कारम्पस्थाने	४३	६
छायान्तरकारणम्	छायात्तरकारणम्	४४	३
प्रहृष्यासौ	प्रहृष्यासो	४५	३

शुद्धिपाठः	अशुद्धिपाठः	पृष्ठम्	पंक्तिः
द्व्यषादय	द्वय्षादय	४६	१५
कस्मिंन्नपि	कस्त्रिपि	४६	१५
द्व्यर्ध	द्वयर्ध	४७	३,५,९,११, १३,१६,२३
द्विगुण	द्विगुण	४८	४
उच्चारोत्ता	उच्चासत्ता	४९	६
बहुप्रकारै	बहुकारै	५१	२
रागेणान्येन केन वा	रागेणान्ये न केनवा	५१	१९
सुतरा	सुतरा	५३	१
गान	गानै	६४	४
तज्ज्ञै	तञ्ज्ञै	६४	६
,,	,,	६७	४
स्यादशाशश्च	स्यादशाशश्च	६८	२
वराट्य	वराटय	७७	१३
छायानाट्टा	छाया नाठ्ठा	७८	१
शृङ्गारे	शृङ्गीर	७८	५
वर्षमोज्भिता	वर्षमोज्भिता	८२	५
स्फुरित	स्फुरित	८२	२२
वीरे	वीरे	८४	८
ऋषभ	ऋषभ	८४	२१
चतुर्थ अध्याय	द्वितीय अध्याय	९१	१
द्विविध	द्विविञ्घ	९२	१
सोऽश	सोऽश	९२	७
सम्यक्त्व	सम्यवत्व	९२	२६
पाठानुसार	पाठानुसार	९४	२८
द्व्यङ्गादि	द्वयङ्गादि	१००	५
द्व्यङ्ग	द्वयङ्ग	१००	१६
पाताविपयुतो	पाताविपतितो	१०१	११
तज्ज्ञै	तञ्ज्ञै	१०२	५
वर्धनानन्दस्तथा	बर्धनानन्दस्तथा	१०२	११
इति झोम्बड सामान्य-लक्षणम्	इति तार जो झोम्बड	११०	१३
तदनन्तर स्यात्	तदनन्तरस्यात्	११२	११

शुद्धिपाठ	अशुद्धिपाठः	पृष्ठम्	पंक्तिः
विलम्बिता	बिलम्बिता	१२३	१८
द्रुतविलम्बा	द्रुतबिलम्बा	१२३	१४
परीक्षणीय	परीक्षणाय	१२६	२३
दशविध	दशबिध	१३३	२८
घातछिन्नाभिधानवान्	घातछिन्भिधानवान्	१३७	१२
पाण्यन्तरनिकुट्टक	पाव्यन्तर निकुट्टक	१४२	२६
विषयपूरणार्थं	विषय पूरणार्थं	१४६	३०
रत्नाकरादुद्धृतानि	रत्नाकरादुद्धातानि	१४६	३०
हस्ताभ्यामुड्डवेनैव	हस्ताभ्या मुड्डवेनैव	१५०	१४
निरवधिक	निवरधिक	१५३	१५
कदलीभेदन विना	कवलीभेदन विना	१५४	२
मलपाङ्ग	मलपाङ्ग	१५६	१२
सदेङ्कृति	स देङ्कृति	१६०	२
भ्रूकर्म	भूकर्म	१६७	१२
मुकुरान्ते	मुकुरन्ति	१७६	१५
ऊर्णनाभ	ऊर्णं	१२६	३२
चतुरस्त्र, उद्वृत्त	चतुररस्रउद्वृत्त	१८२	१५
चतुरस्र	चतुरस्त्र	१८२	२१
प्रसारितौ	प्रसारि तौ	१८४	९
परावृत्त	परावृत्ते	१९३	४
जङ्घोरु	जङ्घोरु	,,	९
नाभिवाङ्घोरु	नाभिबा ङ्घोर	२०१	३
नृत्त	र्न्टत्त	२०३	२
भावशैलर्लि	भावशैललि	,,	९
सदृश	सद्श	२०५	१०
आङ्गिकाभिनयो	अङ्गिकाभिनयो	,,	१२
कथ्यतेऽधुना	कथ्यते ऽधुना	२०६	४
गुण्डलीवाद्यपद्धति	गुण्डलीवाद्य पद्धति	२०८	६
कालस्वष्ट	कालत्वष्ट	२१३	२
सपक्ववेष्टाक	सपक्वेष्टाक	२१९	१०
प्रागल्भ्य	प्रागल्म्य	२३०	१२
रुपेतो	रूपेतो	२३१	९
सुघट	सुघठ	२३४	१
यो	यौ	२३५	१५